ब्रज का इतिहास

प्रथम खण्ड

लेखक तथा सम्पादक

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०, विद्यालंकार

अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा।

अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल

मथुरा

सं० २०११ वि०

प्रकाशक—

अ० भा० ब्रज साहित्य मण्डल,

मथुरा।

प्रथम संस्करण

फाल्गुन, सम्वत् २०११ वि० (१९५५ ई०)

मूल्य—पाँच रुपया।

मुद्रक—

बैजनाथ दानी,

लोक साहित्य प्रेस, मथुरा

'ब्रज का इतिहास' (प्रथम खण्ड) पर कुछ सम्मतियाँ
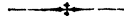
१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, मसूरी —

"ब्रज का इतिहास मिला।............ आपने इसे इतनी अच्छी और ज्ञान-वर्धक सामग्री से भर दिया है, जिसके लिए आप बहुत बधाई के योग्य हैं। इतना रोचक लगा कि मैं उसे एक साँस में पढ़ गया। साथ ही भावुकता में न बहकर आपने ऐतिहासिक के धर्म को निबाहा है, यह भी बड़ी तारीफ़ की बात है।"

—राहुल
हैपी वैली, मसूरी
७-६-५५

२. प्रो० डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष, इतिहास विभाग तथा वाइस चांसलर, सागर विश्वविद्यालय—

"ब्रज का इतिहास हिन्दी-साहित्य की एक बड़ी कमी की पूर्ति करता है। वस्तुतः अंग्रेजी में भी इस प्रकार का कोई ग्रंथ देखने में नहीं आता। प्राप्य सामग्री को परिश्रम के साथ एकत्रित करके आपने उसका उपयोग बड़ी कुशलतापूर्वक किया है।

आपने एक ऐसा ढाँचा बना दिया है कि जिसके ऊपर भविष्य में गवेषणाएँ हो सकेंगी और अन्वेषक अनेक प्रकार की पूर्तियाँ करते रहेंगे। इस शुभ कार्य के लिए आप बधाई के पात्र हैं।"

—रामप्रसाद त्रिपाठी
सागर, १ जुलाई, १९५५

३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशीविश्वविद्यालय—

"ब्रज का इतिहास पुस्तक मिल गई।.......मैंने लगभग इसे संपूर्ण पढ़ लिया। आपने इसमें बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री संकलित की है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।"

—हजारी प्रसाद द्विवेदी
काशी, २७-४-५५

४. डा० धीरेन्द्र वर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय—

"ब्रज का इतिहास मिला। धन्यवाद तथा बधाई। अत्यन्त उपयोगी सामग्री से पूर्ण ग्रंथ है ......।"

—धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग, १२-५-५५

५. बा० गुलाबराय, एम० ए०, आगरा—

"आपकी पुस्तक एक आवश्यक कमी की पूर्ति करती है। भारत में ब्रज एक ऐसी भौगोलिक और सांस्कृतिक इकाई है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। आपने पौराणिक सामग्री, किंवदन्तियों और ऐतिहासिक आधारों का आश्रय लेकर एक क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, जो सर्वथा सराहनीय है।"

—गुलाबराय

आगरा, २७-५-५५

६. श्री अगरचन्द नाहटा, संपादक 'राजस्थान भारती', 'मरु भारती' तथा 'शोध पत्रिका'—

"ग्रंथ बड़े महत्व का है। इसे लिखकर आपने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।"

—अगरचन्द नाहटा

बीकानेर, ५-६-५५

७. संपादकाचार्य पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, सदस्य, लोक सभा, नई दिल्ली—

"ब्रज का इतिहास लिखकर निस्संदेह आपने अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। ब्रज भूमि के प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के लिए इस ग्रंथ का पठन-पाठन अनिवार्यतः आवश्यक है और हमारे स्कूलों तथा कालेजों में—मेरा अभिप्राय ब्रज मण्डल की संस्थाओं से है—यह ग्रन्थ पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत होना चाहिए।......मैं इसे अपने स्वाध्याय के ग्रंथों में रक्खूँगा।"

—बनारसीदास

१६, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली

२६-६-५५

८. श्री हरिशंकर शर्मा, कविरत्न, आगरा—

"इतिहास का यह प्रथम खंड बड़ी खोज और विद्वत्ता एवं गम्भीरता से लिखा गया है। पद-पद पर विद्वान् लेखककी बहुज्ञता और गहरी गवेषणा

के स्पष्ट दर्शन होते हैं। ......हिन्दी में सम्भवतः अपनी शैली का यह प्रथम और महत्वपूर्ण ग्रंथ है।........ब्रज भाषा को सजीव और लोकप्रिय बनाये रखने के लिए इस प्रकार के इतिहास की बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष की बात है कि एक पूर्ण अधिकारी और माननीय विद्वान् लेखक द्वारा उसका पूर्वार्ध जनता के हाथों में आया।......हम इतनी उत्कृष्ट और उपादेय पुस्तक के लिखने के कारण उसके विद्वान् लेखक श्री वाजपेयी जी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं।"

—हरिशंकर शर्मा
आगरा, १६-६-५५

९. 'हिन्दी प्रचारक' बनारस (वर्ष २, अङ्क ५), जून १९५५—

"प्रस्तुत पुस्तक में आदि काल से आज तक का इतिहास प्रामाणिक एवं सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित किया गया है।......यह प्रामाणिक रचना साहित्यकारों, पुस्तकालयों एवं इतिहास-प्रेमियों के लिए निधि है। ऐसी रचना प्रकाशित कर ब्रज-मण्डल ने अनेक जानी-मानी संस्थाओं के लिए भी आज की स्थिति में ठोस कार्य का आदर्श रखा है।"

१०. 'साहित्य सन्देश' आगरा (भाग १६, अङ्क १२)—

"वाजपेयी जी ने इस इतिहास को पौराणिक गाथाओं, किंवदन्तियों, यात्रा-विवरणों और पुरातत्व के आधार पर एक क्रमबद्ध रूप दिया है। प्राचीन और मुगल कालीन ब्रज के मानचित्रों तथा शब्दानुक्रमणिका द्वारा इस पुस्तक की वैज्ञानिकता बढ़ गई है। इसके द्वारा प्राचीन भूगोल और जनपदों का अच्छा ज्ञान हो सकता है।"

११. श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, सम्पादक, 'सैनिक' आगरा—

"पुस्तक बहुत सुन्दर और प्रामाणिक है। वह ब्रज के पूर्ण और प्रामाणिक इतिहास तथा कृष्ण-चरित्र के आधार का काम कर सकती है। आपको हार्दिक बधाई।"

—श्री कृष्णदत्त पालीवाल
आगरा, ८-५-५५

१२. Dr. Suniti Kumar Chatterji, Chairman, Legislative Council, West Bengal—

".........It is a useful compilation of historical facts relating to the Brajmandal area of Madhya Desha, or the Midland, which has got its very great importance in the history of culture and literature in India from the earliest

ages ....I hope it will be well received not only by people who are proud of being iuhabitants of Brajmandal, but also by the entire Hindi reading public."

—Suniti Kumar Chatterji,
15-6-1955.

१३. Dr. R. S. Tripathi, Head of the History Deptt. & Principal, Arts College, Brnaras Hindu University—

"........It is a scholarly workmanked by simplicity of style and methodical marshalling of facts. I have no doubt the book will enhance your reputation as scholar and writer."

-R. S. Tripathi,
M. A., Ph. D. [London]
Banaras Hindu University,
July 18, 1955.

१४. Nagpur Times, dated 19-6-1955.

".........This is the first volume of the authentic history of Braj Bhoomi, i. e. the area comprising of the present Mathura District and its surroundings.........The author, who is a great scholar of history and archaeology, maintains that there is no doubt about the historicity of Krishna.........

"The book is a well-authenticated document of the geography and history of Braj, right from the pre-historic ancient period to the present post-freedom era. The facts given by the author are based on historical & archaeological material as well as from the books and memoirs of foreign travellers and pilgrims—Greek, Chinese aud Muslim. They have been culled in a Scientific manner and speak highly of the erudition and scholarship of the author..........."

१५. Sri B. P. Bagchi, I. C. S., Secretary to Govt. U. P., Education Deptt, Civil Secretariat, Lucknow-

".........I am very thankful to you for the copy of your 'Braj Ka Itihasa'. This seems to be a very commendable publication........."

—B. P. Bagchi,
27-4-1955.

भूमिका

ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा की साहित्यिक योजनाओं के अंतर्गत ब्रज भाषा का कोश, ब्रज भाषा का व्याकरण, ब्रज साहित्य का इतिहास, ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन और ब्रजभूमि का इतिहास—ये पाँच प्रधान योजनाएँ थीं। इन्हें मंडल के कार्यकर्ताओं ने सोत्साह अंगीकार किया और उनके द्वारा कुछ की आंशिक पूर्ति हुई है। शेष की पूर्ति के लिए वे यथाशक्ति प्रयत्नवान् हैं। ब्रज लोक-साहित्य के अध्ययन के संबंध में श्री सत्येन्द्र जी ने उल्लेखनीय कार्य किया है। लोक-साहित्य का प्रामाणिक संग्रह उनके द्वारा 'पोद्दार-अभिनंदन ग्रंथ' में प्रकाशित हो चुका है। ब्रज की लोक-कहानियों का ब्रज भाषा में मौलिक संग्रह सत्येन्द्र जी मंडल द्वारा प्रकाशित करा चुके हैं।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ का स्वागत करते हुए हमें प्रसन्नता होती है। ब्रजभूमि के इतिहास का यह प्रथम खण्ड है, जिसमें लेखक ने राजनैतिक इतिहास की युगानुक्रम से विवेचना की है। इसके दूसरे खण्ड को ब्रज संस्कृति के इतिहास के रूप में वे सम्पन्न करना चाहते हैं, यह और भी हर्ष की बात है।

उत्तरापथ के अनेक जनपदों के बीच में प्राचीन शूरसेन जनपद की भौगोलिक स्थिति कुछ इस प्रकार की थी जैसे वृत्त की परिधि के अन्तर्गत मध्य विन्दु की होती है। कुरु, पञ्चाल, मत्स्य और शाल्वों के महाप्रतापी जनपद उसे चारों ओर से घेरे हुए थे और ऐतिहासिक कशमकश में कभी वे अपना प्रभाव शूरसेन की भूमि पर डालते और कभी स्वयं उससे प्रभावित होते थे। राजनैतिक उतार-चढ़ाव के बीच में पड़ कर भी जनपद अपनी सांस्कृतिक इकाई और बहुत-कुछ राजनैतिक अस्तित्व को भी बनाये रखते थे। प्राचीन भारत के इतिहास में जनपदों के विकास और उत्थान की कहानी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी प्राचीन यूनान देश में छोटे-छोटे क्षेत्रों में सीमित अनेक पौर राज्यों की, जिन्हें 'ग्रीक सिटी स्टेट्स' कहा जाता है। दोनों की भौगोलिक सीमाएँ प्रायः निश्चित होती थीं। दोनों के उत्थान और पतन का युग भी समसामयिक था। उनमें से राजनैतिक दृष्ट्या कुछ एकराज-प्रणाली के अन्तर्गत थे और कुछ संघराज्य प्रणाली के अन्तर्गत। जनता या अभिषिक्त वंश क्षत्रिय

अर्थात् शासक जाति में राजनैतिक चेतना, संगठन, अधिकार, शासन और आत्मरक्षा या जनपदगुप्ति के नियम भी बहुत अंशों में एक-जैसे थे।

जबकि एक ओर यूनानी पौरराज्यों का इतना विस्तृत अध्ययन हुआ है और उस प्रयोग को संसार के राजनैतिक इतिहास में अति महत्वपूर्ण समझा जाता है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय जनपदों के इतिहास, नाम, भौगोलिक स्थिति, उदय, संगठन, शासन, संस्कृति और भाषा आदि के सम्बन्ध में अभी तक कोई भी उल्लेख योग्य अध्ययन नहीं हुआ। यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि पहली बार समस्त देश में जनपदीय राजधानियों में राजनैतिक शासन का संगठन हुआ, जनपदीय जनता में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की चेतना फैली, जन अपनी जातीय भूमियों में प्रतिष्ठित हुए और जनता ने बहुमुखी सांस्कृतिक जीवन के सूत्र का ताना-बाना आरम्भ किया, जिसका उत्तम फल उनके साहित्य, दर्शन, कला, वाणिज्य, कृषि एवं उद्योग-धंधों के रूप में प्रकट हुआ। जनपदों में कुछ स्वभावतः अधिक महत्त्वपूर्ण थे, जो 'महाजनपद' कहलाते थे, और कुछ भौगोलिक विस्तार और महत्व की दृष्टि से सीमित साधन वाले होते थे।

शूरसेन जनपद आरम्भ से ही महाजनपद के रूप में विकसित हुआ। उसके राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास की प्रभावपूर्ण छाप समस्त उत्तर भारत के अथवा देश के इतिहास पर भी पड़ी। इस प्रभाव के तीन व्यापक क्षेत्र हैं—धर्म, कला और भाषा। धर्म के क्षेत्र में शूरसेन जनपद की महती देन समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण है, जिसे एक सूत्र में भागवती दृष्टि भी कह सकते हैं। भगवान् वासुदेव कृष्ण को महाविष्णु का अवतार मान कर और उन्हें मध्य में रखकर उनके साथ अनेक देवी-देवताओं के समन्वय का प्रतिपादन किया गया। शूरसेन जनपद में जो यक्षपूजा, नागपूजा और मातृदेवी की पूजा प्रचलित थी उन तीनों को स्वीकार करते हुए उन्हें विष्णु की ही विभूति कहकर ऊँचे धरातल पर मान्यता प्रदान की गई। गोवर्धन-पूजा के रूप में गिरिमह, इन्द्र-पूजा के रूप में इन्द्रमह और यमुना की पूजा के रूप में नदीमह नामक प्राचीन उत्सव प्रचलित थे। उन तीनों का समन्वय भी भागवत मान्यता के साथ मथुरा में सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार बौद्ध, हिन्दू, जैन—इन तीनों धर्मों की त्रिवेणी भी पारस्परिक विरोध को छोड़कर समन्वय और संप्रीति के साथ शूरसेन जनपद में लगभग एक सहस्र वर्ष तक साथ-साथ प्रवाहित हुई और पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-दूसरे का हितसंवर्धन करती रही। इन्हीं तीनों धर्मों के

अनुसार पल्लवित होने वाली जैन, बौद्ध और ब्राह्मण कलाएँ भी मथुरा-कला के अन्तर्गत पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। उन्होंने जिस सौन्दर्य-लोक की सृष्टि की उसमें एक ओर धर्म की उदात्त साधना हमें मिलती है, दूसरी ओर स्त्री-पुरुषों के सुन्दरतम रूपों की अनुपम अपरिमित सृष्टि। मथुरा के एकनिष्ठ शिल्पियों ने जिस ध्यान की शक्ति से अपने आपको सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी श्री लक्ष्मी के चरणों में समर्पित कर दिया उसके फलस्वरूप मथुरा की शिल्पकला विश्व की महत्त्वपूर्ण कलाओं में आज स्थान पाने योग्य समझी जाती है।

मथुरा में मण्डलीबद्ध रासनृत्य, नारायण-गीत और वंशीवाद्य—इन तीनों की परम्परा भी अति प्राचीन थी, जिन्होंने वहाँ के सांस्कृतिक जीवन को बहुत प्रभावित किया और न केवल प्राचीन काल में किन्तु मध्यकाल में भी जिनके सुन्दर सांस्कृतिक फल देखने को मिले। प्राचीन नारायण-गीतों की परम्पराओं में ही सूरदास के वे अमर पद हैं जिन्हें कोई भी सहृदय व्यक्ति एक बार परिचित होने के बाद कभी भूल नहीं सकता। न केवल कलाओं के क्षेत्र में, बल्कि जीवन-साधन के त्रिविध उपायों का भी शूरसेन जनपद में एक समान महत्त्व था। गोवंश की रक्षा, हलधर बलराम की कृषि और उदीच्य और प्राच्य के बीच में वाणिज्य का अक्षय्य भाण्डागार—ये तीनों मथुरा की जीवन की विशेषताएँ थीं। पाटलिपुत्र, कौशाम्बी और साकेत से आने वाले सार्थवाह मथुरा में मिलते थे और दूसरी ओर कपिशा, तक्षशिला और शाकल से आने वाले उदीच्य सार्थवाह मथुरा में पहुँच कर अपनी वस्तुओं का व्यापारिक आदान-प्रदान करते थे। राजनैतिक धरातल पर भी हम देखते हैं कि उत्तर-पश्चिम से आने वाले विदेशी आक्रान्ता मथुरा तक अभियान करते हुए बढ़ आते और मध्यदेश के इस देहलीद्वार पर पहुँच कर अपने आपको सुप्रतिष्ठित मानते थे। विदेशी यवन, पह्लव और शक—इन तीनों का सांस्कृतिक प्रभाव मथुरा के सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा, जिसके प्रमाण मथुरा की शिल्पकला में विद्यमान हैं। संस्कृति के क्षेत्र में प्राचीन भारतवासी अत्यंत सजग थे। वे नूतन भावों का हार्दिक उमंग से स्वागत करते, किन्तु साथ ही अपनी रचना-शक्ति के विषय में भी आश्वस्त रहते थे। उनके सांस्कृतिक पट का वितान भारतीय है। उस ताने-बाने में कहीं-कहीं बाहर से आई हुई फुलकारी के सूत्र हैं, पर वह सारी रचना कहीं से भी अटपटी नहीं लगती। विदेशी अभिप्राय देशी अलंकरणों के साथ मिलजुल कर एकरूप हो जाते हैं। यूनानियों के मधुपान दृश्य, कैलासवासी कुबेर और उनके यक्षों के मधुपान में बदल दिये गये हैं। ईरानी सूर्यपूजा

भारतीय सूर्यपूजा की परम्परा के साथ मिलकर मथुरा के धर्म और कला को शक्ति प्रदान करती है। स्वयं मथुरा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उस प्रदेश में राजधानी की नागर संस्कृति और राष्ट्र या जनपद की जानपदी संस्कृति—इन दोनों का सुन्दर समन्वय और विकास शूरसेन एवं मथुरा में हुआ। ब्रजवासियों का दूर-दूर ग्रामों में फैला हुआ आमोदमय जीवन आज भी प्रसिद्ध है। किन्तु मथुरा के उस प्रभविष्णु वेश की कहानी जो किसी समय उत्तरापथ में प्रसिद्ध था, जहाँ आचार्य दत्तिल हुए, जहाँ वासवदत्ता-सी जनपद-कल्याणी सुन्दरी ने आचार्य उपगुप्त से जीवन की शिक्षा अन्त समय में ग्रहण की, आज उतनी सुविदित नहीं रही है।

मथुरा सचमुच महापुरी थी। प्राचीन परिभाषा के अनुसार महापुरी उसे कहते थे जो धर्मतीर्थ, अर्थतीर्थ, कामतीर्थ और मोक्षतीर्थ—इन चारों प्रकार के पुरुषार्थों का तीर्थ होती थी। राजनैतिक उत्थान और पतन समाप्त हो जाते हैं, किन्तु महापुरी का जीवन संततवाही रहता है। महापुरी का निर्माण समस्त राष्ट्र की सांस्कृतिक क्षमता का प्रमाण होता है। महापुरी मथुरा की विजयशालिनी कीर्ति चिरजीवी है। उसके इतिहास की रोचक कहानी आह्लाद से भरी हुई और ज्ञानवर्धक है। देश और काल में उसके अपरिमित विस्तार को, धर्मों के गूढ़ पारस्परिक बंधनों को, राजनैतिक हेतुओं को, सांस्कृतिक समृद्धियों को और कलात्मक सृजन की बहुमुखी प्रवृत्तियों को जो प्रत्यक्षदर्शी की भाँति सुलझा सकता है, वह इतिहास का उद्घाटन करने वाला सच्चा ऐतिहासिक है।

काशी विश्वविद्यालय,
फाल्गुन शुक्ल ८,
सं. २०११

—वासुदेवशरण
[प्रो० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल]

❀ विषय-सूची ❀

प्रथम खण्ड

अध्याय ६—मध्यकाल ११८—१३६

[५५० ई० से ११९४ ई० तक]

(ले०—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

अध्याय १३—बृटिश शासन-काल २११—२३३

[१८०३ ई० से १९४७ ई० तक]

(ले०—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

मानचित्रों का विवरण

ब्रज का इतिहास

अध्याय १

भौगोलिक तथा प्राकृतिक

ब्रज—वर्तमान समय में 'ब्रज' शब्द से साधारणतया मथुरा ज़िला और उसके आस-पास का भूभाग समझा जाता है। प्रदेश या जनपद के रूप में 'ब्रज' या 'ब्रज' शब्द अधिक प्राचीन नहीं है। वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग प्राय: पशुओं के समूह, उनके चरने के स्थान (गोचर भूमि) या उनके बाड़े के अर्थ में मिलता है[1]।

रामायण, महाभारत[2] तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य[3] में भी प्राय: इन्हीं अर्थों में व्रज शब्द मिलता है। पुराणों में कहीं-कहीं स्थान के अर्थ में व्रज का प्रयोग आया है, और वह भी संभवत: गोकुल के लिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि जनपद या प्रदेश के अर्थ में व्रज का व्यापक प्रयोग ईस्वी चौदहवीं शती के बाद से प्रारम्भ हुआ। उस समय मथुरा प्रदेश में कृष्ण-भक्ति की एक नई लहर उठी, जिसे जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये यहाँ की शौरसेनी प्राकृत से एक कोमल-कांत भाषा का अविर्भाव हुआ। इसी समय के लगभग मथुरा जनपद की, जिसमें अनेक वन उपवन एवं पशुओं के लिये बड़े व्रज या चरागाह थे, 'व्रज' (भाषा में 'ब्रज') संज्ञा प्रचलित हुई होगी। व्रज प्रदेश में आविर्भूत नई भाषा का नाम भी स्वभावत: 'ब्रजभाषा' रक्खा गया। इस कोमल भाषा के माध्यम द्वारा ब्रज ने उस साहित्य की सृष्टि की जिसने अपने माधुर्य-रस से भारत के एक बड़े भाग को आप्लावित कर दिया।

---

(१) ऋग्वेद २, ३८, ८; ५, ३५, ४; ७, २७, १; ७, ३२, १०; ८, ४६, ६; ८, ५१, ५; १०, ४, २; १०, २६, ३; अथर्ववेद ३, २, ५, ४, ३८, ७; शांखायन आरण्यक २, १६। दे० मैकडानल और कीथ-वेदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृ० ३४०।

(२) महाभारत १, ४०, १७; १, ४१, १५ आदि।

(३) उदाहरणार्थ मनुस्मृति ४, ४, ५ (मेधातिथि की टीका) कौटिल्य—अर्थशास्त्र २, ६, २४ आदि।

शूरसेन या मथुरा जनपद—वर्तमान मथुरा तथा उसके आस-पास का प्रदेश, जिसे ब्रज कहा जाता है; प्राचीन काल में 'शूरसेन' जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी मधुरा या मथुरा नगरी थी। शूरसेन जनपद की सीमाएं समय-समय पर बदलती रहीं। कालांतर में मथुरा नाम से ही यह जनपद विख्यात हुआ। ई० सातवीं शती में जब चीनी यात्री हुएन-सांग यहाँ आया तब उसने लिखा कि मथुरा राज्य का विस्तार ५,००० ली (लगभग ८३३ मील) था। इस वर्णन से पता चलता है कि सातवीं शती में मथुरा राज्य के अन्तर्गत वर्तमान मथुरा-आगरा जिलों के अतिरिक्त आधुनिक भरतपुर तथा धौलपुर जिले और उपरले मध्यभारत का उत्तरी लगभग आधा भाग रहा होगा। दक्षिण-पूर्व में मथुरा राज्य की सीमा जेजाकभुक्ति (जिझौती) की पश्चिमी सीमा से तथा दक्षिण-पश्चिम में मालव राज्य की उत्तरी सीमा से मिलती रही होगी। सातवीं शती के बाद से मथुरा राज्य की सीमाएं घटती गईं। इसका प्रधान कारण समीप के कन्नौज राज्य की उन्नति थी, जिसमें मथुरा तथा अन्य पड़ोसी राज्यों के बड़े भू-भाग सम्मिलित हो गये।

प्राचीन शूरसेन या मथुरा जनपद का प्रारम्भ में जितना विस्तार था उसमें हुएन-सांग के समय तक क्या हेर-फेर होते गये, इसके संबंध में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि हमें प्राचीन साहित्य आदि में ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनके आधार पर विभिन्न कालों में इस जनपद की लम्बाई-चौड़ाई का ठीक पता लग सके। प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से जो कुछ पता चलता है वह यह कि शूरसेन या मथुरा प्रदेश के उत्तर में कुरुदेश (आधुनिक दिल्ली और उसके आस-पास का प्रदेश) था, जिसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर थीं। दक्षिण में चेदि राज्य (आधुनिक बुंदेलखंड तथा उसके समीप का कुछ भाग) था, जिसकी राजधानी का नाम था सूक्तिमती नगर। पूर्व में पंचाल राज्य (आधुनिक रुहेलखंड) था, जो दो भागों में बँटा हुआ था—उत्तर पंचाल तथा दक्षिण पंचाल। उत्तर वाले राज्य की राजधानी अहिच्छत्रा (बरेली ज़िले में वर्तमान रामनगर) और दक्षिण वाले की कांपिल्य (आधुनिक कंपिल, ज़ि० फ़रुखाबाद) थी। शूरसेन के पश्चिम वाला जनपद मत्स्य (आधुनिक अलवर रियासत तथा जयपुर का पूर्वी भाग) था। इसकी राजधानी विराट नगर (आधुनिक वैराट, जयपुर में) थी।

ब्रजमंडल—आधुनिक ब्रज के संबंध में मंडलाकृति या गोल आकार का होने की बात कही जाती है; परन्तु न तो ब्रजभाषा-भाषी प्रदेश की सीमाओं

की दृष्टि से वर्तमान ब्रज का आकार ठीक गोल है और न प्रचलित चौरासी कोस वाली बड़ी वन-यात्रा की दृष्टि से। यह बन - यात्रा आजकल जिस रूप में चलती है उसमें अब पहले से कोई बड़ा परिवर्तन हुआ नहीं प्रतीत होता। यह कहा जा सकता है कि पिछले काल में (सम्भवतः चौदहवीं से सोलहवीं शती के बीच) कभी ब्रज का आकार गोल रहा हो, और तभी उसे ब्रजमंडल की संज्ञा दी गई हो। 'मंडल' से गोल का अर्थ न लेकर प्रदेश का भी लिया जा सकता है। श्री नारायण भट्ट द्वारा १५६० ई० के लगभग रचित 'ब्रजभक्ति-विलास' नामक ग्रन्थ के एक श्लोक के आधार पर तत्कालीन ब्रज की सीमा इस प्रकार मानी जाती है—पूर्व में हास्य वन (अलीगढ़ ज़िले का बरहद गाँव), पश्चिम में उपहार वन (गुड़गाँव ज़िले में सोन नदी के किनारे तक), दक्षिण में जह्नु वन (बटेश्वर गाँव, जिला आगरा) तथा उत्तर में भुवन वन (भूषण वन, शेरगढ़ परगना)। इस श्लोक[४] के अभिप्राय को अनुलिखित दोहे से प्रकट किया गया है—

"इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन को गाम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मंडल धाम॥"

वर्तमान काल में ब्रजभाषा का विस्तार उपर्युक्त सीमाओं को लाँघ कर बहुत-कुछ आगे बढ़ गया है। लिंग्विस्टिक सर्वे तथा इस संबंध में अन्य अन्वेषणों के आधार पर वर्तमान ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्र निम्नलिखित माना जा सकता है—

मथुरा जिला, राजस्थान का भरतपुर जिला तथा करौली का उत्तरी अंश, जो भरतपुर एवं धौलपुर की सीमाओं से मिला जुला है, धौलपुर जिला कुल, मध्यभारत में मुरेना तथा भिंड ज़िले और गिर्द-ग्वालियर का लगभग

---

(४) "पूर्वे हास्यवनं नीय पश्चिमस्योपहारिकं।
दक्षिणे जह्नु संज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे॥"

उक्त श्लोक में आये हुए स्थानों की पहचान के लिए देखिए ग्राउज़-मेम्वायर (द्वितीय सं०), पृ० ८४।

पुराणों में मथुरा मंडल का विस्तार २० योजन कहा गया है। यथा—"विंशतिर्योजनानां च माथुरं मम मंडलं।
यत्र यत्र नरः स्नातो मुच्यते सर्वपातकैः॥"
(वराह पुराण, मथुरा माहात्म्य)

सूरदास जी ने भी चौरासी कोस वाले ब्रज का उल्लेख किया है—
"चौरासी ब्रज कोस निरंतर खेलत हैं बलमोहन।" आदि

२६° अक्षांश से ऊपर का उत्तरी भाग (यहाँ की ब्रज बोली में बुंदेली की झलक है), आगरा ज़िला कुल, इटावा जिले का पश्चिमी टुकड़ा (लगभग इटावा शहर की सीध देशां० ७६° तक), मैनपुरी जिला तथा एटा जिला (पूर्व के कुछ अंशों को छोड़कर, जो फ़र्रुखाबाद जिले की सीमा से मिले-जुले हैं), अलीगढ़ जिला (उत्तर पूर्व में गंगा नदी की सीमा तक), बुलंदशहर जिले का दक्षिणी लगभग आधा भाग (पूर्व में अनूपशहर की सीध से लेकर),गुड़गाँव जिले का दक्षिणी अंश (पलवल की सीध से) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग, जो गुड़गाँव जिले की दक्षिणी तथा भरतपुर की पश्चिमी सीमा से मिला-जुला है।

मथुरा—ब्रज का केंद्र मथुरा है । वर्तमान मथुरा जिले के उत्तर में गुड़गाँव और अलीगढ़ जिला के भाग हैं। पूर्व में अलीगढ़ और एटा, दक्षिण में आगरा तथा पश्चिम में भरतपुर और गुड़गाँव का कुछ भाग है। मथुरा जिला का क्षेत्रफल लगभग १४४५ वर्ग मील है। इसमें चार तहसीलें हैं— (१) मथुरा, (२) मांट, (३) छाता, (४) सादाबाद । मथुरा तहसील में २३० गाँव हैं, मांट में २६८, छाता में १७६ तथा सादाबाद में २२६ गाँव हैं। १६५१ की जनगणना के अनुसार मथुरा जिले की कुल जनसंख्या ६,१२,२६४ और मथुरा शहर की १,८४,६७२ है। १६४१ की जनगणना के अनुसार मथुरा जिले की कुल आबादी ८,११,२५१ थी।

नदियाँ—मथुरा जिले की मुख्य नदी यमुना[५] है। यह नदी उत्तर में मथुरा जिले के चौंदरा गाँव से आरम्भ होती है। वहाँ से लगभग १०० मील तक टेढ़े-मेढ़े रूप में बहकर सादाबाद तहसील के मंदौर गाँव में इस जिले को छोड़ती है। यमुना नदी के बाईं ओर मांट तथा सादाबाद तहसीलें

---

(५) प्राचीन साहित्य में कलिंदजा, सूर्यतनया, त्रियामा आदि अनेक नामों से यमुना का उल्लेख मिलता है। दे० ऋग्वेद १०, ७५; अथर्व० ४, ६, १०; शतपथ ब्राह्मण १३,५,४,११; ऐतरेय ब्राह्मण ८, १३; तांड्य ब्राह्मण ६, ४, १०; जैमिनीय ब्रा० ३,२३, आदि। पुराणों, रामायण, महाभारत तथा परवर्ती संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में तो यमुना का बहुत वर्णन मिलता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यमुना पहले सरस्वती नदी में मिलती थी। प्रागैतिहासिक काल में सरस्वती के सूख जाने पर यमुना गंगा में मिली (दे० जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १८६३, पृ० ४६ और आगे)

पड़ती हैं और दाहिनी ओर मथुरा तथा छाता की तहसीलें। पूर्व में यह नदी मथुरा और आगरा जिलों की सीमा बनाती है। यमुना के तट पर अनेक बड़े नगर हैं। शेरगढ़, वृन्दावन, मथुरा और फरह दाएँ किनारे पर तथा मांट, महावन और गोकुल बांए तट पर स्थित हैं।

प्रारम्भ में यमुना नदी निचले और बलुए किनारों के बीच से बहती है, पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती है, मजबूत चट्टानें उसके मार्ग में आ जाती हैं। ये चट्टानें पथरीली तथा बलुई दोनों प्रकार की मिलती हैं। नदी के मार्ग में इन चट्टानों के कारण धारा के रुख में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। मथुरा जिले में प्रवेश करने के बाद नदी की धारा दक्षिण-वाहिनी है। मांट के समीप आने पर वह अधिक टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती है। मथुरा शहर के दूसरे छोर पर पहुँच कर बहाव पूर्वाभिमुख होने लगता है। महावन के आगे यह रुख अधिक स्पष्ट हो जाता है। झंडीपुर गाँव तक पहुँचने के अनन्तर नदी पूर्वोत्तर की ओर बहने लगती है, पर खंदेरा नामक गाँव में पहुँचने पर फिर दक्षिण की ओर। लहरौला गाँव से बहाव पुनः पूर्व की ओर दिखाई पड़ता है, पर जुगसना पहुँचते - पहुँचते वह फिर दक्षिण को हो जाता है और सर्पाकृति में कई मील तक चला जाता है तथा आगरा जिले में भी जारी रहता है। यमुना की धारा के बदलते रहने से बहुत सी जमीन कटरी बन गई है। महावन के दक्षिण में नदी की घाटी पतली हो जाती है और जमीन उतनी उपजाऊ नहीं रहती जितनी कि उत्तरी भाग की। मांट तहसील में मोती झील तथा सादाबाद तहसील में पानीगाँव झील इस बात को सूचित करती हैं कि प्राचीन काल में यमुना की धारा उधर बहती थी। इसी प्रकार मथुरा शहर से पाँच मील दूर कोइला नामक झील है। अन्य अनेक छोटी-मोटी झीलें ब्रज में हैं, जिनकी प्राकृतिक छटा दर्शनीय है।

मथुरा जिले में यमुना की दो सहायक नदियाँ हैं—एक पथवाह और दूसरी करबन। ये नदियाँ कहीं - कहीं काफ़ी गहरी हैं और वर्षा ऋतु में भरी रहती हैं। पथवाह नदी अलीगढ़ जिले से निकल कर मांट के उत्तर से गुजरती हुई यमुना में मिलती है। इसकी धार सँकड़ी है। हाल में इस नदी से सिंचाई का काम लिया जाने लगा है। करबन नदी मथुरा जिले में दक्षिण-पूर्व की ओर बहती है और सादाबाद तहसील से गुजरती हुई आगरा जिले में पहुँचती है। इस नदी से भी अब सिंचाई का काम लिया जाता है।

पहाड़—मथुरा जिले के उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम में अनेक पहाड़ियाँ हैं। उत्तर-पश्चिम की पहाड़ियाँ अरवली पर्वत की शृंखलाएँ हैं,

जो कामबन और उसके आगे तक फैली हुई हैं। मुख्य पहाड़ी 'चरन पहाड़ी' कहलाती है। यह लगभग ४०० गज लंबी है। इससे ६ मील दक्षिण-पश्चिम में नन्दगाँव की पहाड़ी है। यह लगभग आध मील लंबी है। इसके उच्च शिखर पर नन्दराय का मन्दिर है। एक छोटी पहाड़ी ऊँचागाँव में भी है, जो लगभग २०० फुट ऊँची है और नहरा गाँव तक फैली है। रनकौली गाँव के पास की दूसरी पहाड़ी पर धौ के पेड़ों की अधिकता है। उक्त पहाड़ियाँ मथुरा की छाता तहसील तथा भरतपुर में हैं।

मथुरा तहसील में प्रसिद्ध गोवर्धन पर्वत है, जिसे 'गिरिराज' कहते हैं। यह मथुरा नगर से लगभग १३ मील पश्चिम है और दक्षिण-पूर्व की दिशा में फैला है। इसकी लम्बाई क़रीब ५ मील है और ऊँचाई १०० फुट तक जाती है। इस पर्वत के अगल-बगल गोवर्धन, जतीपुरा, आन्यौर, पूंछरी आदि स्थान बसे हैं। गोवर्धन पहाड़ पर छोंकर, धौं, बन्ना आदि पेड़ बहुलता से मिलते हैं। यह पहाड़ बहुत पवित्र माना जाता है और इसकी परिक्रमा लोग बड़ी संख्या में लगाते हैं। मथुरा तहसील में एक दूसरी छोटी पहाड़ी गोपालपुर में भी है।

भूमि—ब्रज प्रदेश की भूमि उन भागों को छोड़कर जहाँ पहाड़, जंगल या टीले नहीं हैं अन्य मैदानी हिस्सों के समान ही है। समुद्र-तट से यहाँ की ऊँचाई प्रायः ५५० और ६५० फुट के बीच में है। कोटवन के समीप का भाग लगभग ६१२ फुट ऊँचा है। सहार ६०० फुट, अड़ींग ५९४ फुट, राया ५८५ फुट बलदेव ५७४ फुट तथा सादाबाद ५६४ फुट है। जो भाग यमुना के किनारे हैं उसका ढाल नदी की ओर है।

मिट्टी की दृष्टि से यह प्रदेश दो भागों में बाँटा जाता है—बंजर और खादर। अब से लगभग पचास साल पहले बंजर जमीन कुल जमीन का ७ प्रतिशत थी। पर धीरे-धीरे इसमें से बहुत सी भूमि कृषि के योग्य बना ली गई है। बंजर की मिट्टी प्रायः वैसी ही है जैसी दोआब के अन्य भागों में मिलती है। ब्रज में भूड़ मिट्टी की अधिकता है। दूमट यहाँ कम मिलती है और वह भी अधिकतर मांट, सादाबाद तथा छाता के ऊपरी भागों में। यमुना के कछार में मिट्टी कंकड़ों से मिली पाई जाती है। नोहझील तथा कुछ अन्य स्थानों में, जहाँ पानी बराबर भरा रहता है, चिकनौट या चिकनी मिट्टी भी मिलती है।

उपज—यहाँ की दो मुख्य फ़सलें ख़रीफ और रबी हैं। ख़रीफ में ज्वार, बाजरा और कपास की खेती प्रधान है। मक्का, मोंठ और ग्वार भी बोया जाता है। इनके अतिरिक्त उर्द, मूंग, तिल, सन और चावल भी

पैदा किया जाता है,पर कम परिमाण में । गन्ना भी कम पैदा होता है । रबी की फसल में गेहूँ और चना मुख्य हैं । मटर, मसूड़, आलू, गाजर, सरसों, अलसी आदि की भी उपज कई भागों में होती है । कुछ जमीन में तंबाकू भी बोई जाती है । इन दो फ़सलों के अलावा जैत की भी फ़सल होती है, जिसमें विशेषत: तरकारी, खरबूजे सावाँ आदि पैदा किये जाते हैं ।

मथुरा जिले में वर्षा अच्छी होती है । नहरों का भी अब अच्छा प्रबंध है । १८७४ ई० में १४० मील लंबी आगरा नहर निकाली गई थी, जिससे सिंचाई में काफ़ी सुविधा हुई । उसके बाद अन्य नहरों का निर्माण हुआ । नहरों के अतिरिक्त कुओं से भी सिंचाई होती है ।

जंगल—ब्रज प्रदेश अपने वनों के लिये प्रसिद्ध है । प्राचीन काल में यहाँ अनेक बड़े वन थे, जिनके नाम प्राचीन साहित्य में मिलते हैं । इन उल्लेखों के अनुसार ब्रज में बारह वन और अनेक उपवन थे । मुग़लों के समय में भी ब्रज के वन प्रसिद्ध थे और यहाँ जंगली जानवरों के शिकार के लिये लोग आते थे । वर्तमान समय में बड़े वन तो नहीं रहे, पर उनकी स्मृति के रूप में अब भी महावन, कामवन, कुमुदवन, वृन्दावन, बहुलावन आदि विद्यमान हैं । प्राचीन ब्रज में कदंब, अशोक, चंपा, नागकेशर आदि के वृक्ष बहुत होते थे । जो प्राचीन कलावशेष ब्रज के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं उनमें इन वृक्षों के चित्रण मिलते हैं । वर्तमान ब्रज में कदंब, करील, पीलू, सीसम आदि वृक्ष अधिकता से मिलते हैं । इनके अतिरिक्त इमली, नीम, जामुन, खिरनी, सिरस, पीपल, बरगद, छोंकर, ढाक, बेल, बबूल, आदि वृक्ष भी ब्रज के विभिन्न भागों में उपलब्ध हैं । इधर शासन तथा जनता का ध्यान ब्रज की प्राचीन वनस्थलियों के पुनरुद्धार की ओर गया है और आशा है कि पुराने वृक्षों की न केवल रक्षा की जायगी अपितु नये पेड़ भी लगाये जायँगे, जिससे पश्चिम की ओर से बढ़ते हुए रेगिस्तान के वेग को रोका जा सके और ब्रज प्रदेश के सौंदर्य को बढ़ाया जा सके ।

खनिज—भूस्तरवेत्ताओं का अनुमान है कि यमुना प्रदेश की रचना अबसे लगभग २५,००० वर्ष पहले पूरी हो चुकी थी । जनरल कनिंघम को पिछली शताब्दी में मथुरा के चौबारा टीले से ताम्रयुग की अनेक वस्तुएं प्राप्त हुईं, जिनके आधार पर यह माना गया कि ताम्रयुग में मथुरा प्रदेश बस गया था । प्राचीन काल में इस भूभाग में अनेक धातु पदार्थ मिलते थे । चीनी यात्री हुएन-सांग ने लिखा है कि मथुरा में पीत स्वर्ण मिलता था । वर्तमान काल में यहाँ खनिज के रूप में सोना मिलने के प्रमाण नहीं मिलते । सबसे

अधिक जो वस्तु इधर मिलती है वह चित्तीदार बलुआ पत्थर है। यह हलके और गहरे दोनों प्रकार के लाल रंग का होता है। भरतपुर में रूपबास की खानें प्रसिद्ध हैं। आगरा में भी अनेक स्थानों में यह पत्थर मिलता है। प्राचीन काल की इमारतों और मूर्तियों में इसका बहुलता से प्रयोग होता था और आजकल भी वह इमारतों में प्रयुक्त होता है। बरसाना-नंदगांव के पास मट-मैला बलुआ पत्थर भी उपलब्ध होता है। कंकड़ भी ब्रज में अनेक स्थानों में मिलता है और कई प्रकार का होता है।

पशु-पक्षी—ब्रज बहुत प्राचीन काल से अपने पशुओं के लिये प्रसिद्ध रहा है। नन्द-उपनन्द आदि गोपालों के यहाँ बड़ी संख्या में गायें रहती थी श्रीकृष्ण का गो-प्रेम विख्यात है। पौराणिक साहित्य से पता चलता है कि प्राचीन काल में ब्रज में घी-दूध का बाहुल्य था। वर्तमान ब्रज की दशा पहले-जैसी नहीं रही। अब गोधन का बड़ा ह्रास होगया है, जिसका प्रधान कारण गोचर भूमि की कमी है। वर्तमान ब्रज में गाय बैलों के अतिरिक्त अन्य पालतू जानवर-भैंस, भेड़, बकरी, खच्चर, घोड़ा, हाथी आदि-मिलते हैं। ब्रज में पक्षी भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। महाकवि कालिदास ने गोवर्धन का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ वर्षाकाल में मयूरों के नृत्य हुआ करते थे। अब भी ब्रज में मोरकुटी, मोर मन्दिर आदि नाम इस बात के स्मारक हैं कि ब्रज में मयूर पक्षी का कितना महत्त्व था। अन्य पक्षी कोयल, गौरैया अबाबील, कठफोर, ठठेरा, तोता, नीलकंठ, कौआ, चरखी आदि हैं, जो दोआब के प्राय: अन्य भागों में भी दिखाई पड़ते हैं।

यातायात—वर्तमान ब्रज में यातायात की दशा में काफी उन्नति होगई है। रेलों के अतिरिक्त यहाँ अनेक पक्की सड़कें हैं। मुख्य सड़क दिल्ली से आगरा जाने वाली है, जो मथुरा होकर गुजरती है। मुग़ल काल में यह सड़क आगरा और लाहौर की राजधानियों को सम्बन्धित करती थी। इस सड़क पर लगभग तीन-तीन मील की दूरी पर बनी हुई मुगलकालीन कोस मीनारें अब भी देखी जा सकती हैं। जहाँगीर ने इस सड़क के किनारे वृक्ष लगवाये थे। मुगल काल में इस मार्ग से जाने वाले अनेक युरोपीय यात्रियों ने इसका वर्णन किया है। इस सड़क के अलावा अन्य कई पक्की सड़कें ब्रज के मुख्य स्थानों को एक दूसरे से मिलाती हैं। यमुना नदी भी यातायात का साधन है और इस कार्य के लिये इसका उपयोग वर्ष के कई महीनों में होता है।

अध्याय २

ब्रज के इतिहास की सामग्री

ब्रज का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने के लिये जो सामग्री उपलब्ध है उसे हम मुख्य तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. साहित्यिक सामग्री, २. पुरातत्वीय अवशेष और ३. विदेशी यात्रियों के वृत्तांत। इस सामग्री का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है—

१. साहित्यिक सामग्री—मौर्य काल से पूर्व के ब्रज के इतिहास के लिये हमें मुख्यतया प्राचीन साहित्यिक विवरणों पर निर्भर रहना पड़ता है। प्राचीन वैदिक साहित्य में मथुरा या शूरसेन जनपद के उल्लेख नहीं मिलते, परंतु परवर्ती वैदिक साहित्य—जैसे शतपथ ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, छांदोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद्-में प्राचीन राजवंशावलियों एवं गुरु-शिष्य परंपरा संबंधी जो वर्णन मिलते हैं उनसे ब्रज के प्राचीनतम इतिहास पर यत्किंचित् प्रकाश पड़ता है। इसके बाद आने पर वाल्मीकि-रामायण एवं महाभारत में हमें सूर्य एवं चंद्रवंशी शासकों के संबंध में अधिक विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं। इन ग्रंथों में शूरसेन जनपद एवं मथुरा का उल्लेख कई स्थानों में मिलता है। अयोध्या के सूर्यवंशी क्षत्रियों का यहाँ अधिकार तथा कालांतर में यदुवंशियों का आधिपत्य रामायण में विस्तार से कथित है। महाभारत में श्रीकृष्ण का चरित तथा महाभारत युद्ध का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ से शूरसेन जनपद की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है।

ब्रज के संबंध में सबसे अधिक वर्णन पुराणों में मिलते हैं। ये पुराण विभिन्न समयों में संगृहीत किये गये। इनमें प्राचीनतम अनुश्रुतियों से लेकर मध्यकाल तक की घटनाएँ गुंफित हैं। जिन पुराणों में ब्रज के उल्लेख अधिक मिलते हैं वे हरिवंश, विष्णु, मत्स्य, भागवत, वराह, पद्म तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण हैं। इन ग्रन्थों में न केवल ब्रज के भौगोलिक एवं प्राकृतिक वर्णन मिलते हैं, अपितु प्राचीन वंशावलियाँ, युद्ध, धर्म, दर्शन, कला तथा सामाजिक जीवन संबंधी विस्तृत चर्चा मिलती है। ब्रज के संबंध में हरिवंश तथा भागवत का विशेष धार्मिक महत्त्व है। भागवत पुराण में श्रीकृष्ण का चरित बहुत विस्तार से वर्णित है। जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्यों का संबंध है, सभी पुराण सब बातों में एकमत नहीं। कहीं किसी घटना को बहुत

घटा-बढ़ाकर दिखाया गया है तो कहीं एक-जैसे भौगोलिक या वैयक्तिक नामों के संबंध में भ्रम पैदा कर दिया गया है। इन बातों के कारण कुछ विद्वान् पुराणों को ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय मानते हैं। परन्तु यदि हम पुराणों की इस विस्तृत सामग्री की तुलनात्मक ऊहापोह करें और विभिन्न घटनाओं की नीरक्षीर विवेकी समीक्षा करें तो पुराणों से इतिहास के निस्सन्देह बहु-मूल्य उपादान प्राप्त हो सकेंगे। कम से कम ब्रज के प्राचीन इतिहास के लिये पौराणिक साहित्य का अध्ययन नितांत आवश्यक है।

उक्त साहित्य के अतिरिक्त परवर्ती संस्कृत साहित्य में ब्रज प्रदेश संबंधी उल्लेख प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। इस साहित्य में मनुस्मृति आदि स्मृति ग्रन्थ, काव्य, नाटक, चंपू, आख्यायिका आदि आते हैं। संस्कृत के बहुसंख्यक साहित्यकारों ने श्रीकृष्ण-चरित पर विविध रचनाएं की हैं। महा-कवि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन आदि का उल्लेख किया है। उनके बाद के लेखकों की रचनाओं में ब्रज के भौगोलिक एवं धार्मिक वर्णन अधिकता से मिलते हैं।

न केवल वैदिक साहित्य में अपितु बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी ब्रज संबन्धी विविध उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत घट जातक में वासुदेव कन्ह और कंस की कथा है। बौद्ध अवदान साहित्य में दिव्यावदान मुख्य है। इस ग्रंथ में मथुरा में भगवान् बुद्ध का आगमन तथा शिष्यों के साथ उनका विविध विषयों पर विचार-विमर्श वर्णित है। इसके अतिरिक्त ललित विस्तर, मज्झिमनिकाय, महावत्थु, पेतवत्थु, विमानवत्थु, अट्ठकथा आदि ग्रंथों एवं उनकी टीकाओं में जो विविध उल्लेख मिलते हैं उनसे मथुरा की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है।

जैन ग्रंथों में भी मथुरा के संबंध में वर्णन मिलते हैं। ये ग्रंथ प्रायः प्राकृत और अपभ्रंश में हैं। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व मथुरा जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन चुका था और वहाँ स्तूपों एवं विहारों का निर्माण हो चुका था। अनेक जैन ग्रंथों में मथुरा एवं उसके आसपास जैन धर्म के प्रसार का वर्णन मिलता है। इनमें सूत्र ग्रंथ—जैसे कल्पसूत्र, रायपसेनिय सूत्र, समवायांग तथा उत्तराध्ययन सूत्र—विशेष महत्व के हैं। इनके अतिरिक्त जैन पुराणों, वसुदेवहिंडि, बृहत्कथाकोश आदि ग्रंथों में भी ऐसी बहुविध सामग्री है जो ब्रज के इतिहास के लिये उपयोगी है।

उपर्युक्त संस्कृत, पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के अतिरिक्त

भारत की आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं में भी ब्रज के सम्बन्ध में विविध वर्णन मिलते हैं। इनमें ब्रजभाषा-साहित्य प्रमुख है। एक दीर्घ काल तक ब्रजभाषा उत्तर एवं मध्य-भारत की राष्ट्रभाषा रही और उसमें विविध विषयों पर अपार साहित्य की सृष्टि की गई। इसमें कृष्ण संबंधी साहित्य की प्रधानता है। मुस्लिम शासन काल में ब्रज के लोक-जीवन की बहुमुखी अभिव्यक्ति ब्रजभाषा साहित्य में मिलती है। इस साहित्य के अतिरिक्त हिंदी की अन्य प्रादेशिक भाषाओं एवं बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओं में भी ब्रज और उसकी मुख्य विभूति कृष्ण के विषय में अनेक प्रकार की रचनाएं मिलती हैं।

२. पुरातत्त्वीय अवशेष–इतिहास के लिये पुरातत्त्व संबंधी सामग्री का विशेष महत्व है। यह सामग्री प्राचीन मूर्तियों, चित्रों अभिलेखों, सिक्कों तथा इमारतों वस्तुओं आदि के रूप में होती है। ब्रज प्रदेश में ई० पू० चौथी शती से लेकर ई० बारहवीं शती तक के जो अवशेष मिले हैं उनसे मौर्य, शुंग, कुषाण, नाग, गुप्त, गुर्जर प्रतीहार तथा गाहड़वाल शासन के समय का ब्रज का इतिहास जानने में सहायता मिली है। मथुरा और उसके आसपास से अब तक कई सौ प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हो चुके हैं, जिनसे न केवल विविध कालों की राजनीतिक अवस्था का पता चला है, बल्कि तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर भी बहुत प्रकाश पड़ा है।

मथुरा की एक विशेष मूर्तिकला थी, जिसका विकास लगभग सोलह सौ वर्षों तक होता रहा। इस कला का विस्तार न केवल ब्रज-प्रदेश तक सीमित रहा अपितु पूर्व एवं दक्षिण तक फैला। मथुरा–कला की कृतियाँ बड़ी संख्या में ब्रज-प्रदेश से बाहर भी मिली हैं। अब तक मथुरा में चित्तीदार लाल पत्थर की कई हज़ार मूर्तियाँ, स्तंभ, शिलापट्ट, सिरदल आदि मिल चुके हैं। इनके देखने से पता चलता है कि प्राचीन ब्रज में हिंदू, बौद्ध एवं जैन धर्म कई शताब्दियों तक साथ-साथ विकसित होते रहे। इन अवशेषों के द्वारा प्राचीन स्थापत्य की भी जानकारी हो सकी है और हम यह जानने में समर्थ हुए हैं कि प्राचीन ब्रज में किस प्रकार के मंदिर, विहार, स्तूप, महल, मकान आदि होते थे।

ब्रज में बड़ी संख्या में मिट्टी की मूर्तियाँ और खिलौने भी मिले हैं। पाषाण-मूर्तियों की तरह इन मूर्तियों से भी प्राचीन रहन-सहन, रीति-रिवाज,

वेष-भूषा और आमोद-प्रमोद पर प्रकाश पड़ता है। मिट्टी के अनेक प्रकार के बर्तन भी मिले हैं। इनमें से अनेक तो वैसे ही हैं जिनका प्रयोग वर्तमान ब्रज में मिलता है।

ब्रज से विभिन्न राजवंशों के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के सोने, चाँदी, ताँबे आदि के हैं और प्राचीन इतिहास के निर्माण में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। इन सिक्कों के द्वारा हम यह निश्चित रूप से जान सके हैं कि ब्रज प्रदेश में ऐतिहासिक काल में किन-किन भारतीय राजवंशों ने राज्य किया तथा यहाँ किन विदेशियों के आक्रमण हुए और उन्होंने यहाँ कब तक शासन किया। इन प्राचीन मुद्राओं से प्राचीन आर्थिक दशा की भी जानकारी हो सकी है।

उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त ब्रज के लोक-जीवन पर प्रकाश डालने वाली अन्य विविध सामग्री, यथा फलक, चित्रपट, विविध प्रकार के वस्त्र एवं वाद्य, कला-कौशल की वस्तुएँ, हस्तलिखित पोथियाँ आदि मिली हैं, जो विभिन्न कालों के इतिहास-निर्माण में सहायक हुई हैं।

३. विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त—ब्रज प्रदेश में बहुत प्राचीन काल से विदेशी यात्री आते रहे। इन यात्रियों ने प्रायः यहाँ का आँखों देखा हाल लिखा है, जो इतिहास के लिये बहुत उपादेय है। सबसे पुराने लेख यूनानी यात्रियों के मिले हैं। ई० पू० चौथी शती के अन्त में मेगस्थनीज़ नामक यूनानी यात्री भारत आया। उसने अन्य स्थानों के साथ शूरसेन प्रदेश का भी उल्लेख किया है। ई० दूसरी शती के यूनानी लेखक एरियन ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में मेगस्थनीज़ के इस वर्णन को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—"शौरसेनाइ (शूरसेन) लोग हेराक्लीज़ को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। शौरसेनाइ लोगों के दो बड़े शहर हैं—मेथोरा (मथुरा) और क्लीसोबोरा (केशवपुरा)। उनके राज्य में जोबरेस नाम की एक नदी बहती है, जिसमें नावें चल सकती हैं।"[१] प्रथम शताब्दी के यूनानी लेखक प्लिनी ने भी मथुरा और केशवपुरा के बीच से बहने वाली 'जोमनेस' (यमुना) का उल्लेख किया है। एक दूसरे यूनानी लेखक टालमी ने 'मोदुरा' (मथुरा) को 'देवताओं का नगर' कहा है।

यूनानियों के अतिरिक्त अनेक चीनी यात्रियों ने भी मथुरा प्रदेश का वर्णन किया है। इनमें फ़ाह्यान तथा हुएन-सांग विशेष प्रसिद्ध हैं। फ़ाह्यान

---

(१) इन स्थानों आदि की पहचान के लिये देखिए अध्याय ६।

ई० ४०० के लगभग मथुरा आया और वह इस नगर में एक मास तक रहा। उसने तत्कालीन मथुरा की धार्मिक स्थिति का वर्णन किया है। हुएन-सांग ई० सातवीं शती में मथुरा आया। उसने यहाँ का सविस्तार वर्णन किया है, जिससे तत्कालीन मथुरा जनपद की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

मुसलमान यात्रियों ने भी मथुरा का वर्णन किया है। इन लेखकों में अलबेरूनी बहुत प्रसिद्ध है। इसने भारत में संस्कृत का भी अध्ययन किया और इस देश के संबंध में 'किताबुल हिंद' नामक एक बड़ी पोथी लिखी। इस पुस्तक में मथुरा का उल्लेख कई बार आया है और भगवान् कृष्ण के चरित का भी वर्णन किया गया है। दूसरा मुसलमान इतिहास लेखक अल-उत्वी है। इसने १०१७ ई० में महमूद ग़ज़नवी द्वारा मथुरा और महावन पर किए गये नवें आक्रमण का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। अन्य कई मुसलमान लेखकों ने भी मथुरा का हाल लिखा है। उनमें मुख्य अलबदाऊंनी, अबुल फ़ज़ल तथा मोहम्मद कासिम फ़रिश्ता हैं।

अनेक यूरोपीय यात्रियों ने भी ब्रज का आँखों देखा हाल लिखा है। इनमें टैवरनियर (१६५० ई०), बरनियर (१६६३ ई०), मनूची, जासेफ़ टीफेनथलर (१७४५ ई०), बिशप हेबर (१८२५ ई०) तथा विक्टर जैकमांट (१८२९-३० ई०) मुख्य हैं। इन लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से मथुरा प्रदेश का वर्णन किया है।

उक्त यात्रियों के वर्णनों के अतिरिक्त फ़ारसी और अरबी की कई किताबों, फ़रमानों आदि में भी अपेक्षित सामग्री मिलती है। इस प्रकार की बहुत सी सामग्री ईलियट-डाउसन द्वारा संपादित 'हिस्ट्री आफ इंडिया' तथा सी० ए० स्टोरी कृत 'परशियन लिटरेचर (जिल्द २, भाग ३) आदि ग्रंथों में संकलित है। बृटिश काल में तैयार की गई सेटेलमेंट एवं अन्य रिपोर्टों, मेम्वायर तथा गजेटियर में मथुरा जिले के संबंध में अनेक प्रकार की सामग्री संगृहीत की गई है। इस सब सामग्री का यथावश्यक उपयोग प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है।

अध्याय ३

शूरसेन प्रदेश

[प्राचीनतम काल से लेकर श्रीकृष्ण के पहले तक]

शूरसेन—जैसा पहले लिखा जा चुका है, ब्रज की प्राचीन संज्ञा 'शूरसेन' थी। यह नाम किस व्यक्ति विशेष के कारण पड़ा, यह विचारणीय है। पुराणों की वंश-परंपरा-सूचियों को देखने से पता चलता है कि शूर या शूरसेन नाम के कई व्यक्ति प्राचीन काल में हुए। इनमें उल्लेखनीय ये हैं—हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्र शूरसेन, भीम सात्वत के पुत्र अंधक के परनाती शूर राजाधिदेव, श्रीराम के छोटे भाई शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन तथा श्रीकृष्ण के पितामह शूर। इनमें से प्रथम दो का प्राचीन मथुरा से कोई संबंध नहीं मिलता। श्रीकृष्ण के पितामह का नाम 'शूर' था, न कि शूरसेन[1]। इनके नाम से जनपद की संज्ञा का आविर्भाव मानने में[2] कठिनाई प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों के अनुसार शूरसेन जनपद का रूप शत्रुघ्न के समय में या उनकी मृत्यु के बाद ही स्थिर हो चुका था। इन संदर्भों के अनुसार शत्रुघ्न कम से कम बारह वर्ष तक मथुरा नगरी एवं उसके आस-पास के प्रदेश के शासक रहे। बहुत संभव है कि उन्होंने अपने आधिपत्य-काल में अपने छोटे पुत्र शूरसेन के नाम पर जनपद का 'शूरसेन' नामकरण कर दिया हो। बाल्मीकि-रामायण में इस संबंध में कुछ अस्पष्ट संकेत पाया जाता है।[3]

हरिवंश पुराण में शत्रुघ्न के बाद उनके पुत्र शूरसेन का उल्लेख है, जिन्होंने मथुरा प्रदेश पर अपना आधिपत्य बनाये रक्खा।[4] शत्रुघ्न-पुत्र शूरसेन

---

(१) हरिवंश, विष्णु आदि पुराणों में तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण के लिये 'शौरि' नाम मिलता है।

(२) देखिए कनिंघम—एंश्यंट जिऑग्रफी, पृ० ४२७।

(३) "भविष्यति पुरी रम्या शूरसेना न संशयः।"

(रामा०, उत्तर०,७०,६)

तथा—"स पुरा दिव्यसंकाशो वर्षे द्वादशमे शुभे।
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चाकुतोभयः॥"

(७०,६)

(४) हरिवंश०, १, ५४, ६२।

तथा श्रीकृष्ण के पितामह शूर के समय में लगभग चार सौ वर्षों का अंतर आता है, जब कि जनपद का शूरसेन नाम पिछले शूर के बहुत पूर्व आरूढ़ हो गया जान पड़ता है। अतः युक्तिसंगत यही प्रतीत होता है कि जनपद की शूरसेन संज्ञा शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ी, न कि किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर।

जनपद का शूरसेन नाम प्राचीन हिंदू, बौद्ध, एवं जैन साहित्य में तथा यूनानी लेखकों के वर्णनों में मिलता है। मनुस्मृति में शूरसेन को 'ब्रह्मर्षिदेश' के अंतर्गत माना है।[1] प्राचीन काल में ब्रह्मावर्त तथा ब्रह्मर्षिदेश को बहुत पवित्र समझा जाता था और यहाँ के निवासियों का आचार-विचार श्रेष्ठ एवं आदर्शरूप माना जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि शूरसेन जनपद की यह संज्ञा लगभग ईस्वी सन् के आरंभ तक जारी रही। जब इस समय से यहाँ विदेशी शक-क्षत्रपों तथा कुषाणों का प्रभुत्व हुआ, संभवतः तभी से जनपद की संज्ञा उसकी राजधानी के नाम पर 'मथुरा' हो गई। तत्कालीन तथा उसके बाद के जो अभिलेख मिले हैं उनमें मथुरा नाम ही मिलता है, शूरसेन नहीं। साहित्यिक ग्रंथों में भी अब शूरसेन के स्थान पर मथुरा नाम मिलने लगता है। इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह हो सकता है कि शक-कुषाण कालीन मथुरा नगर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर गया था कि लोग जनपद या प्रदेश के नाम को भी मथुरा नाम से पुकारने लगे होंगे और धीरे-धीरे जनपद का शूरसेन नाम जन-साधारण के स्मृति-पटल पर से उतर गया होगा।

प्राचीन राजवंश—शूरसेन जनपद पर जिन राजवंशों ने प्राचीन-काल में राज्य किया, उनके संबंध में पौराणिक तथा अन्य साहित्य में कुछ विवरण मिलते हैं। सबसे प्राचीन सूर्यवंश मिलता है, जिसके प्रथम राजा

---

(१) "कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥" (मनु० २,१६)

प्राचीन शूरसेन जनपद का विस्तार साधारणतया दक्षिण में चंबल नदी से लेकर उत्तर में वर्तमान मथुरा नगर के लगभग ५० मील उत्तर तक था। पश्चिम में इसकी सीमा मत्स्य जनपद से और पूर्व में दक्षिण पंचाल राज्य की सीमाओं से मिलती थी। (देखिए पार्जीटर—मार्कंडेय पुराण, पृ० ३५१-५२, नोट)

(२) मनुस्मृति, २, १८ तथा २०,

वैवस्वत से इस वंश की परंपरा चली। मनु के कई पुत्र हुए, जिन्होंने भारत के विभिन्न भागों पर राज्य किया। बड़े पुत्र इक्ष्वाकु थे, जिन्होंने मध्य देश में अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया। अयोध्या का राजवंश मानव या सूर्य वंश का प्रधान वंश हुआ और इसमें अनेक प्रतापी शासक हुए।

मनु के दूसरे पुत्र का नाम नाभाग मिलता है और इनके लिये कहा गया है कि इन्होंने तथा इनके वंशजों ने यमुनातट पर राज्य किया। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि नाभाग तथा उनके उत्तराधिकारियों ने कितने प्रदेश पर और किस समय तक राज्य किया।

मनु की पुत्री का नाम इला था, जो चन्द्रमा के लड़के बुध को ब्याही गई। उससे पुरूरवा का जन्म हुआ और इस पुरूरवा ऐल से चन्द्रवंश चला। सूर्य वंश की तरह चन्द्र वंश का विस्तार बहुत बढ़ा और धीरे-धीरे उत्तर तथा मध्य भारत के विभिन्न प्रदेशों में इसकी शाखाएँ स्थापित हुईं।

पुरूरवा ने प्रतिष्ठान[1] में अपनी राजधानी स्थापित की। पुरूरवा के उर्वशी से कई पुत्र हुए। सबसे बड़े लड़के का नाम आयु था, जो प्रतिष्ठान की गद्दी का अधिकारी हुआ। दूसरे पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (कनौज) में एक नये राज्य की स्थापना की। आयु के बाद अमावसु का पुत्र नहुष मुख्य शाखा का अधिकारी हुआ। इसका लड़का ययाति भारत का पहला चक्रवर्ती सम्राट हुआ, जिसने अपने राज्य का बड़ा विस्तार किया।[2] ययाति के दो पत्नियाँ थीं—देवयानी और शर्मिष्ठा। पहली से यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्र

---

(१) प्रतिष्ठान के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग इसे प्रयाग के सामने वर्तमान झूसी और उसके पास का पीहन गाँव मानते हैं। अन्य लोगों के मत से गोदावरी के किनारे वर्तमान पैठन नामक स्थान प्रतिष्ठानपुर था। तीसरे मत के अनुसार प्रतिष्ठान उत्तर के पर्वतीय प्रदेश में यमुना-तट पर था। चिंतामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि पुरूरवा उत्तराखंड का पहाड़ी राजा था और वहीं उसका उर्वशी अप्सरा से संयोग हुआ। उसके पुत्र ययाति ने पर्वत से नीचे उतर कर सरस्वती के किनारे (वर्तमान अंबाला के आस-पास) अपना केंद्र बनाया (वैद्य—दि सोलर ऐंड लूनर क्षत्रिय रेसेज ऑफ इंडिया, पृ० ४७-४८)

(२) पुराणों के अनुसार ययाति का रथ सर्वत्र घूमता था–दे० हरिवंश १, ३०, ४-५, १५; महाभारत २,१४ आदि।

हुए और दूसरी से द्रुह्यु,पुरु तथा अनु हुए। पुराणों से यह भी पता चलता है कि ययाति अपने बड़े लड़के यदु से रुष्ट हो गया था और उसे शाप दिया था कि यदु या उसके लड़कों को राजपद प्राप्त करने का सौभाग्य न प्राप्त होगा।[1] ययाति अपने सबसे छोटे लड़के पुरु को बहुत चाहता था और उसी को उसने राज्य देने का विचार प्रकट किया। परन्तु राजा के सभासदों ने ज्येष्ठ पुत्र के रहते हुए इस कार्य का विरोध किया।[2] यदु ने पुरु के पक्ष का समर्थन किया और स्वयं राज्य लेने से इन्कार कर दिया। इस पर पुरु को राजा घोषित किया गया और वह प्रतिष्ठान की मुख्य शाखा का शासक हुआ। उसके वंशज पौरव कहलाये।

अन्य चारों भाइयों को जो प्रदेश दिये गये उनका विवरण इस प्रकार है—यदु को चर्मण्वती (चंबल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) का तटवर्ती प्रदेश मिला। तुर्वसु को प्रतिष्ठान के दक्षिण-पूर्व का भूभाग मिला और द्रुह्यु को उत्तर-पश्चिम का। गंगा-यमुना दोआब का उत्तरी भाग तथा उसके पूर्व का कुछ प्रदेश जिसकी सीमा अयोध्या राज्य से मिलती थी अनु के हिस्से में आया।

यादव वंश—यदु अपने सब भाइयों में प्रतापी निकला। उसके वंशज 'यादव' नाम से प्रसिद्ध हुए। महाभारत के अनुसार यदु से यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुह्यु से भोज तथा अनु से म्लेच्छ जातियों का आविर्भाव हुआ।[3]

यादवों ने कालांतर में अपने केंद्र दशार्ण[4], अवन्ती[5], विदर्भ[6] और

---

(१) हरिवंश, १, ३०, २६।

(२) महाभारत, १, ८५, ३२।

(३) "यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः॥"
(महाभा०, १, ८५, ३४)

(४) महाभारत, ५,१६०; हरिवंश, ६१,४६६७।

(५) मत्स्य०, ४४,६६,७०; ब्रह्मांड० ३,७१,१०८; ब्रह्म०, १५,५४; हरिवंश, ३८, २०२३।

(६) ऐतरेय ब्रा०, ८,१४,३; महाभा०, ५,१५७; हरिवंश, ६२,५०१६; ६६,५४६६ आदि।

माहिष्मती[1] में स्थापित कर लिये। भीम सात्वत के समय में मथुरा और द्वारिका यादव-शक्ति के महत्वपूर्ण केन्द्र बने। इनके अतिरिक्त शाल्व देश (वर्तमान आबू तथा उसके पड़ोस का प्रदेश) में भी यादवों की एक शाखा जम गई, जिसकी राजधानी पर्णाश नदी (आधुनिक बनास) के तट पर स्थित मार्तिकावत हुई।

अन्य राजवंशों के साथ यादवों की कशमकश बहुत समय तक चलती रही। पुरूरवा के पौत्र तथा आयु के पुत्र क्षत्रवृद्ध के द्वारा काशी में एक नये राज्य की स्थापना की गई थी। दक्षिण के हैहयवंशी यादवों तथा काशी एवं अयोध्या के राजवंशों में बहुत समय तक युद्ध चलते रहे। हैहय लोगों ने अपने आक्रमण सूर्यवंशी राजा सगर के समय तक जारी रक्खे। इन हैहयों में सबसे प्रतापी राजा कृतवीर्य का पुत्र कार्तवीर्य अर्जुन हुआ, जिसने नर्मदा से लेकर हिमालय की तलहटी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।

हैहयों की उत्तर की ओर बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए राजा प्रतर्दन के बेटे वत्स ने प्रयाग के समीप 'वत्स' राज्य की स्थापना की। इस राज्य की शक्ति कुछ समय बाद बहुत बढ़ गई, जिससे दक्षिण की ओर से होने वाले आक्रमणों का वेग कम पड़ गया।

पुरुवंश की लगभग तेंतालीसवीं पीढ़ी में राजा दुष्यन्त हुए, जिन्होंने कण्व ऋषि की पोषिता कन्या शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह किया। शकुन्तला से उत्पन्न भरत बड़े प्रतापी शासक हुए। उनके वंशज भरतवंशी कहलाए। इस वंश के एक राजा ने गंगा-यमुना दोआब के उत्तरी भाग पर अपना आधिपत्य जमाया। यह प्रदेश कालांतर में भरतवंशी राजा भ्रम्यश्व के पाँच पुत्रों के नाम पर 'पंचाल' कहलाया। भ्रम्यश्व के एक पुत्र का नाम मुद्गल था, जिनके पुत्र वध्र्यश्व तथा पौत्र दिवोदास के समय पंचाल राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया। दिवोदास के बाद मित्रायु, मैत्रेय, सोम, सृंजय और च्यवन इस वंश के क्रमशः शासक हुए। च्यवन तथा उनके पुत्र सुदास के समय में पंचाल जनपद की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। सुदास ने उत्तर-पश्चिम की ओर अपने राज्य की सीमा बहुत बढ़ाली।[2] पूर्व में इनका राज्य अयोध्या की सीमा तक जा लगा। सुदास ने हस्तिनापुर के तत्कालीन

---

(१) महाभा०, ७,११,३८८-६; हरिवंश, ५५,३१०२-४।
(२) दे० अग्नि पु०, १७७,२०; गरुड़ पु०, १,१४०,६ आदि।

पौरव शासक संवरण को मार भगाया। इस पर संवरण ने अनेक राजाओं से सहायता ली और सुदास के विरोध में एक बड़ा दल तैयार कर लिया। इस दल में पुरुवों के अतिरिक्त द्रुह्यु, मत्स्य, तुर्वसु, यदु, अलिन, पक्थ, भलनस, विषाणी और शिवि थे।[1] दूसरी ओर केवल राजा सुदास था। उसने परुष्णी नदी (रावी) के तट पर इस सम्मिलित सैन्य दल को परास्त कर अतुल शौर्य का परिचय दिया। संवरण को बाध्य होकर सिंधु नदी के किनारे एक दुर्ग में शरण लेनी पड़ी।

कुछ समय बाद संवरण ने अपने राज्य को पुनः प्राप्त किया। उसका पुत्र कुरु प्रतापी राजा हुआ। उसने दक्षिण पंचाल को भी जीता और अपने राज्य का विस्तार प्रयाग तक किया। कुरु के नाम से सरस्वती नदी के आस-पास का प्रदेश 'कुरुक्षेत्र' कहलाया।

प्रश्न है कि उपर्युक्त दाशराज्ञ युद्ध के समय यादवों की मुख्य शाखा का राजा कौन था। पौराणिक वंश-परंपरा का आलोडन करने पर पता चलता है कि पंचाल राजा सुदास का समकालीन भीम सात्वत यादव का पुत्र अंधक रहा होगा। इस अंधक के विषय में मिलता है कि वह शूरसेन जनपद के तत्कालीन गणराज्य का अध्यक्ष था। संभवतः अंधक अपने पिता भीम के समान वीर न था। दाशराज युद्ध से पता चलता है कि अन्य नौ राजाओं के साथ वह भी सुदास से पराजित हुआ।

यदु से भीम सात्वत तक का वंश—अब हम यदु से लेकर भीम सात्वत तक की यादव वंशावली पर विचार करेंगे। विभिन्न पुराणों में यदुवंश की इस मुख्य शाखा के नामों में अनेक जगह विपर्यय मिलते हैं। पार्जीटर ने पुराणों के आधार पर जो वंश-तालिका दी है[2] उसे देखने पर पता चलता है कि यदु के बाद उसका पुत्र क्रोष्टु या कोष्ट्रि प्रधान यादव शाखा का अधिकारी हुआ।[3] उसके जिन वंशजों के नाम मिलते हैं, वे ये हैं—स्वाहि, रुशद्गु, चित्ररथ और शशबिंदु। शशबिंदु प्रतापी शासक हुआ।

---

(१) ऋग्वेद (७, १८, १६; ६, ६१, २) में भी इस दासराज्ञ युद्ध का उल्लेख मिलता है।

(२) पार्जीटर—ऐंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृ० १०५-१०७।

(३) यदु के दूसरे पुत्र सहस्रजित से हैहयवंश का आरंभ हुआ, जिसकी कालांतर में कई शाखाएं हुईं।

उसने द्रुह्यु लोगों को हरा कर उन्हें उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में भगा दिया, जहाँ उन्होंने कालांतर में गांधार राज्य की स्थापना की। शशबिंदु ने पुरुओं को भी पराजित कर इन्हें उत्तर-पश्चिम की ओर जाने के लिए विवश किया। इन विजयों में शशबिंदु को अपने समकालीन अयोध्या-नरेश मांधाता से बड़ी सहायता मिली। मांधाता इक्ष्वाकु वंश में प्रसिद्ध राजा हुआ। उससे अच्छे संबंध बनाये रखने के लिए शशबिंदु ने अपनी पुत्री बिंदुमती का विवाह उसके साथ कर दिया। मांधाता ने कान्यकुब्ज प्रदेश को जीता और आनवों को भी पराजय दी।

शशबिंदु से लेकर भीम सात्वत तक यादवों की मुख्य शाखा के जिन राजाओं के नाम मिलते हैं वे ये हैं—पृथुश्रवस, अंतर, सुयज्वा, उशनस, शिनेयु, मरुत्त, कम्बलबर्हिस्, रुक्म-कवच, परावृत, ज्यामघ, विदर्भ, कृथ-भीम, कुन्ति, धृष्ठ, निर्वृति, विदूरथ, दशार्ह, व्योमन, जीमूत, विकृति, भीमरथ, रथवर, दशरथ, एकदशरथ, शकुनि, करम्भ, देवरात, देवक्षेत्र, देवन, मधु, पुरुवश, पुरुद्वंत, जंतु या अम्शु, सत्वंत और भीम सात्वत।

उक्त सूची में यदु और मधु के बीच में होने वाले राजाओं में से किस-किस ने यमुना-तटवर्ती प्रदेश (जो बाद में शूरसेन कहलाया) पर राज्य किया, यह बताना कठिन है। पुराणादि में इस संबंध में निश्चित कथन नहीं मिलते। पुराणों में कतिपय राजाओं के विषय में यत्र-तत्र कुछ वर्णन अवश्य मिलते हैं, पर वे प्रायः अधूरे हैं। जैसे उशनस के संबंध में आया है कि उसने एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये। कृथ-भीम को विदर्भ का शासक लिखा है। उसके भाई कौशिक से यादवों के चेदिवंश का आरंभ हुआ। क्रथभीम के बाद विदर्भ का प्रसिद्ध यादव शासक भीमरथ हुआ, जिसकी पुत्री दमयंती निषधराज नल को ब्याही गई।

मधु और लवण—यादवों में मधु एक प्रतापी शासक माना जाता है। यह चंद्रवंश की ६१ वीं पीढ़ी (ज्ञात नामों के अनुसार ४४ वीं पीढ़ी) में हुआ और इक्ष्वाकु वंशी राजा दिलीप द्वितीय अथवा उसके उत्तराधिकारी दीर्घबाहु का समकालीन था। कुछ पुराणों के अनुसार मधु गुजरात से लेकर यमुना तट तक के बड़े भूभाग का स्वामी था। सम्भवतः इस मधु ने अनेक स्थानों में बिखरे हुए यादव राज्यों को सुसंगठित किया। पुराणों, वाल्मीकि-रामायण आदि में मधु के संबंध में जो विभिन्न वर्णन मिलते हैं, उनसे बड़ी भ्रान्ति पैदा हो गई है। प्रायः मधु के साथ 'असुर', 'दैत्य', 'दानव'

आदि विशेषण मिलते हैं।[1] साथ ही अनेक पौराणिक वर्णनों में यह भी आया है कि मधु बड़ा धार्मिक एवं न्यायप्रिय शासक था। उसके पुत्र का नाम लवण दिया है। लवण को अत्याचारी कहा गया है। इसी लवण को मार कर अयोध्या-नरेश श्रीराम के भाई शत्रुघ्न ने उसके प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया।

पुराणों तथा वाल्मीकि रामायण में मधु और लवण की कथा विस्तार से दी हुई है। उसके अनुसार मधु के नाम पर मधुपुर या मधुपुरी नगर यमुना तट पर बसाया गया।[2] इसके आसपास का घना वन 'मधुवन' कहलाता था। मधु को लोला नामक असुर का ज्येष्ठ पुत्र लिखा है और उसे बड़ा धर्मात्मा, बुद्धिमान और परोपकारी कहा गया है। मधु ने शिव की तपस्या कर उनसे एक अमोघ त्रिशूल प्राप्त किया। मधु की स्त्री का नाम कुंभीनसी था, जिससे लवण का जन्म हुआ। लवण बड़ा होने पर लोगों को अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाने लगा। इस पर दुःखी होकर कुछ ऋषियों ने अयोध्या जाकर श्रीराम से सब बातें बताईं और उनसे प्रार्थना की कि लवण के अत्याचारों से लोगों को शीघ्र छुटकारा दिलाया जाय। अन्त में श्रीराम ने शत्रुघ्न को मधुपुर जाने की आज्ञा दी। शत्रुघ्न संभवतः प्रयाग के मार्ग से नदी के किनारे-किनारे चल कर मधुवन पहुँचे और वहाँ उन्होंने लवण का संहार किया।[3]

चन्द्रवंश की ६१ वीं पीढ़ी में हुआ उक्त मधु तथा लवण-पिता मधु एक ही थे अथवा नहीं, यह विवादास्पद है। पुराणों आदि की तालिका में पूर्वोक्त मधु के पिता का नाम देवन तथा पुत्र का नाम पुरुवश दिया है और इस मधु को अयोध्या नरेश रघु के पूर्ववर्ती दीर्घबाहु का समकालीन दिखाया गया है, न कि राम या दशरथ का। इससे तथा पुराणों के हर्यश्व-मधुमती

---

(१) हरिवंश, १,५४,२२; विष्णु पु० १, १२, ३ आदि। इसका एक कारण यह कहा जा सकता है कि पुराणकारों आदि ने भ्रमवश मधुकैटभ दैत्य और यादव राजा मधु को एक समझ लिया।

(२) यही नगर बाद में 'मधुरा' या 'मथुरा' हुआ। वाजपेयी—मथुरा-परिचय (मथुरा, १६५०) पृ० ३ ८।

(३) रामायण, उत्तरकांड, सर्ग ६१-६६।

उपाख्यान[1] से भासित होता है कि संभवतः यदुवंशी मधु तथा लवण-पिता मधु एक व्यक्ति न थे। इसमें संदेह नहीं कि लवण एक शक्तिशाली शासक था। हरिवंश से पता चलता है कि लवण ने राम के पास युद्ध का संदेश लेकर अपना दूत भेजा और उसके द्वारा कहलाया कि "हे राम तुम्हारे राज्य के बिलकुल निकट ही मैं तुम्हारा शत्रु हूँ। मुझ-जैसा राजा तुम्हारे सदृश बलदृप्त 'सामंत' को नहीं देख सकता।"[2] लवण ने यह भी कहलाया कि रावणादि का वध करके राम ने अच्छा काम नहीं किया, बल्कि एक बड़ा कुत्सित कर्म किया, आदि।

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि लवण ने अपने राज्य का काफ़ी विस्तार कर लिया था। इस कार्य में उसे अपने बहनोई हर्यश्व से भी सहायता मिली होगी। शायद लवण ने अपने राज्य की पूर्वी सीमा बढ़ाकर गंगा नदी तक करली थी और इसीलिये राम को कहलाया था कि "मैं तुम्हारे राज्य के निकट का ही शासक हूँ।" लवण की दर्पोक्ति तथा राम के प्रति उसकी खुली चुनौती से प्रकट होता है कि इस समय लवण की शक्ति प्रबल हो गई थी। अन्यथा उन राम से जिन्होंने कुछ ही समय पूर्व रावण-जैसे दुर्दांत शत्रु का संहार कर अपने शौर्य की धाक जमा दी थी, युद्ध मोल

---

(१) इस उपाख्यान के अनुसार अयोध्या के इक्ष्वाकु-वंशी हर्यश्व ने मधु दैत्य की पुत्री मधुमती से विवाह किया। अपने भाई के द्वारा बहिष्कृत किये जाने पर हर्यश्व सपत्नीक अपने श्वसुर मधु के पास मधुपुर चले आये। मधु ने हर्यश्व का स्वागत कर उनसे उस प्रदेश पर शासन करने को कहा और यह भी कहा कि लवण उनकी सब प्रकार से सहायता करेगा। मधु ने हर्यश्व से फिर कहा—"तुम्हारा वंश कालांतर में ययाति वाले यदुवंश के साथ घुल-मिल जायगा और तुम्हारी संतति चन्द्रवंश की एक शाखा हो जायगी"—

आयातमपि वंशस्ते समेष्यति च यादवम्।

अनुवंशं च वंशस्ते सोमस्य भविता किल॥ (हरि० २,३७,३४)

इसके बाद हर्यश्व के द्वारा राज्य-विस्तार तथा उनके द्वारा गिरि पर एक नगर (संभवतः गोवर्द्धन) बसाने का उल्लेख है और उनके शासन की प्रशंसा है।

(२) "विषयासन्नभूतोऽस्मि तव राम रिपुश्च ह।
न च सामन्तमिच्छन्ति राजानो बलदर्पितम्॥" (हरि० १,५४,२८)

लेना हँसी-खेल न था। लवण के द्वारा रावण की सराहना तथा राम की निंदा इस बात की सूचक है कि रावण की गर्हित नीति और कार्य उसे पसंद थे। इससे अनुमान होता है कि लवण और उसका पिता मधु संभवतः किसी अनार्य शाखा के थे। इस अनुमान की पुष्टि के लिये अभी अवश्य ही अधिक पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। मधु की नगरी मधुपुरी के जो वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि उस नगरी का स्थापत्य उच्चकोटि का था। शत्रुघ्न भी उस रम्य पुरी को देख कर चकित हो गये और अनुमान करने लगे कि वह देवों के द्वारा निर्मित हुई होगी। प्राचीन वैदिक साहित्य में अनार्यों के विशाल तथा दृढ़ किलों एवं मकानों के उल्लेख मिलते हैं। संभव है कि लवण-पिता मधु या उसके किसी अन्य पूर्वजों ने यमुना के तटवर्ती प्रदेश पर अधिकार कर लिया हो। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह अधिकार लवण के समय से समाप्त हो गया।

सूर्य वंश का आधिपत्य—शत्रुघ्न और लवण का युद्ध बड़े महत्व का है। इस युद्ध में शत्रुघ्न एक बड़ी सेना लेकर मधुवन पहुँचे होंगे। उनकी यह विजय-यात्रा संभवतः प्रयाग होकर यमुना नदी के किनारे के मार्ग से हुई होगी। लवण ने उनका मुकाबला किया, परन्तु वह परास्त हुआ और मारा गया। शायद हर्यश्व भी इस युद्ध में समाप्त कर दिया गया। लवण के पिता मधु की मृत्यु इस युद्ध के पहले ही हो चुकी थी। इस विजय से अयोध्या के ऐक्ष्वाकुओं की धाक सुदूर यमुना-तटवर्ती प्रदेश तक जम गई। रावण के वध से उनका यश पहले ही दक्षिण में फैल चुका था। अब पश्चिम की विजय से वे बड़े शक्तिशाली गिने जाने लगे और उनसे लोहा लेने वाला कोई न रहा।

शत्रुघ्न ने कुछ समय तक नये विजित प्रदेश में निवास कर उसकी व्यवस्था ठीक की। वहाँ से जाते समय उन्होंने अपने पुत्र सुबाहु को इस नये 'शूरसेन' जनपद का स्वामी नियुक्त किया।[1]

---

(१) कहीं-कहीं शत्रुघ्न द्वारा इस जनपद पर सुबाहु के स्थान पर दूसरे पुत्र शूरसेन के नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ देखिए कालिदास—

"शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते।
मधुरा विदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः॥" (रघुवंश १५,३६)

हो सकता है कि पहले सुबाहु कुछ दिन शूरसेन जनपद का शासक

लवण का वध करने के पश्चात् शत्रुघ्न ने जंगल (मधुवन) को साफ़ करवाया और मधुरा नामक पुरी को बसाया।[1] इस प्रकार उस घने जंगल के कट जाने तथा पुरी का संस्कार हो जाने से नगर एवं जनपद की शोभा बहुत बढ़ गई।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि मधुवन और मधुपुरी में निवास करने वाले लवण के अधिकांश अनुयायियों को शत्रुघ्न ने समाप्त कर दिया। शेष भयभीत होकर अन्यत्र चले गये होंगे। तभी शत्रुघ्न ने उस पुरी को ठीक प्रकार से बसाने की बात सोची होगी। संभवतः उन्होंने पुरानी नगरी (मधुपुरी) को नष्ट नहीं किया। उन्होंने उससे दूर एक नई बस्ती बसाने की भी कोई आवश्यकता न समझी होगी। प्राचीन पौराणिक उल्लेखों तथा रामायण के वर्णन से यही प्रकट होता है कि उन्होंने जंगल को साफ़ करवाया तथा प्राचीन मधुपुरी को एक नये ढंग से आबाद कर उसे सुशोभित किया। रामायण में देवों से वर माँगते हुए शत्रुघ्न कहते हैं—

"हे देवगण, मुझे वरदान दीजिये कि यह सुन्दर मधुपुरी या मधुरा नगरी, जो ऐसी जँचती है मानों देवताओं द्वारा बनाई गई हो, शीघ्र ही बस जाय।"[3] देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा और कुछ समय बाद पुरी आबाद हो गई। बारह वर्ष के अनंतर इस मधुरा नगरी तथा इसके आस-पास के प्रदेश की काया ही पलट गई।

रहा हो और उसके यहाँ से चले जाने पर शूरसेन वहाँ का स्वामी बना हो। इसी शूरसेन के नाम पर जनपद का नामकरण होने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

(१) "हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मधुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै॥"
(विष्णु पु० १, १२, ४)

(२) "छित्वा वनं तत्सौमित्रिः निवेशं सोऽभ्यरोचयत्।
भवाय तस्य देशस्य पुर्याः परमधर्मवित्॥"
(हरिवंश १, ५४, ५५)

(३) "इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रमेष मेऽस्तुवरः परः॥"
(रामा० उत्तर०, ७०, ५)

यादव वंश का पुनः अधिकार—पौराणिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि शत्रुघ्न की मृत्यु के बाद यादव-वंशी सत्वान् या सत्वंत के पुत्र भीम सात्वत ने मधुरा नगरी तथा उसके आसपास के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्यश्व और मधुमती की संतति का संबंध भीम सात्वत और उसके वंशजों के साथ रहा। सम्भवत: इसीलिए हरिवंश में कहा गया है कि हर्यश्व का वंश यदुवंश के साथ घुलमिल जायगा।

भीम सात्वत के पुत्र अंधक और वृष्णि थे। इन दोनों के वंश बहुत प्रसिद्ध हुए। अंधक का वंश मथुरा प्रदेश का अधिकारी हुआ और वृष्णि के वंशज द्वारका के शासक हुए। महाभारत युद्ध के पूर्व मथुरा के शासक उग्रसेन थे, जिनका उत्तराधिकारी उनका पुत्र कंस हुआ। द्वारका के वृष्णि वंश में उस समय शूर के पुत्र वसुदेव थे। उग्रसेन के भाई देवक के सात पुत्रियाँ थीं, जिनमें देवकी सबसे बड़ी थी। इन सातों का विवाह वसुदेव के साथ हुआ। वसुदेव के देवकी से कृष्ण पैदा हुए। वसुदेव की बहन कुन्ती राजा पांडु को ब्याही गई, जिससे युधिष्ठर आदि पाँच पांडवों का जन्म हुआ।

अंधक और वृष्णि द्वारा परिचालित राज्य गणराज्य थे, अर्थात् इनका शासन किसी एक राजा के द्वारा न होकर जनता के चुने हुए व्यक्तियों द्वारा होता था। ये व्यक्ति अपने में से एक प्रधान चुन लेते थे, जो 'गण मुख्य' कहलाता था। कहीं-कहीं इसे 'राजा' भी कहते थे, पर नृपतन्त्र वाले स्वेच्छा-चारी राजा से वह भिन्न होता था। महाभारत के समय अंधक और वृष्णि राज्यों ने मिल कर अपना एक संघ बना लिया था। इस संघ के दो मुखिया चुने गये—अंधकों के प्रतिनिधि उग्रसेन और वृष्णियों के कृष्ण। संघ की व्यवस्था बहुत समय तक सफलता के साथ चलती रही और उसके शासन से प्रजा सन्तुष्ट रही।

प्राचीन मथुरा का वर्णन—शत्रुघ्न के समय और उनके बाद मधुरा या मथुरा नगरी के आकार और विस्तार का सम्यक् पता नहीं चलता। प्राचीन पौराणिक वर्णनों से इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है।[1]

---

१. उदाहरणार्थ देखिए हरिवंश पुराण (पर्व १, अ० ५४)—

"सा पुरी परमोदारा साट्टप्राकारतोरणा।
स्फीता राष्ट्रसमाकीर्णा समृद्धबलवाहना ॥५७॥
उद्यानवनसंपन्ना सुसीमा सुप्रतिष्ठता।
प्रांशुप्राकारवसना परिखाकुलमेखला ॥५८॥
चलाट्टालककेयूरा प्रासादवरकुण्डला।

इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि पुरानी नगरी यमुना नदी के तट पर बसी हुई थी और उसका आकार अष्टमी के चन्द्रमा-जैसा था । उसके चारों ओर नगर-दीवाल थी, जिसमें ऊँचे तोरण-द्वार थे । दीवाल के बाहर खाई बनी हुई थी। नगरी धन-धान्य और समृद्धि से पूर्ण थी। उसमें अनेक उद्यान और बन थे। पुरी की स्थिति सब प्रकार से मनोज्ञ थी । मकान अट्टालिकाओं और सुन्दर द्वारों से युक्त थे। उनमें विविध वस्त्राभूषणों से अलंकृत स्त्री-पुरुष निवास करते थे। ये लोग राग-रहित और वीर थे । उनके पास बहुसंख्यक हाथी, घोड़े और रथ थे। नगर के बाजारों में सभी प्रकार का क्रय-विक्रय होता था और रत्नों के ढेर दिखाई पड़ते थे। मथुरा की भूमि बड़ी उपजाऊ थी और समय पर वर्षा होती थी। मथुरा नगरी के रहने वाले सभी स्त्री-पुरुष प्रसन्न-चित्त दिखाई पड़ते थे।

यमुना नदी का प्रवाह प्राचीन काल से बदलता आया है । मधु और शत्रुघ्न के समय में यमुना की धारा उस स्थान के पास से बहती रही होगी जिसे अब महोली कहते हैं । वर्तमान मथुरा नगरी और महोली के बीच में बहुत से पुराने टीले दिखाई पड़ते हैं। इन टीलों से प्राचीन बस्तियों के चिन्ह बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि इधर पुरानी बस्ती थी। इस भू-भाग की व्यवस्थित खुदाई होने पर सम्भवतः इस बात का पता चल सकेगा कि विभिन्न कालों में मथुरा की बस्ती में क्या-क्या परिवर्तन हुए।

वराह पुराण (अध्याय १६५, ११) से ज्ञात होता है कि किसी समय मथुरा नगरी गोवर्धन पर्वत और यमुना नदी के बीच बसी हुई थी और इनके बीच की दूरी अधिक नहीं थी। वर्तमान स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि अब गोवर्धन यमुना से काफी दूर है। ऐसा प्रतीत होताहै कि किसी समय गोवर्धन और यमुना के बीच इतनी दूरी न रही होगी जितनी कि आज है । हरिवंश पुराण में भी कुछ इस प्रकार का संकेत प्राप्त होता है [1]

सुसंवृतद्वारवती चत्वरोद्गारहासिनी ॥५९॥
अरोगवीरपुरुषा हस्त्यश्वरथसंकुला ।
अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता ॥६०॥
पुण्यापणवती दुर्गा रत्नसंचयगर्विता ।
क्षेत्राणि सस्यवंत्यस्याः काले देवश्च वर्षति ॥६१॥
नरनारी प्रमुदिता सा पुरीस्म प्रकाशते ।"

१. "गिरिर्गोवर्धनो नाम मथुरायास्त्वदूरतः ।" हरिवंश (१,५५,३६)

अध्याय ४

श्रीकृष्ण का समय

ब्रज या शूरसेन जनपद के इतिहास में श्रीकृष्ण का समय बड़े महत्व का है। इसी समय में प्रजातंत्र और नृपतंत्र के बीच कठोर संघर्ष हुए, मगध-राज्य की शक्ति का विस्तार हुआ और भारत का वह महान् भीषण संग्राम हुआ जिसे 'महाभारत युद्ध' कहते हैं। इन राजनैतिक हलचलों के अतिरिक्त इस काल का सांस्कृतिक महत्व भी है। श्रीकृष्ण साधारण व्यक्ति न होकर युगपुरुष थे। उनके व्यक्तित्व में भारत को एक प्रतिभासम्पन्न राजनीतिवेत्ता ही नहीं, एक महान् कर्मयोगी और दार्शनिक प्राप्त हुआ, जिसका गीता-ज्ञान समस्त मानव-जाति एवं सभी देश-काल के लिए पथ-प्रदर्शक है।

मथुरा नगरी इस महान् विभूति का जन्मस्थान होने के कारण धन्य हो गई! मथुरा ही नहीं, सारा शूरसेन या ब्रज जनपद आनंदकंद कृष्ण की मनोहर लीलाओं की क्रीड़ाभूमि होने के कारण गौरवान्वित हो गया। मथुरा और ब्रज को कालांतर में जो असाधारण महत्व प्राप्त हुआ वह इस महापुरुष की जन्मभूमि और क्रीड़ाभूमि होने के कारण ही। श्रीकृष्ण भागवतधर्म के महान् स्रोत हुए। इस धर्म ने कोटि-कोटि भारतीय जन का अनुरंजन तो किया ही, साथ ही कितने ही विदेशी इसके द्वारा प्रभावित हुए। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्ण की मनोहर लीलाओं से ओतप्रोत है। उनके लोकरंजक रूप ने भारतीय जनता के मानस-पटल पर जो छाप लगा दी है वह अमिट है।

वर्तमान ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर श्रीकृष्ण का जन्म लगभग ई० पू० १२०० माना जाता है। वे सम्भवतः १०० वर्ष से कुछ ऊपर की आयु तक जीवित रहे। अपने इस दीर्घजीवन में उन्हें विविध प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहना पड़ा। उनका प्रारंभिक जीवन तो ब्रज में कटा और शेष द्वारका में व्यतीत हुआ। बीच-बीच में उन्हें अन्य अनेक जनपदों में भी जाना पड़ा। जो अनेक घटनाएँ उनके समय में घटीं उनकी विस्तृत चर्चा पुराणों तथा महाभारत में मिलती है। वैदिक साहित्य में तो कृष्ण का उल्लेख बहुत कम

मिलता है और उसमें उन्हें मानव-रूप में ही दिखाया गया है, न कि नारायण या विष्णु के अवतार रूप में[1]।

यहाँ हम उन मुख्य घटनाओं की चर्चा करेंगे जो श्रीकृष्ण के जीवन से विशेष रूप से संबंधित रही हैं। प्रारम्भिक घटनाएँ, जिनका संबंध ब्रज से है, पुराणों में (विशेष कर भागवत पुराण के दशम स्कंध में) विस्तार से दी हैं। महाभारत-युद्ध में श्रीकृष्ण का कार्य तथा उनका द्वारका का जीवन महाभारत में विस्तृत रूप से वर्णित है।

---

१. उदाहरणार्थ देखिए छांदोग्य उपनिषद् (३,१७,६), जिसमें देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख है और उन्हें घोर आंगिरस का शिष्य कहा है। परवर्ती साहित्य में श्रीकृष्ण को देव या विष्णु रूप में प्रदर्शित करने का भाव मिलता है (दे० तैत्तिरीय आरण्यक, १०, १,६; पाणिनि—अष्टाध्यायी, ४, ३, ६८ आदि)। महाभारत तथा हरिवंश, विष्णु, ब्रह्म, वायु, भागवत, पद्म, देवी भागवत. अग्नि तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में उन्हें प्रायः भगवान् रूप में ही दिखाया गया है। इन ग्रंथों में यद्यपि कृष्ण के अलौकिक तत्व की प्रधानता है तो भी उनके मानव या ऐतिहासिक रूप के भी दर्शन यत्र-तत्र मिलते हैं। पुराणों में कृष्ण-संबंधी विभिन्न वर्णनों के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों को यह कल्पना करने का अवसर मिला कि कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष नहीं थे। इस कल्पना की पुष्टि में अनेक दलीलें दी गई हैं, जो ठीक नहीं सिद्ध होतीं। यदि महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रंथों तथा उपनिषदों के उल्लेख देखे जायँ तो कृष्ण के ऐतिहासिक तत्व का पता चल जायगा। बौद्ध-ग्रंथ घट जातक तथा जैन-ग्रंथ उत्तराध्ययन सूत्र से भी श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक होना सिद्ध है। यह मत भी भ्रामक है कि ब्रज के कृष्ण, द्वारका के कृष्ण तथा महाभारतके कृष्ण एक न होकर अलग-अलग व्यक्ति थे। (श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता तथा तत्संबंधी अन्य समस्याओं के लिए देखिए राय चौधरी—अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट, पृ० ३६, ५२; आर०जी० भंडारकर—ग्रंथमाला, जिल्द २, पृ० ५८-२६१; विंटरनीज़—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द १,पृ० ४५६; मैकडानल तथा कीथ—वेदिक इंडेक्स, जि० १, पृ० १८४; ग्रियर्सन—एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजंस ('भक्ति' पर निबंध); भगवानदास—कृष्ण; तदपत्रिकर—दि कृष्ण प्राबलम; पार्जीटर—ऐंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन आदि।)

कंस का शासन

श्रीकृष्ण के जन्म के पहले शूरसेन जनपद का शासक कंस था, जो अंधकवंशी उग्रसेन का पुत्र था। बचपन से ही कंस स्वेच्छाचारी था। बड़ा होने पर वह जनता को अधिक कष्ट पहुँचाने लगा। उसे गणतंत्र की परम्परा रुचिकर न थी और शूरसेन जनपद में वह स्वेच्छाचारी नृपतंत्र स्थापित करना चाहता था। उसने अपनी शक्ति बढ़ाकर उग्रसेन को पदच्युत कर दिया और स्वयं मथुरा के यादवों का अधिपति बन गया। इससे जनता के एक बड़े भाग का क्षुभित होना स्वाभाविक था। परन्तु कंसकी अनीति यहीं तक सीमित नहीं रही; वह शीघ्र ही मथुरा का निरंकुश शासक बन गया और प्रजा को अनेक प्रकार से पीड़ित करने लगा। इससे प्रजा में कंस के प्रति गहरा असंतोष फैल गया। पर कंस की शक्ति इतनी प्रबल थी और उसका आतंक इतना छाया हुआ था कि बहुत समय तक जनता उसके अत्याचारों को सहती रही और उसके विरुद्ध कुछ कर सकने में असमर्थ रही।

कंस की इस शक्ति का प्रधान कारण यह था कि उसे आर्यावर्त के तत्कालीन सर्वप्रतापी राजा जरासंध का सहारा प्राप्त था। यह जरासंध पौरव वंश का था और मगध के विशाल साम्राज्य का शासक था। उसने अनेक प्रदेशों के राजाओं से मैत्री-संबंध स्थापित कर लिये थे, जिनके द्वारा उसे अपनी शक्ति बढ़ाने में बड़ी सहायता मिली। कंस को जरासंध ने अस्ति और प्राप्ति नामक अपनी दो लड़कियाँ ब्याह दीं और इस प्रकार उससे अपना घनिष्ट संबंध जोड़ लिया। चेदि के यादव वंशी राजा शिशुपाल को भी जरासंध ने अपना गहरा मित्र बना लिया। इधर उत्तर-पश्चिम में उसने कुरुराज दुर्योधन को अपना सहायक बनाया। पूर्वोत्तर की ओर आसाम के राजा भगदत्त से भी उसने मित्रता जोड़ी। इस प्रकार उत्तर भारत के प्रधान राजाओं से मैत्री-संबंध स्थापित कर जरासंध ने अपने पड़ोसी राज्यों—काशी,कोशल, अंग बंग आदि पर अपना अधिकार जमा लिया। कुछ समय बाद कलिंग का राज्य भी उसके अधीन हो गया। अब जरासंध पंजाब से लेकर आसाम और उड़ीसा तक के प्रदेश का सबसे अधिक प्रभावशाली शासक बन गया।

श्रीकृष्ण का जन्म

कंस की चचेरी बहन देवकी शूर-पुत्र वसुदेव को ब्याही गई थी। पुराणों के अनुसार जब कंस को यह भविष्यवाणी ज्ञात हुई कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न

आठवें बच्चे के हाथ से उसकी मृत्यु होगी तो वह बहुत सशंकित हो गया। उसने वसुदेव-देवकी को कारागार में बन्द करा दिया।

देवकी से उत्पन्न प्रथम छह बच्चों को कंस ने मरवा डाला। सातवें बच्चे (बलराम) का उसे कुछ पता ही नहीं चला।[२] अब वह आठवीं सन्तान के लिए बहुत चौकन्ना हो गया। यथासमय देवकी की आठवीं सन्तान कृष्ण का जन्म कारागार में भादों कृष्णा अष्टमी की आधी रात को हुआ।[3] जिस समय वे प्रकट हुए प्रकृति सौम्य थी, दिशायें निर्मल होगई थीं और नक्षत्रों में विशेष कांति आ गई थी। भयभीत वसुदेव नवजात बच्चे को शीघ्र लेकर यमुना-पार गोकुल गये और वहाँ अपने मित्र नंद के यहाँ शिशु को पहुँचा आये।[४] बदले में वे उनकी पत्नी यशोदा की सद्योजाता कन्या को ले आये। जब दूसरे दिन प्रातः कंस ने बालक के स्थान में कन्या को पाया तो वह बड़े सोच-विचार में पड़ गया। उसने उस बच्ची को भी जीवित रखना ठीक न समझ उसे दिवंगत कर दिया।[५]

गोकुल में नंद ने पुत्र-जन्म पर बड़ा उत्सव मनाया। नंद प्रति वर्ष कंस को कर देने मथुरा आया करते थे। उनसे भेंट होने पर वसुदेव ने नंद को बलदेव और कृष्ण के जन्म पर बधाई दी। पितृ-मोह के कारण उन्होंने नंद से कहा—"ब्रज में बड़े उपद्रवों की आशंका है, वहां शीघ्र जाकर रोहिणी और बच्चों की रक्षा करो।"

---

२. पुराणों के अनुसार बलराम सर्वप्रथम देवकी के गर्भ में आये, किन्तु दैवी शक्ति द्वारा वे वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ में स्थानांतरित कर दिये गये। इस घटना के कारण ही बलदेव का नाम 'संकर्षण' पड़ा।

३. भाग० पु० और ब्र० वै० पु० को छोड़ प्राय: सब पुराण श्रीकृष्ण के स्वाभाविक जन्म की बात कहते हैं, न कि उनके ईश्वर-रूप की। श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान मथुरा के कटरा केशवदेव मुहल्ले में औरंगजेब की लाल मस्जिद के पीछे माना जाता है।

४. हरिवंश में मार्ग का कोई वर्णन नहीं है। अन्य पुराणों में अपने आप कारागार के कपाटों के खुलने तथा प्रहरियों की निद्रा से लेकर अन्य अनेक घटनाओं का वर्णन है।

५. कुछ पुराणों के अनुसार कंस अपनी गलती पर बड़ा लज्जित हुआ और उसने वसुदेव-देवकी को बंधन-मुक्त कर दिया।

हरिवंश पुराण में कहा गया है कि नंद-यशोदा बच्चों सहित मथुरा आये और वसुदेव की बात मान कर नंद ने यमुना के किनारे-किनारे चलकर अपना डेरा उत्तर में गोवर्धन की तरहटी में लगा दिया।[६]

पूतना-वध

कंस को जब कृष्ण की उत्पत्ति तथा उनके बच जाने का रहस्य ज्ञात हुआ तो वह क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने किसी न किसी प्रकार अपने शत्रु-शिशु को सदा के लिए दूर करने की ठानी। पहले पूतना नाम की स्त्री इस कार्य के लिए भेजी गई। वह अपने स्तनों पर विष का लेप कर गोकुल गई और कृष्ण को दूध पिलाना चाहा, किन्तु उसका षडयंत्र सफल न हो सका और उसे स्वयं अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।[७]

---

६. पद्म पुराण में विपरीत गाथा है। उसके अनुसार वसुदेव स्वयं व्रज गये और बलराम को यशोदा के हाथों सौंप कर लौट आये (पद्म० अ० २७३, ६४-६८)। मालूम होता है कि जन्म के उपरान्त नंद को मथुरा जाना पड़ा। वहाँ जाकर उन्होंने राजकीय कर चुकाया, मित्रों से भेंट की तथा जन्मोत्सव के लिए आवश्यक सामग्री खरीदी होगी। महाभारत और हरिवंश में जन्मोत्सव का कोई उल्लेख नहीं है। अन्य पुराणों के अनुसार जन्मोत्सव मनाया गया तथा वसुदेव के भेजे पुरोहित गर्ग गोकुल आये। उन्होंने शिशु के प्राथमिक संस्कार संपन्न कराये। कुछ पुराणों में तथा परवर्ती भाषा साहित्य में नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, रक्षाबंधन, घुटनों के बल चलने, माखन चोरी आदि के विस्तार से वर्णन मिलते हैं। सूर-कृत बाल-लीला-वर्णन सबसे अधिक सुंदर है।

७. हरिवंश (६३) के अनुसार पूतना कंस की धात्री थी और 'शकुनी' चिड़िया का रूप बना कर गोकुल गई। ब्र० वै० (१०) के अनुसार वह कंस की बहन थी और मथुरा से ब्राह्मणी बनकर कृष्णको देखने के बहाने गई। इस पुराण में आया है कि वह पहले बलि की पुत्री रत्नमाला थी और वामन के प्रति मातृभावना से प्रेरित थी। इसीलिए वह वामन के रूप कृष्ण को दूध पिलाने आई। दूसरे पुराणों के अनुसार बालकृष्ण ने स्तन-पान करते समय उसके प्राण खींच लिये। व्रजभाषा तथा गुजराती के कुछ कवियों ने पूतना को 'बकी' लिखा है। सूरदास तथा गुजराती कवि नरसी मेहता, परमानंद आदि ने अन्य कई छोटी कथाओं का पूतना-वध के बाद उल्लेख किया है, जो पुराणों में नहीं मिलतीं।

शकटासुर-वध

एक दिन माता यशोदा काम-काज में लगी थीं। बालकृष्ण भूख से रो रहे थे और पैर फेंक रहे थे। बात यह थी कि वे एक छोटी सी गाड़ी से खेल रहे थे, जिसके उलट जाने के कारण वे जोर से रोने लगे थे। परन्तु सौभाग्य से उनके कोई चोट नहीं आई।[८]

उलूखल-बंधन तथा यमलार्जुन-मोक्ष

कृष्ण अब घुटनों के बल चलने लगे थे। यशोदा जब काम में व्यस्त रहतीं तब वे कृष्ण को, उपद्रवी होने के कारण, ऊखल में बाँध देती थीं। एक दिन कृष्ण ऊखल को घसीट कर यमल और अर्जुन नामक दो पेड़ों के बीच में चले गये। ऊखल दोनों पेड़ों के बीच में अड़ गया। जब कृष्ण ने जोर लगाया तो दोनों पेड़ उखड़कर गिर गये।[९] पड़ोस की स्त्रियों ने यह दृश्य देखकर यशोदा को बहुत बुरा-भला कहा।

---

८. पद्मपुराण (२७२, ८२-५) में शकट-भंजन के उपरान्त पक्षी-रूपधारी राक्षस के मारे जाने का वर्णन है। भाग० पु० में तृणावर्त-वध (७, १८-३३), कृष्ण का मृतिका-भक्षण तथा यशोदा को ब्रह्मांड-दर्शन (७, ३४-३७) कथित है।

९. हरि० (६४), पद्मपुराण (२७२, ८६-६७) के अनुसार जब कृष्ण ने पड़ोस से माखन चुराया तब यशोदा उन्हें बाँध कर दूध बेचने चली गईं। ब्र० वै० पु० (१४) के अनुसार जब मां स्नान करने चली गईं तब कृष्ण ने घर में दूध-माखन चुरा कर खाया; इस पर यशोदा ने उन्हें ऊखल में बांधने का दंड दिया। भाग० पु० (६,१०) के अनुसार जब माता ने कृष्ण को थोड़ा सा ही माखन दिया तो बालक ने क्रोध में भांड तोड़ दिया। मां ने तब उसे बांध दिया। इस पुराण के अनुसार ये दोनों पेड़ कुबेर के पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव थे, जो कृष्ण के हाथों मुक्ति पाने के लिए पेड़-रूप में जन्मे थे। ब्र०वै० (१४) में केवल एक वृक्ष की ही चर्चा मिलती है और लिखा है कि यह वृक्ष पूर्व जन्म में कुबेर का पुत्र था। देवल ऋषि ने उसे रंभा के साथ देखकर शाप दिया था। पद्म० पु० के अनुसार ये वृक्ष गिरने के बाद किन्नर हो गये। इस घटना के कारण कृष्ण का नाम 'दामोदर' विख्यात हुआ। इस कथा का वर्णन परवर्ती भाषा-साहित्य में विस्तार से मिलता है।

स्थान-परिवर्तन

नंद आदि ने आये दिन इस प्रकार की आपत्तियों से दु:खी होकर सोचा कि गोकुल का स्थान अशुभ हो गया है और उसको बदलने में ही कल्याण है। अत: वे अन्य लोगों सहित गोकुल छोड़कर वृन्दावन में जाकर बस गये। हरिवंश के अनुसार कृष्ण जब सात वर्ष के हो गये थे तब यह स्थान-परिवर्तन हुआ।[10]

कालिय-दमन[11]

वृन्दावन में बसने के उपरान्त कृष्ण ने वहाँ से सर्पों को भगाने का विचार किया। वृन्दावन के एक कुंड में ये विशेष रूप से रहते थे। इनमें कालिय नामक नाग सबसे भयंकर था। कृष्ण ने बुद्धि-कौशल से उसे तथा अन्य सर्पों को वहाँ से बाहर किया।[12]

---

१०. "तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः।" (हरि०,६५,?); हरिवंश के अनुसार कृष्ण ने बलराम से स्थान-परिवर्तन की आवश्यकता बताते हुए कहा कि यह स्थान (गोकुल) बहुत भर गया है। स्थान-परिवर्तन का एक कारण गोकुल में भेड़ियों का उपद्रव भी बताया गया है। ब्रह्म पुराण (१८४,४९-६०) और विष्णु पु० (६, २१-५१) के अनुसार वृन्दावन पहले बहुत गरम और सूखा था; नंदादि के जाते ही वहाँ वर्षा ऋतु के-से सुहावने लक्षण प्रकट हो गये। गोचरभूमि तथा जल के सुपास के कारण तथा अन्य आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हो जाने से लोगों को वहाँ बड़ा आराम मिला। यह वृन्दावन संभवत: आधुनिक नंदगांव के दक्षिण-पश्चिम में कामवन की ओर फैला था। नंदादि गोपों ने नंदगांव में या उसके आसपास अपनी बस्ती बसाई होगी। एक मत के अनुसार प्राचीन वृंदावन गोवर्धन के समीप था।

११. नाग नाथने से पहले और स्थान-परिवर्तन के उपरांत भागवत में कुछ और घटनाओं का उल्लेख है जो अन्य पुराणों में नहीं मिलतीं। वे घटनायें हैं—वत्सासुर-वध (भाग० अ० ११, ४१-४५), बकासुर-वध (११, ४६-५३), अघासुर-वध (अ० १२) तथा ब्रह्ममोह (अ० १३-१४)। परवर्ती भाषा-साहित्यकारों ने भी इन कथाओं का विस्तार से वर्णन किया है।

१२. इस घटना का विस्तार भागवत में अधिक है। इसके अनुसार गरुड़ के भय से कालियनाग इस कुंड में रहता था। उसके विष के कारण जो पशु या ग्वाल इस कुंड का जल पीते थे वे बचते न थे।

धेनुक-वध

वृन्दावन में ताड़ों का एक वन था, जिसमें गर्दभ बहुत बढ़ गये थे। इनमें धेनुक प्रमुख था। इन गदहों के कारण ग्वालबालों को बड़ी असुविधा रहती थी और वे डर के मारे उधर न जाते थे। कृष्ण के दल ने उन्हें नष्ट कर गाँव को आपत्तियों से रहित कर दिया।[१३]

प्रलंब-वध

इसके बाद प्रलंब नामक एक राक्षस ने गोप का वेष धर बलदेव को हानि पहुँचाने की कुचेष्टा की। वह बलदेव को कंधे पर उठा कर ले भागा। लेकिन बलराम ने अपने अतुलित पराक्रम से उसे मार डाला। बात यह थी कि खेल में भांडीर के पेड़ों तक दो गोप साथ दौड़ कर आते थे। एक बार राम और कृष्णवेषधारी प्रलंब गये। प्रलंब ने एकांत अवसर देख अपना कार्य साधना चाहा। राम ने दुहाई दी, कृष्णादि ने दूर से ध्वनि सुनी और बलराम को ललकारा कि दुष्ट को मार दें। तब साहस बटोर राम ने उसे मार डाला।[१४]

अंत में कृष्ण ने कुंड में कूद कर जल के भीतर नागराज कालिय से युद्ध किया और उसे परास्त कर सब नागों के सहित अन्यत्र जाने के विवश किया। जब कृष्ण कुंड में घुसे तो ब्रजवासी हाहाकार करने लगे। केवल बलराम चुप बैठे थे, क्योंकि उन्हें कृष्ण की अलौकिक शक्ति का ज्ञान था। कालिय-दमन के अनंतर श्रीकृष्ण के बाहर निकलने पर सब लोग प्रसन्न हुए। नाग-दमन की कथा से यह अभिप्राय भी लगाया जाता है कि नाग नामक मानव-जाति को, जो उस समय वृंदावन के एक भाग में रहती थी, श्रीकृष्ण ने निकाल कर दूसरी जगह जाने को बाध्य किया।

१३. हरिवंश (७०), भाग० (अ० १५) तथा ब्र०वै०पु० (२२)के अनुसार धेनुक ने कृष्ण से अपनी मृत्यु की प्रार्थना की, पर कृष्ण अपने भक्त को न मार सके। अचानक धेनुक कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को भूल कर उन पर आक्रमण कर बैठा और मारा गया। इसके अनुसार धेनुक पहले जन्म में बलिपुत्र 'साहसिक' था और तिलोत्तमा के साथ संभोग करने तथा दुर्वासा की तपस्या में विघ्न उपस्थित करने के कारण अभिशप्त हो गर्दभ बना।

१४. हरि० ७१; ब्रह्म० १८७, १-३०; विष्णु०, ६, १-३०। ब्र०वै० (१६, १४-१६) के अनुसार उसका नाम प्रलंब था और वह बैल के रूप में आया।

गोवर्धन-पूजा''

गोकुल के गोप प्राचीन रीति के अनुसार वर्षाकाल बीतने और शरद् के आगमन के अवसर पर इन्द्र देवता की पूजा किया करते थे। उनका विश्वास था कि इन्द्र की कृपा के कारण वर्षा होती है, जिसके परिणामस्वरूप धनधान्य बढ़ता है। कृष्ण और बलदेव ने इन्द्र की पूजा का विरोध किया तथा गोवर्धन (धरती माता, जो अन्न और जल देती है) की पूजा का आयोजन किया। इस प्रकार एक ओर कृष्ण ने इन्द्र के काल्पनिक महत्व को घटाने का कार्य किया, दूसरी ओर बलदेव ने हल लेकर खेती में वृद्धि के साधनों को खोज निकाला। पुराणों में कथा है कि इस पर इन्द्र क्रुद्ध हो गया और उसने इतनी भीषण वर्षा की कि हाहाकार मच गया! किन्तु कृष्ण ने बुद्धि-कौशल से गिरि द्वारा गोप-गोपिकाओं, गौओं आदि की रक्षा की। इस प्रकार इन्द्र-पूजा के स्थान पर अब गोवर्धन-पूजा की स्थापना की गई।''

---

१५. प्रलंब-वध के उपरान्त भाग० पुराण में मुंजवन में अग्नि-कांड का प्रसंग है; कृष्ण ने अग्नि शांत कर गोपों की रक्षा की (अ०१६)। शरद् ऋतु के आगमन पर ब्र० वै० (२२) और भाग० (२७) कात्यायनी व्रत का उल्लेख करते हैं। इन पुराणों के अनुसार गोपियाँ कृष्ण का पति-भाव से चिंतन करती हुई कात्यायनी-व्रत करती थीं। कृष्ण ने एक दिन यमुना में स्नान करती हुई गोपियों के कपड़े चुरा लिये और कुछ देर तक उन्हें तंग करने के बाद वापस दे दिये। इन पुराणों में आगे कहा है कि इस व्रत के तीन मास बाद महारास-लीला हुई। कात्यायनी-व्रत का वर्णन प्रारंभिक पुराणों में नहीं मिलता। भाग० (२३) में उल्लिखित ब्राह्मणों के यज्ञ में भूखे गोपों द्वारा भोजन माँगने का प्रसंग भी प्राचीन पुराणों में नहीं मिलता।

१६. हरि० (७२-७६) तथा पद्म० (२७२, १८१-२१७) में इन्द्र द्वारा सात दिन तक घोर वृष्टि करने का उल्लेख मिलता है। ब्रह्म पुराण (१८७), विष्णु० (६१०,१-१२,५६) तथा हरिवंश के अनुसार वर्षा शांत होने पर इन्द्र ऐरावत पर चढ़कर क्षमा माँगने के लिए कृष्ण के पास आये। भाग० के अनुसार इंद्र गुप्त रूप से कृष्ण से मिले; उन्हें अन्य गोपों ने नहीं देखा। वह कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए स्वर्ग से सुरभी गाय लेकर आये—भाग० (२७)।

गोवर्धन-पूजा के बाद भागवत (२८, १-१७) में एक घटना वर्णित है कि एक दिन नंद को, जब वे नदी में स्नान कर रहे थे, वरुण के दूत

रास

कृष्ण के प्रति ब्रजवासियों का बड़ा स्नेह था। गोपियां तो विशेष रूप से उनके सौंदर्य तथा साहसपूर्ण कार्यों पर मुग्ध थीं। प्राचीन पुराणों के अनुसार शरद पूर्णिमा की एक सुहावनी रात को गोपियों ने कृष्ण के साथ मिलकर नृत्य-गान किया। इसका नाम 'रास' प्रसिद्ध हुआ।[१७] धीरे-धीरे यह ब्रज का एक नैमित्तिक उत्सव बन गया, जिसमें गोपी-ग्वाल सभी सम्मिलित होते थे। संभवतः रात में इस प्रकार के मनोविनोदों और खेलकूदों को इस हेतु भी प्रचारित किया गया कि जिससे रात में भी सजग रह कर कंस के उन षड्यंत्रों से बचा जा सके जो आये दिन गोकुल में हुआ करते थे।

अरिष्ट-वध

कृष्ण जिस समय रास में मग्न थे उन्हें गोशाला में अरिष्ट नामक बैल के उपद्रव का समाचार मिला। आसपास के गोपों में भगदड़ मच गई और वे कृष्ण के पास यह समाचार लेकर आये। कृष्ण ने अरिष्ट का वध कर उनका भय दूर किया।[१८]

अपने लोक को ले गये। कृष्ण ने वहाँ जाकर नंद को छुड़ाया और इसके बाद गोपों को बैकुण्ठ-लोक के दर्शन कराये।

१७. हरि० ७७; ब्रह्म० १८६,१-४५; विष्णु० १३; भाग० २६-३३। परवर्ती पुराणों में रास या महारास का विस्तार से कथन मिलता है। पद्म (२७२,१५८-१८०) तथा ब्रह्मवैवर्त (२८-५३) में तो रास के सहारे काम-क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्रह्म वै० के वर्णनों में राधा तथा असंख्य सखियों का भी अतिशयोक्तिपूर्ण आलेखन किया गया है। वस्तुतः एक सीधीसादी घटना को संस्कृत एवं भाषा के परवर्ती भक्त कवियों ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित किया है।

भाग० पु० (३४) रासक्रीड़ा के तत्काल बाद दो और घटनाओं का समावेश करता है—(१) अम्बिका-वन में सरस्वती नदी के किनारे सोते नंद की अजगर से रक्षा और (२) उसी रात कुबेर-किंकर शंखचूड़ यक्ष के द्वारा गोपियों को हरने की धृष्टता तथा कृष्ण द्वारा उनकी रक्षा और शंखचूड़ का वध।

१८. हरिवंश ७८; भाग० ३६, १-१५; ब्रह्म० १८६, ४६-५८ आदि। ब्रह्मवै० (१६, १५-१६) में अरिष्ट का नाम 'प्रलंब' दिया है।

इस प्रकार ब्रज तथा उसके निवासियों पर संकट आये और चले गये। आपत्तिग्रस्त जंगलों और कुंडों को भी कृष्ण ने अपनी शक्ति और चातुर्य से निष्कंटक बना दिया। अभी तक जितनी घटनाएँ घटीं उनमें पूतना के संबंध में ही पुराणों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह कंस की भेजी हुई थी। अन्य सब घटनाएँ आकस्मिक या दैवी प्रतीत होती हैं; संभवत: उनमें कंस का विशेष हाथ न था। इन घटनाओं के संबंध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि प्रारंभिक पुराणों—हरिवंश, वायु, ब्रह्म—में कृष्ण के साथ कम चामत्कारिक घटनाओं का संबंध है और बाद के पुराणों—यथा भागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त—में क्रमश: इन घटनाओं में वृद्धि हुई है। केवल घटनाओं की संख्या में ही वृद्धि नहीं हुई, प्राचीन पुराणों की कथाओं को भी परवर्ती पुराणों में बहुत घटा-बढ़ा कर कहा गया है। बारहवीं शती के बाद के संस्कृत एवं भाषा साहित्य में तो ये बातें और भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

धनुर्याग और अक्रूर का ब्रज-आगमन

कृष्ण बचपन में ही कई आकस्मिक दुर्घटनाओं का सामना करने तथा कंस के षड्यंत्रों को विफल करने के कारण बहुत लोक-प्रिय हो गये थे। सारे ब्रज में इस छोटे वीर बालक के प्रति विशेष ममत्व पैदा हो गया। किन्तु दूसरी ओर मथुरापति कंस कृष्ण की इस ख्याति से घबरा रहा था और समझ रहा था कि एक दिन अपने ऊपर भी सङ्कट आ सकता है।

साम्राज्यवादी कंस ने अन्त में कूटनीति की शरण ली और दानपति अक्रूर के द्वारा 'धनुर्याग' के बहाने कृष्ण-बलराम को मथुरा बुलाने का विचार किया। अक्रूर अपने समय में अंधक-वृष्णि संघ के एक वर्ग का प्रसिद्ध नेता था। संभवत: वह बहुत ही कुशल और व्यावहारिक ज्ञान-सम्पन्न पुरुष था। कंस को उस समय ऐसे ही एक चतुर और विश्वस्त व्यक्ति की आवश्यकता थी।

कंस ने पहले धनुर्याग की तैयारी कर ली और फिर अक्रूर को गोकुल भेजा।[१९]

---

१९. हरिवंश ७९; ब्रह्म० १९०, १-२१; विष्णु० १५, १-२४; भाग० ३६, १६-३४ आदि। हरिवंश के अनुसार कंस ने अक्रूर को भेजने के पहले वसुदेव को बुरा-भला कहा और उन्हें ही अपने और कृष्ण के बीच वैमनस्य उत्पन्न करने वाला कहा। ब्रह्म० और विष्णु० के अनुसार कंस ने अक्रूर को छोड़ कर सभी यादवों के वध की प्रतिज्ञा की।

अक्रूर के कुछ पूर्व केशी कृष्ण के वधार्थ ब्रज पहुँच चुका था, परंतु कृष्ण ने उसे भी मार डाला।[२०]

कृष्ण का मथुरा-गमन

एक दिन संध्या समय कृष्ण ने समाचार पाया कि अक्रूर उन्हें लेने वृंदावन आये हैं। कृष्ण ने निर्भीक होकर अक्रूर से भेंट की और उन्हें नंद के पास ले गये। वहाँ अक्रूर ने कंस का धनुर्याग-संदेश सुनाकर कहा—"राजा ने आपको गोपों और बच्चों सहित यह मेला देखने बुलाया है।" अक्रूर दूसरे दिन सवेरे बलदेव और कृष्ण को लेकर मथुरा के लिए चले।[२१] नंद संभवत: बच्चों को न भेजते, किन्तु अक्रूर ने नंद को समझाया कि कृष्ण का यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता वसुदेव और देवकी से मिलें और उनका कष्ट दूर करें। नंद अब भला कैसे रोकते ? मथुरा पहुंचने पर नीतिवान् अक्रूर ने प्रथम ही माता-पिता से बच्चों को मिलाना उचित नहीं समझा। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि इससे कंस भड़क जायगा और बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। वे संध्या समय मथुरा पहुंचे थे; अक्रूर दोनों भाइयों को पहले अपने घर ले गये।

ये वीर बालक सन्ध्या समय मथुरा नगरी की शोभा देखने के लोभ का संवरण न कर सके। पहली बार उन्होंने इतना बड़ा नगर देखा था। वे मुख्य सड़कों से होते हुए नगर की शोभा देखने लगे।

---

२०. हरिवंश के वर्णन से प्रतीत होता है कि केशी कंस का परम प्रिय भाई या मित्र था। केशी के मारने से कृष्ण का नाम 'केशव' हुआ। पुराणों के अनुसार केशी घोड़े का रूप बना कर कृष्ण को मारने गया था—ब्रह्म० १६०, २२-४८, भाग० ३७, १-२५; विष्णु० १६, १-२८।

२१. हरिवंश ८२; ब्रह्म० १६१-६२; विष्णु० १७, १-१६, ६; भागवत ३१, १-४१; ब्रह्मवै० ७०, १-७२।
हरिवंश के अतिरिक्त अन्य पुराणों में आया है कि ब्रज की गोपियाँ कृष्ण को मथुरा न जाने देना चाहती थीं। उन्होंने अक्रूर का विरोध भी किया और रथ को रोक लिया। ब्रह्मवैवर्त में गोपियों की वियोग-व्यथा विस्तार से वर्णित है। ब्रज भाषा, बंगला तथा गुजराती के अनेक कवियों ने इस करुण प्रसंग का मार्मिक वर्णन किया है।

कंस के समय मथुरा

कंस के समय में मथुरा का क्या स्वरूप था, इसकी कुछ झलक पौराणिक वर्णनों में देखी जा सकती है। जब श्रीकृष्ण ने पहली बार इस नगरी को देखा तो भागवतकार के शब्दों में उसकी शोभा इस प्रकार की थी[२२]—

"उस नगरी के प्रवेश-द्वार ऊँचे थे और स्फटिक पत्थर के बने हुए थे। उनके बड़े-बड़े सिरदल और किवाड़ सोने के थे। नगरी के चारों ओर की दीवाल (परकोटा) तांबे और पीतल की बनी थी तथा उसके नीचे की खाई दुर्लंघ्य थी। नगरी अनेक उद्यानों एवं सुन्दर उपवनों से शोभित थी।

"सुवर्णमय चौराहों, महलों, बगीचियों, सार्वजनिक स्थानों एवं विविध भवनों से वह नगरी युक्त थी। वैदूर्य, बज्र, नीलम, मोती, हीरा आदि रत्नों से अलंकृत छज्जे, वेदियां तथा फर्श जगमगा रहे थे और उन पर बैठे हुए कबूतर और मोर अनेक प्रकार के मधुर शब्द कर रहे थे। गलियों और बाजारों में, सड़कों तथा चौराहों पर छिड़काव किया गया था और उन पर जहाँ-तहाँ फूल-मालाएँ, दूर्वा-दल, खाई और चावल बिखरे हुए थे।

"मकानों के दरवाज़ों पर दही और चन्दन से अनुलेपित तथा जल से भरे हुए मङ्गल-घट रखे हुए थे, फूलों, दीपावलियों, बन्दनवारों तथा फलयुक्त केले और सुपारी के वृक्षों से द्वार सजाये गये थे और उन पर पताके और झंडियाँ फहरा रही थीं।"

उपर्युक्त वर्णन कंस या कृष्णकालीन मथुरा से कहाँ तक मेल खाता है, यह बताना कठिन है। परन्तु इससे तथा अन्य पुराणों में प्राप्त वर्णनों से

---

२२. "ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुरद्वारां वृहद्धेमकपाटतोरणाम्।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥
सौवर्ण शृंगाटक हर्म्यनिष्कुटैः श्रेणी सभाभिर्भवनैरुपस्कृताम्।
वैदूर्यवज्रामल नीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषुवेदिषु ॥
जुष्टेषु जालामुखरंध्रकुट्टिमेष्वाविष्ट पारावतबर्हिनादिताम्।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्यांकुरलाजतंडुलाम् ॥
आपूर्णकुंभैर्दधिचंदनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः।
सवृंदरंभाक्रमुकैः सकेतुभिः स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥"
(भागवत, १०, ४१, २०-२३)

इतना अवश्य ज्ञात होता है कि तत्कालीन मथुरा एक समृद्ध पुरी थी। उसके चारों ओर नगर-दीवाल थी तथा नगरी में उद्यानों का बाहुल्य था। मोर पक्षियों की शायद उस समय भी मथुरा में अधिकता थी। महलों, मकानों, सड़कों और बाजारों आदि के जो वर्णन मिलते हैं उनसे पता चलता है कि कंस के समय की मथुरा एक धन-धान्य सम्पन्न नगरी थी।

कंस-वध

कृष्ण-बलराम का नाम मथुरा में पहले से ही प्रसिद्ध हो चुका था। उनके द्वारा नगर में प्रवेश करते ही एक विचित्र कोलाहल पैदा हो गया। जिन लोगों ने उनका विरोध किया वे इन बालकों द्वारा दंडित किये गये। ऐसे मथुरावासियों की संख्या कम न थी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण के प्रति सहानुभूति रखते थे। इनमें कंस के अनेक भृत्य भी थे, जैसे सुदाम या गुणक नामक माली, कुब्जा दासी आदि।

कंस के शस्त्रागार में भी कृष्ण ने पहुँच गये[२३] और वहाँ के रक्षक को समाप्त कर दिया। इतना करने के बाद कृष्ण-बलराम ने रात में संभवतः अक्रूर के घर विश्राम किया। अन्य पुराणों से यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो पाती कि दोनों भाइयों ने रात कहाँ बिताई।[२४]

कंस ने ये उपद्रवपूर्ण बातें सुनीं। उसने चाणूर और मुष्टिक नामक अपने पहलवानों को कृष्ण-बलराम के बध के लिए सिखा-पढ़ा दिया।

शायद कंस ने यह भी सोचा कि उन्हें रंगभवन में घुसने से पूर्व ही क्यों न हाथी द्वारा कुचलवा दिया जाय, क्योंकि भीतर घुसने पर वे न जानें कैसा वातावरण उपस्थित कर दें।

प्रातः होते ही दोनों भाई धनुर्याग का दृश्य देखने राजभवन में घुसे। ठीक उसी समय पूर्व योजनानुसार कुवलय नामक राज्य के एक भयंकर हाथी ने उन पर प्रहार किया। दोनों भाइयों ने इस संकट को दूर किया। भीतर

---

२३. ज्ञात होता है कि कृष्ण ने शस्त्रागार में जानबूझ कर गड़बड़ी की, जिससे उनके पक्ष वालों को कंस के विरुद्ध युद्ध करने को हथियार मिल जायँ। पुराणकारों ने तो इतना ही लिखा है कि धनुष तोड़ कर वे आगे बढ़े।

२४. पद्म पुराण (२७२, ३३१-३६३) के अनुसार यह रात दोनों भाइयों ने अपने सहयोगियों सहित रंगमंच पर ही बिताई। ब्र० वै० (अ० १२) के अनुसार नंद और कृष्ण आदि रात में कुविंद नामक एक वैष्णव के यहाँ रहे।

जाकर कृष्ण चाणूर से और बलराम मुष्टिक से भिड़ गये। इन दोनों पहलवानों को समाप्त कर कृष्ण ने तोसलक नामक एक अन्य योद्धा को भी मारा। कंस के शेष योद्धाओं में आतङ्क छा जाने और भगदड़ मचने के लिए इतना कृत्य यथेष्ट था। इसी कोलाहल में कृष्ण ऊपर बैठे हुए कंस पर झपटे और उसको भी कुछ समय बाद परलोक पहुँचा दिया। इस भीषण कांड के समय कंस के सुनाम नामक भृत्य ने कंस को बचाने की चेष्टा की। किन्तु बलराम ने उसे बीच में ही रोक उसका वध कर डाला।[२५]

अपना कार्य पूरा करने के उपरांत दोनों भाई सर्वप्रथम अपने माता-पिता से मिले। वसुदेव और देवकी इतने समय बाद अपने प्यारे बच्चों से मिल कर हर्ष-गद्‌गद हो गये। इस प्रकार माता-पिता का कष्ट दूर करने के बाद कृष्ण ने कंस के पिता उग्रसेन को, जो अंधकों के नेता थे, पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित किया। समस्त संघ चाहता था कि कृष्ण नेता हों, किन्तु कृष्ण ने उग्रसेन से कहा—

"मैंने कंस को सिंहासन के लिए नहीं मारा है। आप यादवों के नेता हैं, अतः सिंहासन पर बैठें।"[२६] मालूम होता है कि इस पर भी कृष्ण से विशेष अनुरोध किया गया, तब उन्होंने नीतिपूर्वक ययाति के शाप का स्मरण दिलाकर सिंहासन-त्याग की बात कही।[२७] इस प्रकार कृष्ण ने त्याग और दूर-दर्शिता का महान् आदर्श उपस्थित किया।

---

२५. भागवत में कूट और शल योद्धाओं तथा कंस के आठ भाइयों (कंक, न्यग्रोधक आदि) के मारे जाने का भी उल्लेख है।

कंस के इस प्रकार मारे जाने पर कुछ लोगों ने हाहाकार भी किया—

"ततो हाहाकृतं सर्वमासीत्तद्रङ्गमंडलम्।
अवज्ञया हतं दृष्ट्वा कृष्णेन मथुरेश्वरम्॥"(विष्णु पु० ५,२०,६१)

तथा—"हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाऽभूदुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र।"
(भाग० १०, ४४, ३८)

हो सकता है कि मथुरेश कंस की इस प्रकार मृत्यु देखकर तथा उसकी रानियों और परिजनों का हाहाकार (हरिवंश अ० ८८) सुनकर दर्शकों में कुछ समय के लिए बड़ी बेचैनी पैदा होगई हो।

२६. हरि० ८७, ५२।

२७. "ययाति शापाद्वंशोऽयमराज्यार्होऽपि साम्प्रतम्।
मयि भृत्ये स्थिते देव नाज्ञापयतु किं नृपैः॥" (विष्णु० ५,२१,१२०)

संस्कार

कंस-वध तक कृष्ण का जीवन एक प्रकार से अज्ञातवास में व्यतीत हुआ। एक ओर कंस का आतङ्क था तो दूसरी ओर आकस्मिक आपत्तियों का कष्ट। अब इनसे छुटकारा मिलने पर उनके विद्याध्ययन की बात चली। वैसे तो ये दोनों भाई प्रतिभावान्, नीतिज्ञ तथा साहसी थे, परन्तु राजन्य-परंपरा के अनुसार शास्त्रानुकूल संस्कार एवं शिक्षा-प्राप्ति आवश्यक थी। इसके लिए उन्हें उज्जयिनी में सांदीपनि गुरु के आश्रम में भेजा गया। वहाँ पहुँच कर कृष्ण-बलराम ने विधिवत् दीक्षा ली[२८] और अन्य शास्त्रों के साथ धनुर्विद्या में विशेष दक्षता प्राप्त की। यहीं उनकी सुदामा ब्राह्मण से भेंट हुई, जो उनका गुरु-भाई हुआ।

जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई

कंस की मृत्यु का समाचार पाकर मगध-नरेश जरासंध बहुत क्रुद्ध हो गया। वह कंस का श्वसुर था। जरासंध अपने समय का महान् साम्राज्यवादी और क्रूर शासक था। उसने कितने ही छोटे-मोटे राजाओं का राज्य हड़प कर उन राजाओं को बंदी बना लिया था। जरासंध ने कंस को अपनी लड़कियाँ संभवतः इसीलिए ब्याही थीं जिससे कि पश्चिमी प्रदेशों में भी उसकी धाक बनी रहे और उधर गणराज्यों की शक्ति कमजोर पड़ जाय। कंस की प्रकृति भी जरासंध से बहुत मिलती-जुलती थी। शायद जरासंध के बल पर ही कंस अपने पिता का प्रभुत्व छीन कर शूरसेन प्रदेश का राजा बन बैठा था।

अपने जामातृ और सहायक का इस प्रकार से वध होते देख जरासंध का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। अब उसने शूरसेन जनपद पर चढ़ाई करने

---

२८. हरिवंश में कृष्ण-बलराम के यज्ञोपवीत का कोई उल्लेख नहीं है, पर शिक्षा से पहले उसका विधान है। उनका विद्यारंभ संभवतः गोकुल में हुआ। बाद के पुराणों—जैसे पद्म (२७३, १-५), ब्रह्मवैवर्त (९९–१०२) और भागवत (४५, २६-५०) में यज्ञोपवीत का वर्णन है। इनके अनुसार गर्गाचार्य ने उन्हें गायत्री-मंत्र का उपदेश दिया। सांदीपनि के आश्रम में ये चौंसठ दिनों तक रहे। इतने दिनों में वे गुरुकुल की प्रथा का पालन करते हुए धनुर्विद्या में ही विशेष शिक्षा प्राप्त कर सके होंगे। उनकी अवस्था अब बढ़ चली थी, क्योंकि हरिवंश के अनुसार अब वे युवा ('प्राप्त यौवनदेहः') थे। देवी भागवत (२४, १५) के अनुसार सांदीपनि के यहाँ से लौटने पर उनकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी।

का पक्का विचार कर लिया। शूरसेन और मगध के बीच युद्ध का विशेष महत्त्व है, इसीलिए हरिवंश आदि पुराणों में इसका वर्णन विस्तार से मिलता है।

जरासंध की पहली चढ़ाई—जरासंध ने पूरे दल-बल के साथ शूरसेन जनपद पर चढ़ाई की। पौराणिक वर्णनों के अनुसार उसके सहायक कारूष का राजा दंतवक्र, चेदिराज शिशुपाल, कलिंगपति पौंड्र, भीष्मक-पुत्र रुक्मी, क्राथ अंशुमान तथा अंग, बंग, कोशल, दशार्ण, मद्र, त्रिगर्त आदि के राजा थे। इनके अतिरिक्त शाल्वराज, पवनदेश का राजा भगदत्त, सौवीरराज, गंधार का राजा सुबल नग्नजित्, काश्मीर का राजा गोनर्द, दरद देश का राजा तथा कौरवराज दुर्योधन आदि भी उसके सहायक थे। मगध की विशाल सेना ने मथुरा पहुँच कर नगर के चारों फाटकों को घेर लिया।[२९] सत्ताईस दिनों तक जरासंध मथुरा नगर को घेरे पड़ा रहा, पर वह मथुरा का अभेद्य दुर्ग न जीत सका। संभवतः समय से पहले ही खाद्य-सामग्री के समाप्त हो जाने के कारण उसे निराश होकर मगध लौटना पड़ा।

दूसरी बार जरासंध पूरी तैयारी से शूरसेन पहुँचा। यादवों ने अपनी सेना इधर-उधर फैला दी। युवक बलराम ने जरासंध का अच्छा मुकाबला किया। लुका-छिपी के युद्ध द्वारा यादवों ने मगध-सैन्य को बहुत छकाया। श्रीकृष्ण जानते थे कि यादव-सेना की संख्या तथा शक्ति सीमित है और वह मगध की विशाल सेना का खुलकर सामना नहीं कर सकती। इसीलिए उन्होंने लुका-छिपी वाला आक्रमण ही उचित समझा। इसका फल यह हुआ कि जरासंध परेशान हो गया और हताश होकर ससैन्य लौट पड़ा। इस युद्ध में संभवतः कारूष-पति दमघोष तथा चेदि-सेना भी कुछ कारणों से जरासंध से अलग होकर यादवों से मिल गई थी।

पुराणों के अनुसार जरासंध ने अठारह बार मथुरा पर चढ़ाई की। सत्रह बार वह असफल रहा। अंतिम चढ़ाई में उसने एक विदेशी शक्तिशाली शासक कालयवन को भी मथुरा पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया।

---

२९. हरि० (अ० ९१)। पुराणों में यद्यपि अनेक देश के राजाओं का उल्लेख हुआ है, पर यह कहना कठिन है कि वास्तव में किन-किन राजाओं ने जरासंध की पहली मथुरा की चढ़ाई में उसकी सहायता की और अपनी सेनाएं इस निमित्त भेजीं। भागवत के अनुसार जरासंध की सेना २३ अक्षौहिणी थी; हरिवंश २० अक्षौहिणी तथा पद्म १०० अक्षौहिणी बताता है।

कृष्ण-बलदेव को जब यह ज्ञात हुआ कि जरासंध और कालयवन विशाल फौज लेकर आ रहे हैं तब उन्होंने मथुरा छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाना ही श्रेयस्कर समझा।[३०]

महाभिनिष्क्रमण

अब समस्या थी कि कहाँ जाया जाय? यादवों ने इस पर विचार कर निश्चय किया कि सौराष्ट्र की द्वारकापुरी में जाना चाहिए। यह स्थान पहले से ही यादवों का प्राचीन केन्द्र था और इसके आसपास के भूभाग में यादव बड़ी संख्या में निवास करते थे।

ब्रजवासी अपने प्यारे कृष्ण को न जाने देना चाहते थे और कृष्ण स्वयं भी ब्रज को क्यों छोड़ते? पर आपत्तिकाल में क्या नहीं किया जाता? कृष्ण ने मातृभूमि के वियोग में सहानुभूति प्रकट करते हुए ब्रजवासियों को कर्त्तव्य का ध्यान दिलाया और कहा—

"जरासंध के साथ हमारा विग्रह होगया है। यह दुःख की बात है। उसके साधन प्रभूत हैं। उसके पास वाहन, पदाति और मित्र भी अनेक हैं। यह मथुरा छोटी जगह है और प्रबल शत्रु इसके दुर्ग को नष्ट किया चाहता है। हम लोग यहाँ संख्या में भी बहुत बढ़ गये हैं, इस कारण भी हमारा इधर-उधर फैलना आवश्यक है।" (हरिवंश, ११४, ३८६)

---

३०. हरिवंश और भागवत के अनुसार जब कृष्ण ने यह सुना कि एक ओर से जरासंध और दूसरी ओर से कालयवन बड़ी सेनाएँ लेकर शूरसेन जनपद आ रहे हैं, तो उन्होंने यादवों को मथुरा से द्वारका रवाना कर दिया और स्वयं बलराम के साथ गोमंत पर्वत पर चढ़ गये। जरासंध पहाड़ पर आग लगा कर तथा यह समझ कर कि दोनों जल मरे होंगे, लौट गया। दूसरी कथा के अनुसार कृष्ण सब लोगों को द्वारका भेज चुकने के बाद कालयवन को आता देख अकेले भगे। कालयवन ने उनका पीछा किया। कृष्ण उसे वहाँ तक ले गये जहाँ सूर्यवंशी मुचकुंद सो रहा था। मुचकुंद को यह वर मिला था कि जो कोई उन्हें सोते से उठावेगा वह उनकी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जायगा। कृष्ण ने ऐसा किया कि कालयवन मुचकुंद द्वारा भस्म कर दिया गया। (हरि० १००, १०६; भाग० ५०, ४४-५२) आदि।

इस प्रकार पूर्व निश्चय के अनुसार उग्रसेन,कृष्ण,बलराम आदि के नेतृत्व में यादवों ने बहुत बड़ी संख्या में मथुरा से प्रयाण किया और सौराष्ट्र की नगरी द्वारावती में जाकर बस गये ।[31] द्वारावती का जीर्णोद्धार किया गया और उसमें बड़ी संख्या में नये मकानों का निर्माण हुआ ।[32]

मथुरा के इतिहास में महाभिनिष्क्रमण की यह घटना बड़े महत्व की है । यद्यपि इसके पूर्व भी यह नगरी कम-से-कम दो बार खाली की गई थी—पहली बार शत्रुघ्न-विजय के उपरांत लवण के अनुयायिओं द्वारा और दूसरी बार कंस के अत्याचारों से ऊबे हुए यादवों द्वारा—पर जिस बड़े रूप में मथुरा इस तीसरे अवसर पर खाली हुई वैसे वह पहले कभी नहीं हुई थी । इस निष्क्रमण के उपरांत मथुरा की आबादी बहुत कम रह गई होगी । काल-यवन और जरासंध की सम्मिलित सेना ने नगरी को कितनी क्षति पहुँचाई, इसका सम्यक् पता नहीं चलता । यह भी नहीं ज्ञात होता कि जरासंध ने अंतिम आक्रमण के फलस्वरूप मथुरा पर अपना अधिकार कर लेने के बाद शूरसेन जनपद के शासनार्थ अपनी ओर से किसी यादव को नियुक्त किया अथवा किसी अन्य को ।

परंतु जैसा कि महाभारत एवं पुराणों से पता चलता है, कुछ समय बाद ही श्रीकृष्ण ने बड़ी युक्ति के साथ पांडवों की सहायता से जरासंध का वध करा दिया । अतः मथुरा पर जरासंध का आधिपत्य अधिक काल तक न रह सका ।

बलराम का पुनः ब्रज-आगमन

संभवतः उक्त महभिनिष्क्रमण के बाद कृष्ण फिर कभी ब्रज न लौट सके । द्वारका में जीवन की जटिल समस्याओं में फँस कर भी कृष्ण ब्रजभूमि, नंद-यशोदा तथा साथ में खेले गोप-गोपियों को भूले नहीं । उन्हें ब्रज की सुधि

---

३१. महाभारत में यादवों के निष्क्रमण का समाचार श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर को इस प्रकार बताया गया है—

"वयं चैव महाराज जरासंधभयात्तदा ।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ (महाभा०, २,१३,६५)

३२. हरिवंश (अ० ११३) में आया है कि शिल्पियों द्वारा प्राचीन नगरी का जीर्णोद्धार किया गया । विश्वकर्मा ने सुधर्मा सभा का निर्माण किया (अ० ११६) । दे० देवीभागवत (२४, ३१)—

"शिल्पिभिः कारयामास जीर्णोद्धारम् ।"

प्रायः आया करती थी। अतः बलराम को उन्होंने भेजा कि वे वहाँ आकर लोगों को सांत्वना दें। बलराम ब्रज में दो मास तक रहे। इस समय का उपयोग भी उन्होंने अच्छे ढंग से किया। वे कृषि-विद्या में निपुण थे। उन्होंने अपने कौशल से वृंदावन से दूर बहने वाली यमुना में इस प्रकार से बाँध बांधा कि वह वृंदावन के पास से होकर बहने लगी।[३३]

कृष्ण और पांडव

द्वारका पहुँच कर कृष्ण ने वहाँ स्थायी रूप से निवास करने का विचार दृढ़ किया और आवश्यक व्यवस्था में लग गये। जब पंचाल के राजा द्रुपद द्वारा द्रौपदी-स्वयंवर तथा मत्स्य-भेद की बात चारों तरफ फैली तो कृष्ण भी उस स्वयंवर में गये। वहाँ उनकी बुआ के लड़के पांडव भी मौजूद थे। यहीं से पांडवों के साथ कृष्ण की घनिष्टता का आरंभ हुआ। पांडव अर्जुन ने मत्स्य भेद कर द्रौपदी को प्राप्त कर लिया और इस प्रकार अपनी धनुर्विद्या का कौशल अनेक देश के राजाओं के समक्ष प्रकट किया। इससे कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन के प्रति वे विशेष रूप से आकृष्ट हुए। वे पांडवों के साथ हस्तिनापुर लौटे। कुरुराज धृतराष्ट्र ने पांडवों को इन्द्रप्रस्थ के आस-पास का प्रदेश दिया था। पांडवों ने कृष्ण के द्वारका-संबंधी अनुभव का लाभ उठाया। उनकी सहायता से उन्होंने जंगल के एक भाग को साफ करा कर इंद्रप्रस्थ नगर को अच्छे ढंग से बसाया। इसके बाद कृष्ण द्वारका लौट गये।

कृष्ण के द्वारका लौटने के कुछ समय बाद अर्जुन तीर्थ-यात्रा के लिए निकले। अनेक स्थानों में होते हुए वे प्रभासक्षेत्र पहुँचे। कृष्ण ने जब यह सुना तब वे प्रभास जाकर अपने प्रिय सखा अर्जुन को अपने साथ द्वारका ले आये। वहाँ अर्जुन का बड़ा स्वागत हुआ। उन दिनों रैवतक पर्वत पर यादवों का

---

३३. पुराणों में इस घटना को यह रूप दिया गया है कि बलराम अपने हल से यमुना को अपनी ओर खींच लिया (दे० ब्रह्म० १९७, ८; १९८, १९; विष्णु० २४, ८; २५, १९; भाग० अ० ६५) परंतु हरिवंश (१०३) में स्पष्ट कहा है कि यमुना पहले दूर बहती थी, उसे बलराम द्वारा वहाँ से निकट लाया गया, जिससे यमुना वृंदावन के खेतों के पास से बहने लगी। कई पुराणों में बलराम द्वारा गोकुल में अत्यधिक वारुणी-सेवन का भी उल्लेख है और लिखा है कि यहाँ रेवती से उनका विवाह हुआ। परंतु अन्य प्रमाणों के आधार पर बलराम का रेवती से विवाह द्वारका में हुआ।

पांडवों का राजसूय यज्ञ और जरासंध का वध

कुछ समय बाद युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ की तैयारियाँ आरंभ कर दीं और आवश्यक परामर्श के लिए कृष्ण को बुलाया। कृष्ण इन्द्रप्रस्थ आये और उन्होंने राजसूय यज्ञ के विचार की पुष्टि की। उन्होंने यह सुझाव दिया कि पहले अत्याचारी शासकों को नष्ट कर दिया जाय और उसके बाद यज्ञ का आयोजन किया जाय। कृष्ण ने युधिष्ठिर को सबसे पहले जरासंध पर चढ़ाई करने की मंत्रणा दी। तदनुसार भीम और अर्जुन के साथ कृष्ण रवाना हुए और कुछ समय बाद मगध की राजधानी गिरिव्रज पहुँच गये। कृष्ण की नीति सफल हुई और उन्होंने भीम के द्वारा मल्लयुद्ध में जरासंध को मरवा डाला। जरासंध की मृत्यु के बाद कृष्ण ने उसके पुत्र सहदेव को मगध का राजा बनाया।[३७] फिर उन्होंने गिरिव्रज के कारागार में बन्द बहुत से राजाओं को मुक्त किया। इस प्रकार कृष्ण ने जरासंध-जैसे महापराक्रमी और क्रूर शासक का अन्त कर बड़ा यश पाया। जरासंध के पश्चात् पांडवों ने भारत के अन्य कितने ही राजाओं को जीता।

अब पांडवों का राजसूय यज्ञ बड़ी धूमधाम से आरम्भ हुआ। कृष्ण ने यज्ञ में आये हुए ब्राह्मणों के पैर आदर-भाव से धोये। ब्रह्मचारी भीष्म ने कृष्ण की प्रशंसा की तथा उनकी 'अग्रपूजा' करने का प्रस्ताव किया। सहदेव ने सर्वप्रथम कृष्ण को अर्घ्यदान दिया। चेदि-नरेश शिशुपाल कृष्ण के इस सम्मान को सहन न कर सका और उलटी-सीधी बातें करने लगा। उसने युधिष्ठिर से कहा कि "कृष्ण न तो ऋत्विक् है, न राजा और न आचार्य। केवल चापलूसी के कारण तुमने उसकी पूजा की है।"[३८] शिशुपाल दो कारणों से कृष्ण से विशेष द्वेष मानता था—प्रथम तो विदर्भ-कन्या रुक्मिणी के कारण, जिसको कृष्ण हर लाये थे और शिशुपाल का मनोरथ अपूर्ण रह गया था। दूसरे जरासंध के वध के कारण, जो शिशुपाल का घनिष्ट

---

३७. कृष्ण और पांडवों के पूर्व से लौटने के बाद सहदेव के कई प्रतिद्वंद्वी खड़े होगये, जिन्होंने मगध साम्राज्य के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया। कुरुराज दुर्योधन ने कुछ समय बाद कर्ण को अंग देश का शासक बनाया, जिसने वंग और पुंड्र राज्यों को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार दुर्योधन को पूर्व में एक शक्तिशाली सहायक प्राप्त होगया।

३८. "नैव ऋत्विङ् न चाचार्यो न राजा मधुसूदनः।
चर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत् प्रियकाम्यया ॥" (महाभा० २,३७,१७)

मित्र था। जब शिशुपाल यज्ञ में कृष्ण के अतिरिक्त भीष्म और पांडवों की भी निंदा करने लगा तब कृष्ण से न सहा गया और उन्होंने उसे मुख बंद करने की चेतावनी दी। किंतु वह चुप नहीं रह सका। कृष्ण ने अन्त में शिशुपाल को यज्ञ में ही समाप्त कर दिया। अब पांडवों का राजसूय यज्ञ पूरा हुआ। पर इस यज्ञ तथा पांडवों की बढ़ती को देख उनके प्रतिद्वंद्वी कौरवों के मन में विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और वे पांडवों को नीचा दिखाने का उपाय सोचने लगे।

युद्ध की पृष्ठभूमि

यज्ञ के समाप्त हो जाने पर कृष्ण युधिष्ठिर से आज्ञा ले द्वारका लौट गये। इसके कुछ समय उपरांत दुर्योधन ने अपने मामा शकुनि की सहायता से छल द्वारा जुए में पांडवों को हरा दिया और उन्हें इस शर्त पर तेरह वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया कि अंतिम वर्ष उन्हें अज्ञातवास करना पड़ेगा। पांडव द्रौपदी के साथ काम्यक वन की ओर चले गये। उनके साथ सहानुभूति रखने वाले बहुत से लोग काम्यक वन में पहुँचे, जहाँ पांडव ठहरे थे। भोज, वृष्णि और अंधक-वंशी यादव तथा पंचाल-नरेश द्रुपद भी उनसे मिले। कृष्ण को जब यह सब ज्ञात हुआ तो वह शीघ्र पांडवों से मिलने आये। उनकी दशा देख तथा द्रौपदी की आक्रोशपूर्ण प्रार्थना सुन कृष्ण द्रवित हो उठे। उन्होंने द्रौपदी को वचन दिया कि वे पांडवों की सब प्रकार से सहायता करेंगे और उनका राज्य वापस दिलावेंगे। इसके बाद कृष्ण सुभद्रा तथा उसके बच्चे अभिमन्यु को लेकर द्वारका वापस गये।

पांडवों ने अज्ञात-वास का एक साल राजा विराट के यहाँ व्यतीत किया। कौरवों ने विराट पर चढ़ाई कर उनके पशु छीन लिये थे, पर पांडवों की सहायता से विराट ने कौरवों पर विजय पाई और अपने पशुओं को लौटा लिया। विराट को अन्त में यह ज्ञात हुआ कि उनके यहाँ पांडव गुप्त रूप से अब तक निवास करते रहे थे। उन्होंने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया। इस विवाह में अभिमन्यु के मामा कृष्ण-बलदेव भी सम्मिलित हुए।

इसके उपरांत विराट नगर में सभा हुई और उसमें विचार किया गया कि कौरवों से पांडवों का समझौता किस प्रकार कराया जाय। बलराम ने कहा कि शकुनि का इस झगड़े में कोई दोष नहीं था; युधिष्ठिर उसके साथ जुआ खेलने ही क्यों गये? हाँ, यदि किसी प्रकार संधि हो जाय तो अच्छा है। सात्यकी और द्रुपद को बलराम की ये बातें अच्छी नहीं लगीं। कृष्ण ने द्रुपद

के कथन की पुष्टि करते हुए कहा कि कौरव अवश्य दोषी हैं। अंत में सर्व-सम्मति से यह तय हुआ कि संधि के लिए किसी योग्य व्यक्ति को दुर्योधन के पास भेजा जाय। द्रुपद ने अपने पुरोहित को इस काम के लिए भेजा। कृष्ण इस सभा में सम्मिलित होने के बाद द्वारका चले गये। संधि की बात तय न हो सकी। दुर्योधन पांडवों को पाँच गाँव तक देने को राजी न हुआ।

अब युद्ध अनिवार्य जानकर दुर्योधन और अर्जुन दोनों श्रीकृष्ण से सहायता प्राप्त करने के लिए द्वारका पहुँचे। नीतिज्ञ कृष्ण ने पहले दुर्योधन से पूछा कि "तुम मुझे लोगे या मेरी सेना को?" दुर्योधन ने तत्काल सेना मांगी। कृष्ण ने अर्जुन को वचन दिया कि वह उसके सारथी बनेंगे और स्वयं शस्त्र न ग्रहण करेंगे।

कृष्ण अर्जुन के साथ इंद्रप्रस्थ आ गये। कृष्ण के आने पर पांडवों ने फिर एक सभा की और निश्चय किया कि एक बार संधि का और प्रयत्न किया जाय। युधिष्ठिर ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा—"हम पाँच भाइयों को अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और एक कोई अन्य गाँव निर्वाह-मात्र के लिए चाहिए। इतने पर ही हम मान जायँगे, अन्यथा युद्ध के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा।" उनके इस कथन का समर्थन अन्य लोगों ने भी किया। यह तय हुआ कि इस बार संधि का प्रस्ताव लेकर कृष्ण कौरवों के पास जायँ।

कृष्ण संधि कराने को बहुत इच्छुक थे। उन्होंने दुर्योधन की सभा में जाकर उसे समझाया और कहा कि केवल पाँच गाँव पांडवों को देकर झगड़ा समाप्त कर दिया जाय। परंतु अभिमानी दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया कि बिना युद्ध के वह पांडवों को सुई की नोक के बराबर भी जमीन न देगा।

महाभारत-युद्ध

इस प्रकार कृष्ण भी संधि कराने में असफल हुए। अब युद्ध अनिवार्य हो गया। दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेनाएँ तैयार करने लगे। इस भयंकर युद्धाग्नि में इच्छा या अनिच्छा से आहुति देने को प्रायः सारे भारत के शासक शामिल हुए। पांडवों की ओर मत्स्य, पंचाल, चेदि, कारुष, पश्चिमी मगध, काशी और कोशल के राजा हुए। सौराष्ट्र-गुजरात के वृष्णि यादव भी पांडवों के पक्ष में रहे। कृष्ण, युयुधान और सात्यकि इन यादवों के प्रमुख नेता थे। बलराम यद्यपि कौरवों के पक्षपाती थे, तो भी उन्होंने कौरव-पांडव-युद्ध में भाग लेना उचित न समझा और वे तीर्थ-पर्यटन के लिए चले गये। कौरवों की ओर शूरसेन प्रदेश के यादव तथा माहिष्मती, अवंति, विदर्भ और निषद देश के यादव हुए। इनके अतिरिक्त पूर्व में बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा उत्तर-पश्चिम

एवं पश्चिम भारत के सारे राजा और वत्स देश के शासक कौरवों की ओर रहे। इस प्रकार मध्यदेश का अधिकांश, गुजरात और सौराष्ट्र का बड़ा भाग पांडवों की ओर था और प्रायः सारा पूर्व, उत्तर-पश्चिम और पश्चिमी विंध्य कौरवों की तरफ। पांडवों की कुल सेना सात अक्षौहिणी तथा कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी थी।

दोनों ओर की सेनाएं युद्ध के लिए तैयार हुईं। कृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा सात्यकि ने पांडव-सैन्य की व्यूह-रचना की। कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान में दोनों सेनाएं एक-दूसरे के सामने आ डटीं। अर्जुन के सारथी कृष्ण थे। युद्धस्थल में अपने परिजनों आदि को देखकर अर्जुन के चित्त में विषाद उत्पन्न हुआ और उसने युद्ध करने से इनकार कर दिया। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया और उसकी भ्रांति दूर की। अब अर्जुन युद्ध के लिए पूर्णतया प्रस्तुत हो गया।

अठारह दिन तक यह महाभीषण संग्राम होता रहा। देश का अपार जन-धन इसमें स्वाहा हो गया। कौरवों के शक्तिशाली सेनापति भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि धराशायी हो गये। अठारहवें दिन दुर्योधन मारा गया और महाभारत-युद्ध की समाप्ति हुई। यद्यपि पांडव इस युद्ध में विजयी हुए, पर उन्हें शांति न मिल सकी। चारों ओर उन्हें क्षोभ और निराशा दिखाई पड़ने लगी। श्रीकृष्ण ने शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मपितामह से युधिष्ठिर को उपदेश दिलवाया। फिर हस्तिनापुर में राज्याभिषेक-उत्सव सम्पन्न करा कर वे द्वारका लौट गये। पांडवों ने कुछ समय बाद एक अश्वमेध यज्ञ किया और इस प्रकार वे भारत के चक्रवर्ती सम्राट् घोषित हुए। कृष्ण भी इस यज्ञ में सम्मिलित हुए और फिर द्वारका वापस चले गये। यह कृष्ण की अंतिम हस्तिनापुर-यात्रा थी। अब वे वृद्ध हो चुके थे। महाभारत-संग्राम में उन्हें जो अनवरत परिश्रम करना पड़ा उसका भी उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

श्रीकृष्ण का द्वारका का जीवन

द्वारका के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है कि यह नगर बिलकुल नवीन नहीं था। वैवस्वत मनु के एक पुत्र शर्याति को शासन में पश्चिमी भारत का भाग मिला था। शर्याति के पुत्र आनर्त के नाम पर काठियावाड़ और समीप के कुछ प्रदेश का नाम 'आनर्त' प्रसिद्ध हुआ। उसकी राजधानी

कुशस्थली के ध्वंसावशेषों पर कृष्णकालीन द्वारका की स्थापना हुई।[39] यहाँ आकर कृष्ण ने उग्रसेन को वृष्णिगण का प्रमुख बनाया। द्वारका में कृष्ण के वैयक्तिक जीवन की पहली मुख्य घटना थी—कुंडिनपुर[40] की सुंदरी राजकुमारी रुक्मिणी के साथ विवाह। हरिवंश पुराण में यह कथा विस्तार से दी हुई है। रुक्मिणी का भाई रुक्मी था। वह अपनी बहन का विवाह चेदिराज शिशुपाल से करना चाहता था। मगधराज जरासंध भी यही चाहता था। किंतु कुंडिनपुर का राजा कृष्ण को ही अपनी कन्या देना चाहता था। रुक्मिणी स्वयं भी कृष्ण को वरना चाहती थी। उसने उनके सौंदर्य और शौर्य की प्रशंसा सुन रखी थी। रुक्मिणी का स्वयंवर रचा गया और वहाँ से कृष्ण उसे हर ले गये। जिन लोगों ने उनका विरोध किया वे पराजित हुए। इस घटना से शिशुपाल कृष्ण के प्रति गहरा द्वेष मानने लगा।

हरिवंश के अनुसार बलराम का विवाह भी द्वारका जाकर हुआ।[41] संभवतः पहले बलराम का विवाह हुआ, फिर कृष्ण का। बाद के पुराणों में बलराम और रेवती की विचित्र कथा मिलती है।

कृष्ण की अन्य पत्नियाँ— रुक्मिणी के अतिरिक्त कृष्ण के सात

---

३९. यह स्थान आजकल 'मूल द्वारका' के नाम से ज्ञात है और प्रभासपट्टन के पूर्व कोडीनार के समीप स्थित है। ओखामंडल वाली द्वारका बाद में बसाई हुई प्रतीत होती है। सौराष्ट्र में एक तीसरी द्वारका पोरबंदर के पास है।

४०. यह कुंडिनपुर विदर्भ देश (बरार) में था। एक जनश्रुति के अनुसार कुंडिनपुर उत्तर प्रदेश के एटा जिले में वर्तमान नोहखेड़ा के पास था। किंवदंती है कि कृष्ण यहीं से रुक्मिणी को ले गये थे। नोहखेड़ा में आज भी रुक्मिणी की मढ़िया बनी है, जहाँ लगभग आठवीं शती की एक अत्यंत कलापूर्ण पाषाण-मूर्ति रुक्मिणी के नाम से पूजी जाती है। खेड़े से अन्य प्राचीन कलावशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्थान एटा नगर से करीब २० मील दक्षिण जलेसर तहसील में है।

४१. हरि०, अ० ११६। बलराम का विवाह आनर्त-वंशी यादव रेवत की पुत्री रेवती से हुआ।

अन्य पत्नियाँ होने का उल्लेख प्रायः सभी पुराणों में मिलता है ।[४२] इनके नाम सत्यभामा, जांबवती, कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा दिये हैं । इनमें से कई को तो उनके माता-पिता ने विवाह में प्रदान किया और शेष को कृष्ण विजय में प्राप्त कर लाये ।

संतान—पुराणों से ज्ञात होता है कि कृष्ण के संतानों की संख्या बड़ी थी ।[४३] रुक्मिणी से दस पुत्र और एक कन्या थी; इनमें सबसे बड़ा प्रद्युम्न था । भागवतादि पुराणों में कृष्ण के गृहस्थ-जीवन तथा उनकी दैनिक चर्या का हाल विस्तार से मिलता है । प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का विवाह शोणितपुर[४४] के राजा बाणासुर की पुत्री ऊषा के साथ हुआ ।

यादवों का अंत

अंधक-वृष्णि यादव बड़ी संख्या में महाभारत-युद्ध में काम आये । जो शेष बचे वे आपस में मिल-जुल कर अधिक समय तक न रह सके । श्रीकृष्ण-बलराम अब काफी वृद्ध हो चुके थे और संभवतः यादवों के ऊपर इनका प्रभाव भी कम हो गया था । पौराणिक विवरणों से पता चलता है कि यादवों में

---

४२. भाग० (५६-५७), वायु० (६६, २०-६८), पद्म० (२७६, १-३७), ब्रह्मवैवर्त० (१२२), ब्रह्मांड० (२०१, १५), हरिवंश (११८) आदि । पुराणों में नरकासुर का श्रीकृष्ण के द्वारा वध तथा उसके द्वारा बंदी सोलह हजार स्त्रियों के छुड़ाने का भी वर्णन मिलता है और कहा गया है कि कृष्ण ने इन सबसे विवाह कर लिया ।

४३. दे० भाग० ६१, १-१६; हरि० ११८ तथा १६२; ब्रह्मवै० ११२, ३६-४१ आदि ।

४४. यह शोणितपुर कहाँ था, इस संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं । कुछ लोग इसे गढ़वाल जिले में रुद्रप्रयाग के उत्तर ऊषीमठ के समीप मानते हैं । यहाँ बाणासुर द्वारा निर्मित किले के भग्नावशेष अब भी बताये जाते हैं । कुमायूँ पहाड़ी का कोटलगढ़, आगरा के समीप बयाना, नर्मदा पर स्थित तेवर (प्राचीन त्रिपुरी) तथा आसाम के तेजपुर को भी विभिन्न मतों के अनुसार शोणितपुर माना जाता है । श्री अमृतवसंत पंड्या का मत है कि शोणितपुर असीरिया में था और श्रीकृष्ण ने असीरिया पर आक्रमण कर बाणासुर (=असुर बानी पाल प्रथम) को परास्त किया (ब्रजभारती, फाल्गुन, सं० २००६, पृ० २५-३१) ।

विलास की वृद्धि हो चली थी और वे मदिरा-पान अधिक करने लगे थे। कृष्ण-बलराम के समझाने पर भी ऐश्वर्य से मत्त यादव न माने और वे कई दलों में विभक्त हो गये। एक दिन प्रभास के मेले में, जब यादव लोग वारुणी के नशे में चूर थे, वे आपस में लड़ने लगे। यह झगड़ा इतना बढ़ गया कि अंत में वे सामूहिक रूप से कट मरे। इस प्रकार यादवों ने गृह-युद्ध द्वारा अपना अन्त कर लिया।[४५]

अंतिम समय

प्रभास के यादव-युद्ध में चार प्रमुख व्यक्तियों ने भाग नहीं लिया, जिससे वे बच गये। ये थे—कृष्ण, बलराम, दारुक सारथी और बभ्रु। बलराम दुःखी होकर समुद्र की ओर चले गये और वहाँ से फिर उनका पता नहीं चला। कृष्ण बड़े मर्माहत हुए। वे द्वारका गये और दारुक को अर्जुन के पास भेजा कि वह आकर स्त्री-बच्चों को हस्तिनापुर लिवा ले जायँ। कुछ स्त्रियों ने जल कर प्राण दे दिये। अर्जुन आये और शेष स्त्री-बच्चों को लिवा कर चले।[४६] कहते हैं मार्ग में पश्चिमी राजपूताना के जंगली आभीरों से अर्जुन को मुकाबला करना पड़ा। कुछ स्त्रियों को आभीरों ने लूट लिया।[४७] शेष को अर्जुन ने शाल्वदेश और कुरुदेश में बसा दिया।

कृष्ण शोकाकुल होकर घने वन में चले गये थे। वे चिंतित हो लेटे हुए थे कि जरा नामक एक बहेलिये ने हरिण के भ्रम से तीर मारा। वह बाण श्रीकृष्ण के पैर में लगा, जिससे शीघ्र ही उन्होंने इस संसार को छोड़ दिया।

---

४५. विभिन्न पुराणों में इस गृह-युद्ध का वर्णन मिलता है और कहा गया है कि ऋषियों के शाप के कारण कृष्ण-पुत्र सांब के पेट से एक मुशल उत्पन्न हुआ, जिससे यादव-वंश का नाश हो गया। दे० महाभारत, मुशल पर्व; ब्रह्म पु० २१०-१२; विष्णु० ३७-३८; भाग० ग्यारहवां स्कंध अ० १, ६, ३०, ३१; लिंग पु० ६६,८३-६४ आदि।

४६. संभवतः इस अवसर पर अर्जुन की कृष्ण से भेंट न हो सकी। कृष्ण पहले ही द्वारका छोड़ गये होंगे। महाभारत (१६,७) में श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव से अर्जुन के मिलने का उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि वसुदेव इस समय तक जीवित थे। इसके बाद वसुदेव की मृत्यु तथा उनके साथ चार विधवा पत्नियों के चितारोहण का कथन मिलता है।

४७. महाभा० १६, ८, ६०; ब्रह्म० २१२, २६।

मृत्यु के समय वे संभवतः १०० वर्ष से कुछ ऊपर थे। कृष्ण के देहांत के बाद द्वापर का अंत और कलियुग का आरंभ हुआ।

श्रीकृष्ण के अंत का इतिहास वास्तव में यादव गण-तन्त्र के अंत का इतिहास है। कृष्ण के बाद उनके प्रपौत्र वज्र यदुवंश के उत्तराधिकारी हुए। पुराणों के अनुसार वे मथुरा आये और इस नगर को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। कहीं-कहीं उन्हें इन्द्रप्रस्थ का शासक कहा गया है।

अंधक-वृष्णि संघ

यादवों के अंधक-वृष्णि संघ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस संघ की कार्य-प्रणाली गणतंत्रात्मक थी और बहुत समय तक वह अच्छे ढंग से चलती रही। प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से पता चलता है कि अंधक-वृष्णि-संघ काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। इसका मुख्य कारण यही था कि संघ के द्वारा गणराज्य के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से पालन होता था; चुने हुए नेताओं पर विश्वास किया. जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कालांतर में अंधकों और वृष्णियों की अलग-अलग मान्यताएं हो गईं और उनमें कई दल हो गये। प्रत्येक दल अब अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहने लगा। इनकी सभाओं में सदस्यों को जी भर कर आवश्यक विवाद करने की स्वतन्त्रता थी। एक दल दूसरे की आलोचना भी करता था। जिस प्रकार आजकल अच्छे से अच्छे सामाजिक कार्यकर्ताओं की भी बुराइयाँ होती हैं, उसी प्रकार उस समय भी ऐसे दलगत आक्षेप हुआ करते थे। महाभारत के शांति पर्व के ८२ वें अध्याय में एक ऐसे वाद-विवाद का वर्णन है जो तत्कालीन प्रजा-तन्त्रात्मक प्रणाली का अच्छा चित्र उपस्थित करता है। यह वर्णन श्रीकृष्ण और नारद के बीच संवाद के रूप में है। उसका हिंदी अनुवाद नीचे दिया जाता है।

वासुदेव उवाच—"हे नारद, राज्य-संबंधी महत्वपूर्ण बातें न तो उससे कही जा सकती हैं जो अपना मित्र नहीं है; न उस मित्र से कही जा सकती हैं जो पंडित नहीं है और न उस पंडित से कही जा सकती हैं जो आत्म-संयमी नहीं है। (३)

"हे नारद, तुममें मैं सच्ची मित्रता पाता हूँ। इसीलिए तुमसे कुछ बातें कहना चाहता हूँ।(४)

"यद्यपि लोग उसे ऐश्वर्य या प्रभुत्व कहते हैं तथापि मैं जो कुछ करता हूँ वह वास्तव में अपनी जाति के लोगों का दासत्व है। मैं आधे

वैभव या शासनाधिकार का भोग करता हूँ, किंतु मुझे लोगों के केवल कठोर वचन ही सहने पड़ते हैं।(५) हे देवर्षि, उन लोगों के कठोर वचनों से मेरा हृदय उसी अरणी की भाँति जलता रहता है जिसे अग्नि उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति मथन करता है। वे दुरुक्त वचन सदा मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। (६)

"बलराम शक्ति-संपन्न हैं, गद में सुकुमारता है और प्रद्युम्न अपने रूप से मस्त हैं। हे नारद, मैं अपने को असहाय पाता हूं। (७)

"अन्य अंधक और वृष्णि लोग महाभाग, बलवान् और पराक्रमी हैं। हे नारद, वे लोग सदा से राजनैतिक बल (उत्थान) से संपन्न रहते हैं। (८) वे जिसके पक्ष में हो जाते हैं उसकी सब बातें सध जाती हैं और जिसके पक्ष में वे न हों उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। आहुक और अक्रूर जिस किसी के पक्ष में हों या न हों तो उसके लिए इससे बढ़ कर और आपत्ति नहीं हो सकती। मैं दोनों दलों द्वारा निवारित अपने को किसी एक का पोषक नहीं बना सकता। (९-१०)

"हे महामुने, इन दोनों के बीच मैं उन दो जुआरियों की माता की भाँति रहता हूँ जो आपस में एक-दूसरे के साथ जुआ खेलते हैं। जो माता न तो इस बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक जीते और न इस बात की कि अमुक हारे। (११)

"अतः हे नारद, तुम मेरी दुःखपूर्ण अवस्था पर और साथ ही मेरे संबंधियों की अवस्था पर विचार तो करो और कृपा कर कोई उपाय बतलाओ, जो दोनों के लिए श्रेय हो।"(१२)

नारद उवाच—"हे कृष्ण, दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं—एक तो बाह्य या बाहरी और दूसरी आभ्यंतर या भीतरी; अर्थात् एक तो वे जिनका प्रादुर्भाव अपने अंदर से होता है और दूसरी वे जिनका प्रादुर्भाव दूसरी जगह से होता है। (१३)

यहाँ जो आपत्ति है वह अपने कर्म से उत्पन्न आभ्यंतर है। अक्रूर-भोज के अनुयायी और उनके सब संबंधी या ज्ञाति के लोग धनप्राप्ति की आशा से सहसा प्रवृत्ति बदलने के कारण अथवा पारस्परिक ईर्ष्या से युक्त हैं। इसीलिए उन्होंने जो राजनैतिक अधिकार (ऐश्वर्य) प्राप्त किया था वह दूसरे के हाथ में चला गया है।(१४-१५)

"जाति या संबंधी में मतभेद या विरोध होने के भय से वे बभ्रु-उग्रसेन से राज्य या शासनाधिकार वापस नहीं ले सकते। हे कृष्ण, विशेषकर तुम उनकी सहायता नहीं कर सकते। (१६-१७)

"यदि कोई दुष्कर नियम-विरुद्ध कार्य करके यह बात कर भी ली जाय, उग्रसेन को अधिकार-च्युत कर दिया जाय, उसे प्रधान-पद से हटा दिया जाय, तो महाक्षय, व्यय और विनाश तक हो जाने की आशंका है।(१८)

"अतः तुम ऐसे शस्त्र का व्यवहार करो जो लोहे का न हो, बल्कि मृदु हो और फिर भी जो सबके हृदय छेद सकता हो। उस शस्त्र को बार-बार रगड़ कर तेज करते हुए संबंधियों की जीभ काट दो, उनका बोलना बंद कर दो। (१६)

"जो शस्त्र लोहे का बना हुआ नहीं है वह यह है कि जहाँ तक तुम्हारी शक्ति हो सदा उन लोगों का भोजन द्वारा सत्कार करो, उनकी बातें सहन किया करो, अपने अंतःकरण को सरल और कोमल रखो और उनकी योग्यता के अनुसार उनका आदर सत्कार किया करो। (२१)

"जो संबंधी या जाति के लोग कटु और लघु बातें कहते हों उनकी बातों पर ध्यान मत दो और अपने उत्तर से उनका हृदय, वाणी और मन शांत करो। (२२)

"जो महापुरुष नहीं है, आत्मवान् नहीं है और जिसके सहायक या अनुयायी नहीं हैं, वह उच्च राजनैतिक उत्तरदायित्व का भार सफलतापूर्वक वहन नहीं कर सकता। (२३)

"समतल भूमि पर तो हर एक बैल भारी बोझ लाद कर चल सकता है। पर कठिन बोझ लाद कर कठिन मार्ग पर चलना केवल बहुत अच्छे और अनुभवी बैल का ही काम है। (२४)

"केवल भेद-नीति के अवलंबन से ही संघों का नाश हो सकता है। हे केशव, तुम संघ के मुख्य या नेता हो। संघ ने तुम्हें इस समय प्रधान के रूप में प्राप्त किया है, अतः तुम ऐसा काम करो जिससे यह संघ नष्ट न हो। (२५)

"बुद्धिमत्ता, सहनशीलता, इंद्रिय-निग्रह और उदारता आदि ही वे गुण हैं जो किसी बुद्धिमान् मनुष्य में किसी संघ का सफलतापूर्ण नेतृत्व ग्रहण करने के लिए आवश्यक होते हैं। (२६)

"हे कृष्ण, अपने पक्ष की उन्नति करने से सदा धन,यश और आयु की वृद्धि होती है। तुम ऐसा काम करो जिससे तुम्हारे संबंधियों या जातियों का विनाश न हो। (२७)

"हे महाबाहो, समस्त अंधक-वृष्णि, यादव, कुकुर, भोज, उनके सब लोग और लोकेश्वर (शासक के अर्थ में) अपनी उन्नति तथा संपन्नता के लिए तुम्हीं पर निर्भर करते हैं।" (२६)

उक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि अंधक-वृष्णि संघ में शास्त्र के अनुसार व्यवहार (न्याय) संपादित होता था। अंतर और वाह्य विभाग, कूट विभाग, अर्थ विभाग—ये सब नियमित रूप से शासित होते थे। गण-मुख्यों का काम कार्यवाहक गण-प्रधान (राजन्य) देखता था। गण-मुख्यों—अक्रूर, अंधक,आहुक आदि—की समाज में प्रतिष्ठा थी। अंधक-वृष्णियों का मंत्रणागृह 'सुधर्मा' नाम से विख्यात था। समय-समय पर परिषद् की बैठकें महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करने के लिए हुआ करती थीं। 'सभापाल' परिषद् बुलाता था। प्रत्येक सदस्य को अपना मत निर्भीकता से सामने रखने का अधिकार था। जो अपने मत का सर्वोत्तम ढंग से समर्थन करता वह परिषद् को प्रभावित कर सकता था। गण-मुख्य अलग-अलग शाखाओं के नेता होते थे। राज्य के विभिन्न विभाग उनके निरीक्षण में कार्य करते थे। इन शाखाओं या जातीय संघों को अपनी-अपनी नीति के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता थी। महाभारत में यादवों की कुछ शाखाएं इसी कारण पांडवों की ओर से लड़ीं और कुछ कौरवों की ओर से। इससे स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध के समय जातीय-संघों का काफी जोर हो गया था।[४८]

---

४८. विस्तार के लिए देखिए के० एम० मुंशी—ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश, पृ० १३० तथा वासुदेवशरण अग्रवाल—इंडिया ऐज़ नोन टु पाणिनि (लखनऊ, १९५३), पृ० ४५२।

अध्याय ५

महाभारत के बाद से बुद्ध के पूर्व तक

[ई० पूर्व १४०० से ई० पूर्व ६०० तक]

महाभारत-संग्राम के बाद आर्यावर्त के अन्य कई जनपदों की तरह शूरसेन जनपद का भी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नहीं है। पुराणों के अनुसार महाभारत-युद्ध से लेकर महापद्मनंद के समय तक तेईस राजाओं ने शूरसेन पर शासन किया, परंतु इन राजाओं के नाम तथा अन्य ज्ञातव्य बातें नहीं मिलतीं।[1]

परीक्षित का शासन तथा नागों का उत्थान—पांडवों के बाद उनके पौत्र परीक्षित हस्तिनापुर राज्य के अधिकारी हुए। इनके शासन-काल में आर्यावर्त में अधिक समय तक शांति स्थापित न रह सकी। जैसा कि कतिपय पौराणिक उल्लेखों से पता चलता है, महाभारत-युद्ध के बाद उत्तर-पश्चिम में नागवंशी राजाओं की शक्ति प्रबल हो गई। तक्षशिला उनका प्रधान केन्द्र था। कुछ समय तक नाग लोगों का अधिकार तक्षशिला से लेकर शूरसेन प्रदेश तक फैल गया। इन नागों का प्रधान तक्षक था। तक्षक के संबंध में जो वर्णन उपलब्ध होते हैं उनसे अनुमान होता है कि वह बड़ा शक्तिशाली था। राजा परीक्षित नागों के बढ़ते हुए वेग को रोक न सके और अंत में तक्षक के द्वारा उनकी मृत्यु हुई। संभवतः कुछ समय तक नागों ने कुरु तथा शूरसेन प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया।

जनमेजय और उसके उत्तराधिकारी—परीक्षित का पुत्र जनमेजय बड़ा प्रतापी हुआ। उसने शक्ति बटोर कर नागों को उत्तर भारत से खदेड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए जनमेजय

---

१. पुराणों के अनुसार महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर महापद्मनंद के समय तक २३ शूरसेन, २४ ऐक्ष्वाकु, २७ पंचाल, २४ काशी, २८ हैहय, ३२ कलिंग, २५ अश्मक, ३६ कुरु, २८ मैथिल और २० वीतिहोत्र राजाओं ने भारत पर शासन किया। दे० पार्जीटर—डाइनेस्टीज़ आफ़ कलिएज, पृ० २३-४।

ने नागों का व्यापक संहार किया। उसके द्वारा किये गये नाग-यज्ञ[१] से इस बात का पता चलता है। जनमेजय ने सम्भवतः कुरु राज्य की सीमाएं भी बढ़ाईं। उसके राज्य-काल में उत्तर-भारत में प्रायः शांति रही।

जनमेजय के बाद क्रमशः शतानीक, अश्वमेधदत्त और अधिसीमकृष्ण नामक शासकों ने कुरु प्रदेश पर राज्य किया। अधिसीमकृष्ण की कई पीढ़ी बाद राजा नेमिचक्र हुए। उनके समय में गंगा में बहुत भारी बाढ़ आई, जिसके कारण हस्तिनापुर नगर का अधिकांश भाग डूब गया। इससे कुरु लोग हस्तिनापुर छोड़ कर दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये और यमुना के दक्षिण वत्स नामक प्रदेश में बस गये। इस प्रदेश की राजधानी कौशाम्बी (वर्तमान कोसम, जिला इलाहाबाद) हुई। कुरुओं के इस स्थानांतरण के बाद दक्षिण तथा पूर्व के जनपदों का महत्व बढ़ा और उत्तर-पश्चिम के राज्य धीरे-धीरे अपना गौरव खोने लगे।

पंचाल राज्य—शूरसेन जनपद के पूर्व में एक बड़ा राज्य था, जो 'पंचाल' कहलाता था। पंचाल लोग चंद्रवंशी क्षत्रिय थे। इनके पाँच मुख्य वर्ग—क्रिवि, तुर्वशु, केशिन, सृंजय और सोमक थे। इन पाँचों वर्गों के कारण ही प्रारंभ में जनपद की संज्ञा 'पंचाल' हुई होगी। वैदिक साहित्य तथा पुराणों में पंचाल के अनेक राजाओं के उल्लेख मिलते हैं। इनमें क्रैव्य, शोण सात्रासाह, दुर्मुख, दिवोदास, च्यवन पिजवन और सुदास प्रतापी शासक हुए। अंतिम तीनों शासकों के समय में पंचाल राज्य का बड़ा विस्तार हुआ। महाभारत-युद्ध के पहले पंचाल दो भागों में विभक्त था—एक उत्तर पंचाल, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा (वर्तमान रामनगर, जिला बरेली) थी और दूसरा दक्षिण-पंचाल, जिसकी राजधानी काम्पिल्य नगरी (वर्तमान कम्पिल, जिला फर्रुखाबाद) थी।

---

१. जनश्रुति के अनुसार जनमेजय के नाग-यज्ञ के कई स्थान प्रसिद्ध हैं। मैनपुरी जिले में पाढ़म नामक स्थान तथा पंजाब के गुड़गाँव जिले में सीहीं गाँव के पास 'नागश्री' नामक तालाब वे स्थान बताये जाते हैं जहाँ जनमेजय ने नाग-यज्ञ करके नागों का संहार किया। तक्षशिला भी ऐसा ही स्थान माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण (१३, ५, ४, १-३) से पता चलता है कि जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण (८, २१) में जनमेजय की राजधानी का नाम 'आसन्दीवन्त' (या आसन्दीवत्) दिया है। हो सकता है कि उत्तर-पश्चिम के आक्रमणों से बचाव के लिए उसने हस्तिनापुर के अतिरिक्त एक दूसरा दृढ़ केंद्र स्थापित कर लिया हो।

गंगा नदी इन दोनों भागों को एक-दूसरे से पृथक् करती थी। महाभारत-युद्ध के समय उत्तर पंचाल के शासक द्रोण थे, जिन्होंने अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ कौरवों का पक्ष लिया। दक्षिण पंचाल के राजा द्रुपद थे, जो अपने पुत्र धृष्टद्युम्न के सहित पांडवों की ओर से लड़े।

प्राचीन साहित्य में कुरु और पंचाल का नाम एक साथ बहुत मिलता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों जनपदों ने आपस में राजनैतिक मैत्री करली थी, जो बहुत समय तक कायम रही। कुरुवंशी राजा अश्वमेधदत्त के समकालीन पंचाल के शासक प्रवाहण जैवलि थे। ये उस समय के एक महान् दार्शनिक थे और इनके राज्यकाल में तत्वज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। उपनिषदों में मिलता है कि इनकी परिषद् में अपने ज्ञान की परीक्षा देने के लिए ऋषि-कुमार श्वेतकेतु गये थे। परीक्षा में असफल होने के कारण श्वेतकेतु ने अपने पिता आरुणि के सहित प्रवाहण जैवलि से आत्म-विद्या का उच्च ज्ञान प्राप्त किया।[4]

वैदिक उल्लेखों से पता चलता है कि पंचाल में वैदिक धर्म का बड़ा जोर था। यहाँ के कई राजाओं ने पांडवों की तरह अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ किये और ब्राह्मणों को दान में प्रभूत दक्षिणा दी। पंचालों की यज्ञ-प्रणाली को बहुत उत्तम कहा गया है। पंचाल लोग हेमंत ऋतु में विजय-यात्राओं के लिए निकलते थे और विजय प्राप्त करके ग्रीष्म में लौटते थे। इनके यहाँ की भाषा को बहुत श्रेष्ठ माना जाता था। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि पंचालों ने कुरुओं के साथ मिलकर संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रंथों को अंतिम रूप प्रदान किया।[5]

जैन-ग्रंथ 'विविध तीर्थकल्प' में महाभारत-युद्ध के बाद पंचाल के हरिषेण नामक एक शासक का जिक्र आया है और उसे पंचाल का दसवाँ चक्रवर्ती राजा लिखा है। इसी ग्रंथ में ब्रह्मदत्त नामक एक दूसरे सार्वभौम राजा का उल्लेख है।[6] 'महा उम्मग्ग' जातक में उत्तर पंचाल के एक राजा

---

३. उदाहरणार्थ वाजसनेयी संहिता ११, ३, ३; काठक सं० १०, ६; गोपथ ब्राह्मण १, २, ९; कौषीतकी उपनि० ४, १; शतपथ ब्रा० ३,२, ३, १५ तथा जैमिनीय ब्राह्मण २, ७८।

४. बृहदारण्यक उपनि० ६, १, १, ७; छांदोग्य० १,८,१; ५,३, १।

५. शतपथ ५,५,२,३; तैत्तिरीय ब्रा० १,८,४,१-२।

६. काम्पिल्यपुर तीर्थकल्प (सं० २५)—'तत्थेव नयरे दसमो चक्कवट्टी हरिसेणो नाम संजाओ। तहा दुवालसमो सव्वभोमो बंभदत्तनामा तत्थेव समुप्पण्णो।'

का नाम 'चूलनी ब्रह्मदत्त' दिया है। इस राजा के लिए कहा गया है कि इसने लगभग सारे जंबूद्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वाल्मीकि रामायण[७] में पंचाल के ब्रह्मदत्त राजा की चर्चा मिलती है। इन तथा अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मदत्त पंचाल का एक प्रसिद्ध राजा था। संभवतः उसके वैदिक-धर्मानुयायी होने के कारण बौद्ध-साहित्य में कहीं-कहीं उसे बुरा शासक कहा गया है।

यादव वंश—द्वारका के यादवों का नाश एक प्रकार से यदुवंश की प्रमुख शक्ति का नाश था। भारत में अन्य कई भागों में भी यादवों के राज्य थे, परंतु उनकी शक्ति और विस्तार प्रायः सीमित थे। श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम और बुद्धिमत्ता से यादवों का एक विशाल राज्य स्थापित कर लिया था। उन्होंने यादव-सत्ता की जैसी धाक भारत में जमा दी थी वैसी उनके बाद स्थिर न रह सकी। प्रभास के महानाश के अनन्तर जो लोग द्वारका में बचे उनकी दशा शोचनीय हो गई। उग्रसेन, वसुदेव तथा कृष्ण की अनेक स्त्रियाँ, कुछ पुराणों के अनुसार, संताप से पीड़ित हो आग में जल मरीं। जो स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े शेष रहे उन्हें श्रीकृष्ण के आदेशानुसार अर्जुन अपने साथ लिवाकर हस्तिनापुर की ओर चले। दुर्भाग्य से मार्ग में आभीरों ने उन पर हमला किया और कुछ स्त्रियों को लूट ले गये। अर्जुन इस पर बहुत क्षुब्ध हुए परंतु वे आभीरों को रोक न सके। शेष यादवों को लेकर अर्जुन इंद्रप्रस्थ पहुँचे और उन्हें यथास्थान बसाया। पुराणों से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के लड़के वज्र या वज्रनाभ को अर्जुन ने शूरसेन जनपद के सिंहासन पर अभिषिक्त किया।[८]

शूरसेन जनपद की दशा—वज्र के बाद शूरसेन जनपद पर कौन-कौन से यादव या अन्य शासक हुए, इसका पता नहीं चलता। पुराण संख्योल्लेख के अतिरिक्त इस विषय पर मौन हैं। संभवतः इन राजाओं में कोई इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जिसकी चर्चा पुराणकार करते। अन्यथा जहाँ शूरसेन के पड़ोसी जनपद कुरु और पंचाल के अनेक शासकों के उल्लेख मिलते हैं वहाँ मथुरा के कुछ राजाओं के भी नाम दिये जाते।

इस काल में कुरु-पंचाल जनपदों का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव शूरसेन जनपद पर अवश्य पड़ा होगा। शूरसेन की स्थिति इन दोनों शक्ति-

---

७. बालकांड, अध्याय ३३।

८. भागवत पु० (११, ३१, २५) के अनुसार अर्जुन ने इंद्रप्रस्थ में वज्र को अभिषिक्त किया।

शाली राज्यों के बीच में थी। महाभारत-युद्ध में शूरसेन और उत्तर-पंचाल ने कुरुओं की सहायता की थी। संभवतः इसके बाद भी इन तीनों राज्यों की मैत्री जारी रही। उपनिषद्-काल में पंचाल राज्य में तत्वज्ञान की उन्नति से शूरसेन जनपद ने भी प्रेरणा ग्रहण की होगी और यहाँ भी इस विषय का विकास हुआ होगा। कुरु-पंचाल में प्रचलित 'श्रेष्ठ भाषा' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शूरसेन में भी उस समय इसी भाषा का प्रचलन रहा होगा। संभवतः यहाँ भी ब्राह्मण तथा आरण्यक साहित्य का संकलन एवं कतिपय उपनिषदों का प्रणयन हुआ। प्राक्-बौद्धकाल में शूरसेन जनपद वैदिक धर्म का एक प्रधान-केन्द्र था, जिसका पता बौद्ध साहित्य से चलता है।

सोलह महाजनपद

महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पहले भारत में सोलह बड़े जनपद थे। प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में ये 'सोलस महाजनपद' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१] इनमें से कई महाभारत-युद्ध के पूर्व भी विद्यमान थे। ये सोलह बड़े राज्य इस प्रकार थे—

१. काशी—इसकी राजधानी बाराणसी (बनारस) थी। ब्रह्मदत्त राजाओं के राज्यकाल में इस राज्य की अच्छी उन्नति हुई।

२. कोशल—इस राज्य की राजधानी श्रावस्ती (वर्तमान सहेत-महेत, जि० गोंडा–बहराइच) थी। इसके पहले साकेत और अयोध्या कोशल के प्रधान नगर थे।

३. मगध—(आधुनिक पटना और गया जिले)। राजधानी गिरिव्रज थी। धीरे-धीरे मगध जनपद अन्य जनपदों से विस्तार एवं शक्ति में बहुत बढ़ गया।

४. अंग—(मगध के पूर्व में) इसकी राजधानी चंपा नगरी वर्तमान भागलपुर के निकट थी।

५. वज्जि—आठ क्षत्रिय जातियों ने मिल कर इस राज्य की स्थापना की थी। ये जातियाँ वज्जि, लिच्छवि, विदेह, ज्ञातृक आदि थीं। इस जनपद की राजधानी वैशाली थी। यह गणराज्य था।

---

१. दे० बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय', १, २१३; ४, २५२–५६। जैन-ग्रंथ 'भगवती सूत्र' में दी हुई सूची का क्रम बौद्ध सूची से कुछ भिन्न है। विस्तार के लिए देखिए रमाशंकर त्रिपाठी—'हिस्ट्री ऑफ़ ऐंश्यंट इंडिया' (बनारस, १९४२) पृष्ठ ८२-४।

६. मल्ल—यह भी गणराज्य था और हिमालय की तराई में स्थित था। मल्लों की दो शाखाएँ थीं—एक का केन्द्र कुशीनारा में था और दूसरी का पावा में।

७. चेटि या चेदि—यह राज्य आधुनिक बुंदेलखंड में था। इसकी राजधानी सूक्तिमती थी, जिसे 'सोत्थिवती' नगर भी कहते थे।

८. वंस या वत्स—अवंती राज्य के पूर्वोत्तर में यमुना के किनारे यह राज्य था। इसकी राजधानी कौशांबी थी।

९. कुरु—दिल्ली के आस-पास का प्रदेश। इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर इसके प्रधान नगर थे।

१०. पंचाल—आधुनिक रुहेलखंड। इसके दो भाग थे—उत्तर और दक्षिण पंचाल। इन दोनों के बीच की सीमा गंगा नदी थी। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और दक्षिण पंचाल की कांपिल्य थी।

११. मत्स्य—कुरु राज्य के दक्षिण, यमुना के पश्चिम में यह राज्य था। इसकी राजधानी विराटनगर थी।

१२. शूरसेन—मत्स्य राज्य के पूर्व में था; राजधानी मथुरा थी।

१२. अस्सक (अश्मक)—बुद्ध के समय में यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर था। इसकी राजधानी पोतली या पोतन थी। इसके पूर्व यह राज्य अवंती और मथुरा राज्यों के बीच में फैला हुआ था।

१४. अवंती—आधुनिक पश्चिमी मालवा। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। यह राज्य बहुत बड़ा था। इसके दक्षिण भाग की राजधानी माहिष्मती थी।

१५. गांधार—वर्तमान पेशावर के पूर्व का भाग। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

१६. कम्बोज—अफगानिस्तान का पूर्वी भाग (तुखार देश)। इसके मुख्य नगर राजपुर और द्वारका थे।

उपर्युक्त सोलह बड़े जनपदों के अतिरिक्त तत्कालीन भारत में अनेक छोटे जनपद भी थे, जैसे—केकय, त्रिगर्त, यौधेय, अंबष्ठ, शिवि, सौवीर, आंध्र आदि। सोलह महाजनपद बहुत काल तक यथापूर्व स्थिति में न रह सके। इनमें से कुछ में दूसरों को हड़प कर अपना विस्तार बढ़ाने की भावना बढ़ी, विशेष कर पूर्वी जनपदों में। काशी, कोशल, मगध, अङ्ग, वत्स आदि राज्यों में हम यह बात स्पष्ट रूप से पाते हैं। इसका फल यह हुआ कि विभिन्न जनपदों के बीच संधि-विग्रह की घटनाएँ द्रुतगति से बढ़ने लगीं। महात्मा बुद्ध के समय तक आते-आते मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति—ये भारत के चार प्रधान राज्य बन गये और इनके सामने प्रायः सभी अन्य जनपदों की स्थिति गौण हो गई।

———

अध्याय ६

मगध साम्राज्य के अंतर्गत शूरसेन

[लगभग ई० पूर्व ६०० से ई० पूर्व १०० तक]

बुद्ध के समय में उत्तर भारत—महात्मा बुद्ध के जीवन-काल (ई० पूर्व ६२३–५४३) में उत्तर भारत की राजनैतिक स्थिति का कुछ परिचय तत्कालीन साहित्य से प्राप्त होता है। जैसा कि पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, उस समय नृपतंत्र के साथ-साथ गणतंत्र-व्यवस्था भी विद्यमान थी। शाक्य, भग्ग, मल्ल, मोरिय, लिच्छवि आदि प्रसिद्ध गणराज्य थे। महात्मा बुद्ध का जन्म शाक्य-वंश में हुआ था और जैन तीर्थंकर महावीर भी ज्ञातृक नामक कुल में पैदा हुए थे। इन दोनों ही वंशों में गणतांत्रिक मान्यताएं थीं। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि तत्कालीन अनेक गणराज्य शक्तिशाली थे। लिच्छवियों की शासन-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संचालित होती थी। कुछ गणों ने मिल कर उसी प्रकार अपने संघ बना लिये जिस प्रकार कि श्रीकृष्ण के समय में अंधक-वृष्णि संघ था।[1] ये गणराज्य नंदवंशीय महापद्मनंद के समय तक और इनमें से कुछ गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समय तक चलते रहे।

परंतु बुद्ध के समय में नृपतन्त्र-शासन का अधिक प्रचलन हो चला था। शक्ति के विस्तार के लिए कई राज्यों में होड़-सी लगी हुई थी। धीरे-धीरे सोलह बड़े जनपदों में से चार ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। ये चार राज्य मगध, कोशल, वत्स और अवंती थे। अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए इन बड़े राज्यों ने अपने समीपवर्त्ती जनपदों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये। अवंती के तत्कालीन शासक चंड प्रद्योत ने अपनी लड़की का विवाह शूरसेन के राजा के साथ किया, जिससे अवंतिपुत्र का जन्म हुआ। चंड प्रद्योत की दूसरी लड़की वासवदत्ता का विवाह कौशाम्बी के प्रसिद्ध शासक उदयन के

---

१. ई० पूर्व ५०० के लगभग लिखी गई पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक 'आयुधजीवी' संघों का उल्लेख है, यथा—वृक, दामनि, त्रिगर्त षष्ठ, यौधेय, पर्शु, बाह्लीक, असुर, वृजि, राजन्य, भरत, उशीनर, सात्वत, दाशार्ह आदि। दे० वासुदेवशरण अग्रवाल—इंडिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४४३-५४। इनमें सात्वत तथा दाशार्ह नामक संघ महाभारत के अनुसार अंधक-वृष्णि संघ के अंतर्गत थे।

साथ हुआ। तत्कालीन समृद्ध एवं विशाल अवंती राज्य के साथ शूरसेन राज्य का वैवाहिक संबंध इस बात का सूचक है कि उस समय भी शूरसेन की स्थिति महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी।[२] यह भी संभव है कि इस वैवाहिक संबंध द्वारा अवंती राज्य का कुछ प्रभाव शूरसेन जनपद पर स्थापित हो गया हो।

बौद्ध साहित्य में शूरसेन और मथुरा—बौद्ध साहित्य में 'सोलस महाजनपद' के अंतर्गत शूरसेन तथा उसकी राजधानी मथुरा का उल्लेख मिलता है। जातक साहित्य तथा कतिपय अन्य बौद्ध ग्रन्थों में मथुरा संबंधी विविध विवरण प्राप्त होते हैं। घट जातक में कृष्ण-कालीन ऐतिहासिक परंपरा की कुछ कड़ियाँ मिलती हैं, परंतु इस जातक में महाभारत और पुराणों में प्राप्त कृष्ण-कथा के अतिरिक्त कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। कहीं-कहीं तो घट जातक में तथ्यों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा गया है और कुछ विचित्र कल्पनाओं की भी सृष्टि की गई है, जैसे—असितंजना नगरी के राजा महाकंस के लड़के कंस–उपकंस तथा पुत्री देवगब्भा (देवगर्भा) का वर्णन, देवगब्भा का 'उत्तर मधुरा' के निवासी उपसागर से विवाह तथा उनके दस पुत्रों का जीवित रहना, आदि।[3]

अवंतिपुत्र (अवंतिपुत्तो) का नाम बौद्ध साहित्य में अनेक जगह मिलता है। ललितविस्तर ग्रंथ में शूरसेन के राजा सुबाहु का भी उल्लेख आया है। यह नहीं कहा जा सकता कि सुबाहु और अवंतिपुत्र में क्या संबंध था। मज्झिमनिकाय आदि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि अवंतिपुत्र पहले वैदिक-धर्म का अनुयायी था, परंतु बाद में वह बौद्ध हो गया। हो सकता है कि बौद्ध विद्वान् महाकात्यायन (महाकच्चान) का उस पर प्रभाव पड़ा हो।[४] अंगुत्तर-

---

२. पाणिनि ने अपने समय के जनपदों—मद्र, उशीनर, कुरु, भरत, सौवीर, अश्मक, कोशल, काशी, मगध, कलिंग आदि—का उल्लेख किया है। परन्तु शूरसेन का नाम अष्टाध्यायी में नहीं मिलता।

३. जातक (कावेल का सं०), जि० ४, पृ० ५० और आगे। पेतवत्थु आदि ग्रंथों में देवगब्भा के दस पुत्रों द्वारा असितंजना से लेकर द्वारावती तक के प्रदेश को जीतने का वर्णन मिलता है। महावस्तु में मथुरा के एक धनी सेठ की विदुषी कन्या का हाल विस्तार से दिया है (महावस्तु—बी० सी० लाहा का सं०, पृ० १६०)।

४. मज्झिमनिकाय (जिल्द २, पृ० ८३) में महाकच्चान के साथ अवंतिपुत्तो का संवाद वर्णित है, जिसमें जातिगत बड़ाई-छुटाई को हेय बताया गया है। माधुर्य सुत्तंत के अनुसार इन दोनों की भेट मथुरा के गुंदवन में हुई।

निकाय ग्रंथ से पता चलता है कि बुद्ध शूरसेन जनपद में कई बार आये । प्रारम्भ में उन्हें यहाँ बड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ, जिसके कारण उनके मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा । मथुरा की तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में बुद्ध ने कई दोष देखे । यहाँ की भूमि में उन्हें कोई आकर्षण नहीं दिखाई पड़ा, क्योंकि यहाँ धूल और रेत की अधिकता थी तथा भूमि ऊबड़-खाबड़ थी । मथुरा में उन दिनों भीषण कुत्तों का बड़ा जोर था और 'यक्ष' लोग भी बाहर से आये हुए लोगों को तङ्ग करते थे । महात्मा बुद्ध ने यह भी देखा कि यहाँ भिक्षा मिलने में बड़ी कठिनाई होती थी ।

मथुरा में उस समय वैदिक धर्म का जोर था; इसलिए यहाँ के लोगों ने बुद्ध के प्रति वैसी श्रद्धा और सम्मान का भाव न प्रकट किया होगा जैसा कि उन्हें पूर्व के जनपदों में प्राप्त था । हो सकता है कि यहाँ के कुछ कट्टर लोगों ने वैदिक धर्म के विरोधी महात्मा बुद्ध को अच्छी दृष्टि से न देखा हो । जिन यक्षों का उल्लेख मिलता है वे स्वयं यक्ष न होकर उनके पूजक लोग होंगे । सम्भवतः उस समय भी यक्ष-मतानुयायी लोग मथुरा में अच्छी संख्या में विद्यमान थे । यहाँ की भूमि के संबंध में प्रकट किये गये बुद्ध के विचार भी ध्यान देने योग्य हैं । मथुरा के समीप ही यमुना नदी के होने से उस समय रेत की प्रचुरता रही होगी । नदी की धारा के बदलते रहने के कारण रेतीली भूमि का विस्तार भी बढ़ गया होगा । मथुरा की भूमि अनेक स्थानों पर आज भी समतल नहीं है । बुद्ध के समय में टीलों और झाड़-जंगलों का प्राचुर्य रहा होगा, जिसके कारण जमीन अधिक ऊबड़-खाबड़ दिखाई पड़ती होगी ।

मथुरा में बुद्ध के प्रति किसी ने सम्मान का भाव न प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं है । बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि मथुरा के अनेक निवासियों द्वारा बुद्ध को भिक्षा दी गई और उनके प्रति आदर प्रकट किया गया ।[५] सिंहली बौद्ध साहित्य में 'मधुरा' नगर को अत्यंत श्रेष्ठ नगर कहा गया है और उसे एक विस्तृत राज्य की राजधानी बताया गया है ।[६]

---

५. उदाहरणार्थ देखिए विमानवत्थु (भाष्य, पृ० ११८-११९), जिसके अनुसार 'उत्तर मधुरा' की एक स्त्री ने बुद्ध को भिक्षा दी । अंगुत्तर-निकाय (जि० २, पृ० ५७) में आया है कि एक बार बुद्ध मथुरा के समीप एक पेड़ की छाया में बैठे थे । वहाँ बहुत से गृहस्थ स्त्री-पुरुष आये, जिन्होंने बुद्ध की पूजा की । बुद्ध के एक शिष्य महाकाश्यप की पत्नी भद्रा कपिलानी मथुरा की निवासिनी थी ।

६. दे० दीपवंश (ओल्डनबर्ग द्वारा संपादित), पृ० २७ ।

बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि राजा अवंतिपुत्र के शासन-काल में चंड प्रद्योत के पुरोहित महाकात्यायन उज्जयिनी से मथुरा आये थे। चंड प्रद्योत ने उन्हें यहाँ इसलिए भेजा था कि वे महात्मा बुद्ध को उज्जयिनी आने के लिए निमंत्रित करें। उस समय बुद्ध मथुरा में ही विराजमान थे। महाकात्यायन ने मथुरा पहुँच कर बुद्ध के दर्शन किये। उनके उपदेश से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने तुरंत बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। बुद्ध महाकात्यायन के प्रति पूर्णतया संतुष्ट होने के बाद उनसे बोले—"भद्र, अब तुम्हीं वहाँ जाकर आवश्यक धर्म-प्रचार कर सकते हो।" बुद्ध के आदेशानुसार महाकात्यायन मथुरा से उज्जयिनी लौट गये।

बुद्ध के मथुरा आगमन के फलस्वरूप यहाँ के लोगों में बौद्ध धर्म की ओर थोड़ा-बहुत झुकाव हुआ होगा। यदि यह बात सत्य है कि मथुरा का तत्कालीन शासक अवंतिपुत्र बौद्ध हो गया, तो हो सकता है कि यहाँ की कुछ जनता ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया हो।[७] मौर्य शासन-काल में तो मथुरा में बौद्ध धर्म का एक अच्छा केन्द्र स्थापित हो गया, जो कई शताब्दियों तक विकसित होता रहा।

मगध साम्राज्य की उन्नति—महात्मा बुद्ध के समय से पूर्व में मगध राज्य की शक्ति बहुत बढ़ने लगी। पहले इस राज्य की राजधानी राजगृह थी, परन्तु बाद में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) मगध साम्राज्य की राजधानी हुई।। बुद्ध के समय में यहाँ शिशुनाग वंश का राज्य था। इस वंश में बिम्बिसार और उसका पुत्र अजातशत्रु शक्तिशाली शासक हुए। अजातशत्रु के राज्य-काल में कोशल तथा काशी राज्य भी मगध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये। इस महत्वाकांक्षी राजा ने लिच्छवियों के गणराज्य पर चढ़ाई कर उसे जीता और मगध में मिलाया।

ऐसा प्रतीत होता है कि शिशुनाग वंश के समय तक शूरसेन जनपद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रहा। संभवतः अवंतिपुत्र के बाद उसके वंशजों का यहाँ पर शासन रहा। पाँचवीं शती ई० पूर्व के अंत में मगध नंदवंश के अधिकार में आया। इस वंश में महापद्मनंद प्रतापी शासक हुआ। साम्राज्य-वाद की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर महापद्मनंद ने तत्कालीन अनेक छोटे-

---

७. महावस्तु (लाहा का सं०, पृ० ६) के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, काशी, कोशल आदि जनपदों के साथ शूरसेन जनपद में भी सत्य-ज्ञान का प्रचार किया।

बड़े स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व समाप्त कर दिया । इन्हीं कारणों से उसे पुराणों में 'अखिल क्षत्रांतक' तथा 'एकच्छत्र' कहा गया है।

महापद्मनंद ने कलिंग, चेदि, मिथिला, काशी, कुरु, पंचाल आदि अनेक जनपदों पर अपना अधिकार कर लिया। शूरसेन प्रदेश को भी जीत कर उसने उसे अपने विशाल राज्य में मिला लिया। यह संभवतः ई० पूर्व ४०० के लगभग हुआ। महापद्मनंद के बाद उसके कई पुत्रों ने मगध साम्राज्य पर शासन किया। ई० पूर्व ३२७ में सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण किया। वह पंजाब से आगे न बढ़ सका। इसका प्रधान कारण यह था कि जब उसकी सेना को यह ज्ञात हुआ कि आगे मगध साम्राज्य की अपार सेना है तो उसने व्यास नदी के आगे बढ़ने से इनकार कर दिया।

मौर्यवंश का अधिकार (ई० पूर्व ३२५-१८५)—नंदवंश की समाप्ति के बाद मगध पर मौर्य वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य (ई० पूर्व ३२५-२९८) इस वंश का पहला शासक था। उसने अपने प्रधान मंत्री चाणक्य या कौटिल्य की सहायता से मगध साम्राज्य को बहुत बढ़ाया। दक्षिण के कुछ भाग को छोड़ कर प्रायः समस्त भारत उसके अधिकार में आ गया। उत्तर-पश्चिम में मौर्य साम्राज्य की सीमा वंक्षु (आक्सस नदी) तक जा लगी। चंद्रगुप्त ने सिकन्दर के प्रशासक सिल्यूकस को हरा कर उससे काबुल, हिरात, कन्दहार तथा मकरान के प्रदेश जीत लिये। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को अपनी लड़की ब्याह दी और मेगस्थनीज नामक अपने राजदूत को मौर्य दरबार में भेजा। मेगस्थनीज ने तत्कालीन भारत की राजनैतिक और सामाजिक दशा का विवरण अपनी एक पुस्तक में लिखा। चंद्रगुप्त के बाद उसके पुत्र बिंदुसार (ई० पूर्व २९८-२७२) ने मगध साम्राज्य पर शासन किया। उसने पश्चिमी एशिया, यूनान तथा मिस्र से संबंध स्थापित किये और इन देशों के साथ प्रणिधि वर्ग का आदान-प्रदान किया।

अशोक—बिंदुसार का उत्तराधिकारी अशोक (ई० पूर्व २७२-२३२) मौर्य सम्राटों में सबसे प्रसिद्ध शासक हुआ। इसके समय में बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति हुई। देश के मुख्य-मुख्य स्थानों में अशोक ने बौद्ध स्तूपों का निर्माण कराया और शिलाओं तथा स्तम्भों पर अनेक राजाज्ञाएं उत्कीर्ण करवाईं। प्रसिद्ध है कि मथुरा में यमुना-तट पर अशोक ने विशाल स्तूपों का निर्माण कराया। जब चीनी यात्री हुएन-सांग ई० सातवीं शती में मथुरा आया तब

उसने अशोक के बनवाए हुए तीन स्तूप यहाँ देखे। इनका उल्लेख इस यात्री ने अपने यात्रा-विवरण में किया है।

मौर्यों के शासन-काल में मथुरा नगर की उन्नति हुई। मौर्य शासकों ने यातायात की सुविधा तथा व्यापारिक उन्नति के लिए अनेक बड़ी सड़कों का निर्माण करवाया। सबसे बड़ी सड़क पाटलिपुत्र से पुरुषपुर (पेशावर) तक जाती थी और लंबाई में लगभग १,८५० मील थी। यह सड़क राजगृह, काशी, प्रयाग, साकेत, कौशाम्बी, कन्नौज, मथुरा, हस्तिनापुर, शाकल, तक्षशिला और पुष्कलावती होती हुई पेशावर जाती थी। मेगस्थनीज के वर्णन के अनुसार इस सड़क पर आध-आध कोस के अंतर पर पत्थर लगे हुए थे। मेगस्थनीज संभवतः इसी मार्ग से होकर पाटलिपुत्र पहुँचा था। इस बड़ी सड़क के अतिरिक्त मौर्यों के द्वारा अन्य अनेक मार्गों का निर्माण कराया गया।

यूनानियों द्वारा शूरसेन प्रदेश का वर्णन—मेगस्थनीज ने शूरसेन प्रदेश की भी चर्चा की है। एरियन नामक यूनानी लेखक ने मेगस्थनीज के विवरण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'शौरसेनाइ' लोग 'हेराक्लीज' को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। शौरसेनाइ लोगों के दो बड़े नगर हैं—'मेथोरा' (Methora) और 'क्लीसोबोरा' (Kleisobora)। उनके राज्य में जोबरेस (Jobares)[८] नदी बहती है, जिसमें नावें चल सकती हैं[९]। प्लिनी नामक एक दूसरे यूनानी लेखक ने लिखा है कि जोमनेस (Jomanes) नदी मेथोरा और क्लीसोबोरा के बीच से बहती है।[१०] इस लेख का भी आधार मेगस्थनीज का उपर्युक्त लेख है। टालमी नाम के यूनानी लेखक ने मथुरा का नाम 'मोदुरा' दिया है और उसकी स्थिति १२५° तथा २०°-३०′ पर बताई है। उसने मथुरा को देवताओं का नगर कहा है।[११]

---

८. किसी-किसी प्रति में यह नाम Iobares मिलता है।

९. इंडिका ८; मैक्क्रिंडल—एंश्यंट इंडिया, मेगस्थनीज़ एंड एरियन, (कलकत्ता, १९२६ ई०), पृ० २०६।

१०. प्लिनी—नेचुरल हिस्ट्री ६, २२।

११. मैक्क्रिंडल—एंश्यंट इंडिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ टालमी (कलकत्ता १९२७), पृ० १२४।

यूनानी इतिहासकारों के इन वर्णनों पर विचार करने से पता चलता है कि मेगस्थनीज के समय में मथुरा जनपद 'शूरसेन'[१२] कहलाता था और उसके निवासी 'शौरसेन'। हेराक्लीज से यहाँ तात्पर्य श्रीकृष्ण से है। ई० पूर्व चौथी शती में शूरसेन जनपद के लोग श्रीकृष्ण को यदि देवरूप में नहीं तो महापुरुष के रूप में अवश्य मानते रहे होंगे और उनके प्रति बड़े आदर का भाव रखते रहे होंगे।

शौरसेन लोगों के जिन दो बड़े नगरों का उल्लेख किया गया है उनमें पहला तो स्पष्ट ही मथुरा है। दूसरा 'क्लीसोबोरा' कौन सा नगर था, यह विवादास्पद है। जनरल एलेक्जेंडर कनिंघम ने अब से लगभग ८० वर्ष पूर्व अपनी भारतीय भूगोल लिखते समय यह स्थापना की थी कि क्लीसोबोरा वृंदावन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि में उन्होंने लिखा था कि कालिय नाग के वृंदावन में रहने के कारण इस नगर का नाम 'कालिकावर्त' हुआ था। यूनानी लेखकों के क्लीसोबोरा का शुद्ध पाठ वे 'कालिसोबोर्क' या 'कालिकोबोर्त' समझते हैं। उन्हें इंडिका की एक पुरानी प्रति में 'काइरिसोबोर्क' पाठ मिला, जिससे उन्हें इस अनुमान को बल मिला।[१३] परंतु कनिंघम का यह अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। वृंदावन में रहने वाले नाग का नाम, जिसका श्रीकृष्ण ने दमन किया, कालिय मिलता है न कि कालिक। पुराणों या अन्य किसी साहित्य में वृन्दावन की संज्ञा कालियावर्त या कालिकावर्त मिल सके, इसमें भी संदेह है। यदि हम क्लीसोबोरा को वर्तमान वृंदावन मानें तो प्लिनी का यह लिखना कि मथुरा और क्लीसोबोरा के बीच से यमुना नदी बहती थी, असंगत सिद्ध होगा, क्योंकि वृंदावन और मथुरा दोनों ही यमुना नदी के एक ही ओर स्थित हैं।

कनिंघम ने अपनी १८८२–८३ की खोज-रिपोर्ट में क्लीसोबोरा के संबंध में अपना उपर्युक्त मत बदल कर इस शब्द का मूलरूप 'केशवपुरा'[१४] माना और उसकी पहचान उन्होंने केशवपुरा या कटरा केशवदेव के मुहल्ले से

---

१२. यह नाम शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ा और लगभग ई० सन् के प्रारंभ तक जारी रहा। इसके अनंतर जनपद का नाम उसकी राजधानी मथुरा के नाम पर 'मथुरा' प्रचलित हो गया। देखिए पीछे पृ० १४-५ तथा 'मथुरा परिचय' पृ० ११-१६।

१३. देखिए कनिंघम्स ऐंश्यंट जिओग्रफी आफ इंडिया (कलकत्ता.१६२४). पृ० ४२६।

की। केशव या श्रीकृष्ण का जन्मस्थान यहाँ होने के कारण यह स्थान केशव-पुरा कहलाया।[१४] कनिंघम का कहना है कि यूनानी लेखकों के समय में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे से बहती रही होगी और उसकें दूसरी ओर मथुरा शहर रहा होगा। उन्होंने इस दीवाल के नीचे की आधुनिक निचली भूमि की ओर संकेत किया है, जो उत्तर में सीधी संगम-तीर्थघाट तक दिखाई पड़ती है, और लिखा है कि यह उस प्राचीन धारा की सूचिका है जो प्राचीन काल में इधर से बहती थी और कटरा के कुछ आगे से दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ कर यमुना की वर्तमान बड़ी धारा में मिलती रही होगी।[१५] जनरल कनिंघम का यह मत भी विचारणीय है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि किसी काल में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा वर्तमान कटरा के नीचे से बहती रही होगी, पर इस धारा के दोनों ओर एक-एक बड़ा नगर रहा हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। यदि मथुरा से भिन्न 'केशवपुर' या 'कृष्णपुर' नाम का बड़ा नगर वास्तव में वर्तमान कटरा केशवदेव और उसके आस-पास होता तो कोई कारण नहीं कि उसका नाम पुराणों या अन्य साहित्य में न दिया जाता। प्राचीन साहित्य में मधुरा या मथुरा का नाम तो बहुत मिलता है पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का पृथक् उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। अतः ठीक यही जान पड़ता है कि यूनानी लेखकों ने भूल से मथुरा और कृष्णपुर (केशवपुर) को, जो वास्तव में एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया है। भारतीय लोगों ने मेगस्थनीज को बताया होगा कि शूरसेन जनपद की राज-धानी मथुरा 'केशव-पुरी' है। उसने इन दोनों नामों को एक-दूसरे से पृथक् समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप में किया होगा। यदि शूरसेन जनपद में मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते तो मेगस्थनीज के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदों के जो वर्णन भारतीय साहित्य (विशेष कर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों) में मिलते हैं, उनमें जहाँ शूरसेन जनपद के मथुरा नगर का उल्लेख है वहाँ इस जनपद

---

१४. लैसन ने भाषा-विज्ञान के आधार पर क्लीसोबोरा का मूल संस्कृत रूप 'कृष्णपुर' माना है। उनका अनुमान है कि यह स्थान आगरा में रहा होगा। (इंडिश्चे आल्टरटुम्सकुंडे, बॉन १८६९, जिल्द १, पृष्ठ १२७, नोट ३)।

१५. कनिंघम—आर्केओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २० (१८८२-३), पृ० ३१-३२।

के दूसरे प्रमुख नगर कृष्णपुर या केशवपुर का भी नाम मिलता। परंतु इन ग्रंथों में कहीं इस दूसरे नगर की चर्चा नहीं मिलती। क्लीसांबोरा की पहचान महावन से करना भी युक्तिसंगत नहीं।[१६]

पिछले मौर्य शासक—ई० पूर्व २३२ में अशोक की मृत्यु के बाद क्रमशः सात मौर्य शासक मगध साम्राज्य के अधिकारी हुए। इनके नाम पुराणादि साहित्य में विभिन्न रूपों में मिलते हैं। संभवतः कुनाल, जलौक, सुभागसेन, दशरथ, संप्रति, शालिशूक तथा बृहद्रथ ने क्रमशः राज्य किया। इनमें कोई ऐसा न था जो इतने बड़े साम्राज्य को संभालता। फलस्वरूप अशोक के बाद ही मौर्य साम्राज्य का ह्रास होने लगा। विंध्य के दक्षिण में आंध्र (सातवाहन) वंश ने मौर्य सत्ता से मुक्त होकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इधर उत्तर-पश्चिम में बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं ने हाथ-पैर मारने शुरू किये। ई० पूर्व १९० के लगभग डिमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण कर दिया और मौर्य राजा बृहद्रथ से साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम का एक बड़ा भाग छीन लिया। इन तथा विविध आंतरिक झगड़ों के कारण मौर्य शासन की नींव हिल गई।

शुंग वंश का आधिपत्य (ई० पूर्व १८५—ई० पूर्व १८०)—बृहद्रथ मौर्य वंश का अंतिम शासक हुआ। उसे उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पूर्व १८५ में मार कर मौर्य वंश की समाप्ति कर दी। पुष्यमित्र से मगध साम्राज्य पर शुंग वंश का शासन आरम्भ हुआ। इस वंश में पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र, वसुमित्र, भागवत, काशीपुत्र-भागभद्र आदि नौ अन्य राजा हुए। शूरसेन प्रदेश पर लगभग ई० पू० १०० तक शुंग-शासन दृढ़ बना रहा। शुङ्गवंशी शासक वैदिक धर्म के मानने वाले थे। उनके समय में भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई। शुंगराजा काशीपुत्र-भागभद्र के यहाँ तक्षशिला के यूनानी अधिपति अंतलिकित (ऐन्टिअलकाइडस) के द्वारा भेजा

---

१६. श्री एफ० एस० ग्राउज़ का अनुमान है कि यूनानियों का क्लीसोबोरा वर्तमान महावन है, देखिए एफ० एस० ग्राउज़—मथुरा मेम्वायर (द्वितीय सं०, इलाहाबाद १८८०), पृ० २५७-८। फ्रांसिस विलफोर्ड का मत है कि क्लीसोबोरा वह स्थान है जिसे मुसलमान 'मूगूनगर' और हिंदू 'कलिसपुर' कहते हैं—एशियाटिक रिसर्चेज (लंदन, १७९९), जि० ५, पृ० २७०। परंतु उसने यह यह नहीं लिखा है कि यह मूगूनगर कौन सा है। कर्नल टाड ने क्लीसोबोरा की पहचान आगरा जिले के बटेश्वर से की है (ग्राउज़, वही, पृ० २५८)।

हुआ हेलिओदोर (हेलिओडोरस) नामक राजदूत आया था । यह राजदूत भागवत धर्म का अनुयायी था । इसने विदिशा नगरी (भिलसा, मध्यभारत) के आधुनिक बेसनगर नामक स्थान पर वासुदेव कृष्ण के सम्मान में एक गरुडध्वज प्रतिष्ठापित किया । इसका पता वहाँ पाये गये एक शिलालेख से चलता है । इससे प्रकट है कि ई० पूर्व दूसरी शती के मध्य तक श्रीकृष्ण की पूजा का प्रचलन मथुरा के बाहर भी हो चुका था और उन्हें देवों में श्रेष्ठ माना जाने लगा था ।[१७]

पुष्यमित्र के समय में वैयाकरण पतंजलि हुए, जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर प्रसिद्ध महाभाष्य की रचना की । इस ग्रंथ से पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का पता चलता है, जिसकी पुष्टि अयोध्या से प्राप्त एक लेख से होती है । महाभाष्य में पतंजलि ने मथुरा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यहाँ के लोग संकाश्य तथा पाटलिपुत्र के निवासियों की अपेक्षा अधिक श्रीसंपन्न थे ।[१८] शुंग काल में उत्तर भारत के मुख्य नगरों में मथुरा की भी गणना थी । कई बड़े व्यापारिक मार्ग मथुरा होकर गुजरते थे । यहाँ से होकर एक सड़क वेरंजा नगरी होती हुई श्रावस्ती को जाती थी । तक्षशिला से पाटलिपुत्र की ओर तथा दक्षिण में विदिशा और उज्जयिनी की ओर जाने वाली बड़ी सड़कें भी मथुरा होकर जाती थीं । भागवत, जैन तथा बौद्ध धर्म का केन्द्र होने के कारण इस काल में मथुरा की प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई ।

यवन-आक्रमण—शुङ्गों के शासन-काल में उत्तर-पश्चिम की ओर से उत्तर भारत पर यवन-आक्रमणों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है ।[१९] ये यवन बैक्ट्रिया के यूनानी शासक थे । डिमेट्रियस नामक यूनानी

---

१७. नगरी, घोसुंडी आदि स्थानों से प्राप्त अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है ।

१८. "सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति" (महाभाष्य, ५, ३, ५७) । संकाश्य का आधुनिक नाम संकिसा है, जो उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में काली नदी के तट पर स्थित है ।

१९. पतंजलि ने महाभाष्य में इस आक्रमण का उल्लेख इस प्रकार किया है—'अरुणद्यवनः साकेतं', 'अरुणद्यवनो मध्यामिकाम्' (म० भा० २, ३२, ८) । कालिदास ने भी मालविकाग्निमित्रं में पुष्यमित्र के नाती वसुमित्र के साथ सिंधु (यमुना की सहायक) नदी के तट पर यवनों के संग्राम का वर्णन किया है । यह सिंधु मध्यभारत में बहती है ।

राजा पुष्यमित्र का समकालीन था। पश्चिमी पंजाब में अपनी शक्ति बढ़ा लेने के बाद डिमेट्रियस ने ही संभवतः मथुरा, मध्यमिका (नगरी, चित्तौड़ के समीप) और साकेत (अयोध्या) तक आक्रमण किया। गार्गी संहिता के युगपुराण में यवनों के द्वारा साकेत, पंचाल और मथुरा पर अधिकार करके कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) पहुँचने का विवरण मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यवनों का यह आक्रमण भारत में काफी दूर तक हुआ तथा इसके कारण जनता में कुछ समय तक घबड़ाहट फैल गई।[२०] परंतु आपसी कलह के कारण यवन-सत्ता मध्यदेश में न जम सकी।

पुष्यमित्र के समय में कलिंग (उड़ीसा) का राजा खारवेल था। यह बड़ा शक्तिशाली तथा लोकप्रिय शासक था। उड़ीसा के हाथीगुंफा नामक स्थान पर खारवेल का एक ब्राह्मी लेख खुदा हुआ है। इस लेख से पता चलता है कि यवन राजा दिमित (डिमेट्रियस) के आक्रमण का हाल सुनकर खारवेल उससे मुकाबला करने के लिए पश्चिम की ओर पहुँचा और उसके आने की खबर सुन कर दिमित पंजाब की ओर वापस चला गया।

डिमेट्रियस की मृत्यु के बाद उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानी सत्ता विश्रृङ्खलित हो गई। डिमेट्रियस के समय शुङ्ग-शासन को जो धक्का पहुँचा था उसकी क्षति-पूर्ति शीघ्र हो गई। पुष्यमित्र ने शक्ति का संगठन कर साम्राज्य का विस्तार बढ़ाया।[२१] पश्चिम की ओर से यूनानियों के आक्रमण बाद में भी

---

२०. "ततः साकेतमाक्रम्य पंचालं मथुरांस्तथा।
यवनाः दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
आकुला विषया सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥
मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः।
तेषां अन्योन्य सम्भावा भविष्यन्ति न संशयः।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम्॥"
(युगपुराण—कर्न का बृहत्संहिता संस्करण, पृ० ३७-३८)

२१. पुष्यमित्र के समय शुङ्ग साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा तक फैल गया। पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा विदिशा इस बड़े राज्य के केंद्र नगर थे। विदिशा में पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र को प्रशासक नियुक्त किया। सम्भवतः मथुरा का शासन कुछ समय तक विदिशा केन्द्र द्वारा ही संचालित होता रहा। दिव्यावदान तथा बौद्ध लेखक तारानाथ के अनुसार जालंधर और शाकल भी पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्तर्गत थे (दे० रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंश्यंट इंडिया (पंचम सं०, कलकत्ता, १९५०), पृ० ३७१।

होते रहे । कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से ज्ञात होता है कि सिंधु नदी के तट पर अग्निमित्र के लड़के वसुमित्र की मुठभेड़ यवनों से हुई और भीषण संग्राम के बाद यवनों की पराजय हुई । यवनों के इस आक्रमण का नेता सम्भवतः मिनेंडर था । इस राजा का नाम प्राचीन बौद्ध साहित्य में 'मिलिंद' मिलता है । इसने नागसेन नामक बौद्ध विद्वान् से अनेक दार्शनिक प्रश्न किये, जैसा कि 'मिलिंद-पन्ह' नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है । मिनेंडर के कुछ सिक्कों पर बौद्ध-चिह्न धर्मचक्र भी मिलता है और उन पर 'धमिकस' (धार्मिक) लिखा रहता है । इस राजा के सिक्के काबुल से लेकर मथुरा तथा उसके दक्षिण तक बड़ी संख्या में पाये गये हैं । इससे पता चलता है कि मिनेंडर प्रतापी शासक था और उसने भारत के यूनानी साम्राज्य को बढ़ा लिया था । यूनानी लेखक स्ट्रैबो के लेख से पता चलता है कि मिनेंडर ने उस व्यास नदी को पार कर लिया था जिसके आगे सिकन्दर नहीं बढ़ सका था । इस लेखक के अनुसार पंजाब से लेकर सौराष्ट्र तक यूनानी सत्ता का प्रसार मिनेंडर तथा डिमेट्रियस के द्वारा किया गया ।[२२] वास्तव में इन दोनों के द्वारा भारत में यूनानी प्रभुता की जड़ जमा दी गई और पंजाब में लगभग २०० वर्ष तक यूनानी आधिपत्य बना रहा ।

परवर्ती शुंग शासक—पुष्यमित्र की मृत्यु ई० पूर्व १४१ में हुई । उसके पश्चात् अग्निमित्र साम्राज्य का अधिकारी हुआ । अग्निमित्र के बाद पुराणों में क्रमशः वसुज्येष्ठ, वसुमित्र, आर्द्रक, पुलिंदक, घोषवसु, वज्रमित्र, भागवत तथा देवभूति नामक राजाओं के नाम मिलते हैं । सिक्कों तथा अभिलेखों में राजाओं के नामों में विभिन्नता है । पुराणों के उक्त नामों में से आर्द्रक सम्भवतः काशीपुत्र-भागभद्र है, जिसके शासन-काल में यूनानी राजदूत हेलिओडोरस ने विदिशा आकर वहाँ गरुड-स्तम्भ स्थापित किया । डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र वही शासक है जिसके तांबे के सिक्के बड़ी संख्या में रुहेलखंड में मिले हैं । इसी प्रकार जायसवाल वसुज्येष्ठ की पहचान सिक्कों के जेठमित्र से तथा घोषवसु की पहचान भद्रघोष से करते हैं । उनके मतानुसार शुंग वंश का पाँचवाँ राजा आर्द्रक पभोसा लेख का उदाक है तथा नवाँ राजा भागवत बेसनगर-स्तम्भ वाला काशीपुत्र-भागभद्र है । परन्तु डा० जायसवाल के उक्त मत की पुष्टि उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से नहीं होती ।

---

२२. रायचौधरी—वही, पृ० ३८०-८१ ।

यद्यपि शुंगवंशीय शासक वैदिक धर्म के अनुयायी थे,[२३] तो भी इनके शासन-काल में बौद्ध धर्म की अच्छी उन्नति हुई। साँची और भारहुत के कई बड़े स्तूप तथा वहाँ की प्रसिद्ध वेदिकाएँ शुंगों ही के राज्य-काल में निर्मित हुईं। बोधगया मंदिर की वेदिका का निर्माण भी इनके शासन-काल में हुआ। अहिच्छत्रा के राजा इंद्रमित्र तथा मथुरा के शासक ब्रह्ममित्र और उसकी रानी नागदेवी के नाम बोधगया की वेदिका में उत्कीर्ण मिलते हैं।[२४] इससे पता चलता है कि सुदूर पंचाल तथा शूरसेन जनपद में भी इस काल में बौद्ध धर्म के प्रति आस्था विद्यमान थी।

शुंग वंश की प्रधान शाखा का अंतिम राजा देवभूति था। उसे उसके मंत्री वसुदेव ने मार डाला। वसुदेव से पाटलिपुत्र पर कण्व वंश के शासन का आरम्भ हुआ। इस वंश का राज्यकाल ई० पूर्व ७३ से ई० पूर्व २८ तक रहा। इसके बाद दक्षिण के आंध्र वंश द्वारा मगध के कण्व-शासन का अन्त कर दिया गया।

मथुरा के मित्रवंशी राजा—यद्यपि शुङ्ग वंश की प्रधान शाखा का अन्त हो गया, तो भी उसकी अन्य कई शाखाएं बाद में भी शासन करती रहीं। इन शाखाओं के केन्द्र अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या तथा कौशांबी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कई शाखाएं पुष्यमित्र और उसके उत्तराधिकारियों के समय से ही चली आ रही थीं और प्रधान शुङ्ग वंश की अधीनता में विभिन्न प्रदेशों का शासन कर रही थीं। मथुरा से अनेक मित्र राजाओं के सिक्के मिले हैं, जिनके विवरण कनिंघम, स्मिथ, एलन आदि के द्वारा मुद्रा-सूचियों में दिये गये हैं। जिन 'मित्र' नाम वाले शासकों के सिक्के मथुरा से प्राप्त हुए हैं वे ये हैं—गोमित्र प्रथम तथा द्वितीय, ब्रह्ममित्र, दृढ़मित्र सूर्यमित्र और विष्णुमित्र। इनमें से गोमित्र प्रथम का समय ई० पूर्व २०० के लगभग प्रतीत होता है। अन्य राजाओं ने ई० पू० २०० से लेकर ई० पू० १०० या उसके कुछ बाद तक शासन किया। इनके अतिरिक्त बलभूति के

---

२३. पुष्यमित्र के द्वारा दो अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख अयोध्या से प्राप्त एक लेख में मिलता है (एपीग्राफिया इंडिका, जि० २०, पृ० ५४-८)। पतंजलि के महाभाष्य में पुष्यमित्र के यज्ञ का जो उल्लेख है उससे पता चलता है कि स्वयं पतंजलि ने इस यज्ञ में भाग लिया था।

२४. रायचौधरी—वही, पृ० ३६२-६३। ब्रह्ममित्र मथुरा का प्रतापी शासक प्रतीत होता है। इसके सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। १९५४ के प्रारंभ में ब्रह्ममित्र के लगभग ७०० तांबे के सिक्कों का बड़ा ढेर मथुरा में मिला है।

सिक्के तथा 'दत्त' नाम वाले राजाओं के भी सिक्के मथुरा से प्राप्त हुए हैं।[२५]

उपर्युक्त मित्र-राजाओं के सिक्कों के आधार पर इन राजाओं का काल-क्रम निश्चय करना अत्यंत कठिन है। अभी तक कोई ऐसा अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ जिससे इन राजाओं का पारस्परिक संबंध जाना जा सके। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मथुरा में पाये गये उक्त सिक्के अहिच्छत्रा के मित्र-वंशीय शासकों के हैं।[२६] परंतु यह मत ठीक नहीं। मथुरा के बाहर इस प्रकार के सिक्के नाममात्र को ही मिले हैं। मथुरा के सिक्कों पर एक ओर हाथ में कमल लिये हुए लक्ष्मी और दूसरी ओर हाथियों का चित्रण मिलता है। पंचाल वाले सिक्कों पर एक ओर पंचाल के तीन विशेष चिह्न और नीचे सीधी पंक्ति में शासक का नाम दिया रहता है। दूसरी तरफ प्रायः देव-प्रतिमा रहती है।

मथुरा से प्राप्त हुए 'दत्त' नामांकित सिक्के मित्र-शासकों के बाद के प्रतीत होते हैं, यद्यपि दोनों का ढंग प्रायः एक-जैसा ही मिलता है। कनिंघम ने मथुरा से प्राप्त वीरसेन नामक राजा का भी उल्लेख किया है। यह स्पष्ट नहीं कि यह राजा किस वंश से संबंधित था और इसका निश्चित समय क्या था। कनिंघम ने राजन्य जनपद तथा आर्जुनायनों के भी कुछ सिक्के मथुरा में प्राप्त किये थे।[२७] इनका आधिपत्य मथुरा में न होकर उसके पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में रहा प्रतीत होता है।

---

२५. देखिए कनिंघम—कायंस आफ् एंश्यंट इंडिया (लंदन, १८९१), पृ० ८५-९, फलक ८; विंसेंट स्मिथ—कैटलाग आफ् कायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द १ (आक्सफोर्ड, १९०६), पृ० १९०-५ तथा एलन—कैटलाग आफ दि कायंस आफ एंश्यंट इंडिया (लंदन, १९३६), पृ० १६९-९१। मथुरा के अंबरीष टीले से कनिंघम को एक तांबे का सिक्का मिला था, जिस पर अशोक-कालीन ब्राह्मी में 'उपातिक्य' (?) लिखा था (आर्के० सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ३, पृ० १४)। डा० जायसवाल ने चांदी के कुछ सिक्कों के आधार पर मथुरा के दो अन्य शासकों—सुमित्र तथा अजदेव का भी अनुमान किया था। उसी प्रकार तिज्यवेग नामक एक नये शासक का भी पता चला है (जर्नल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया, जि० ८, पृ० ३०)।

२६. देखिए जे०सी० पावल प्राइस का लेख—जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी, जिल्द १६, पृ० २२३।

२७. कनिंघम—कायंस आफ एंश्यंट इंडिया, पृ० ८९।

अध्याय ७

शक-कुषाण-काल

[लगभग ई० पूर्व १०० से २०० ई० तक]

शूरसेन जनपद पर शुङ्ग वंश की प्रभुता लगभग ई० पूर्व १०० तक बनी रही। इसके बाद उत्तर भारत की राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन आया। दक्षिण की ओर आंध्र (या आंध्रभृत्य) लोगों का जोर बहुत बढ़ गया। उन्होंने विदिशा तक पहुँच कर वहाँ की शुङ्ग-सत्ता को समाप्त कर दिया। इधर मथुरा की ओर विदेशी शकों का प्रबल झंझावात आया, जिसने यहाँ के मित्रवंशी राजाओं की शक्ति को हिला दिया। उत्तर-पश्चिम भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का लाभ उठा कर शक लोग आगे बढ़ने लगे। उन्होंने हिंद-यूनानी शासकों की शक्ति को कमजोर कर दिया। जब उन्होंने देखा कि पूर्व में शुङ्ग-शासन ढीला पड़ रहा है, तब वे आगे बढ़े और शुङ्ग साम्राज्य के पश्चिमी भाग को अपने अधिकार में कर लिया। इस जीते हुए प्रदेश का केन्द्र उन्होंने मथुरा को बनाया, जो उस समय उत्तर भारत में धर्म, कला तथा व्यापारिक यातायात का एक प्रधान नगर था।[1] शकों के उत्तर-पश्चिमी राज्य की राजधानी तक्षशिला हुई। धीरे-धीरे तक्षशिला और मथुरा पर शकों की दो पृथक् शाखाओं का अधिकार कायम हो गया।

प्रारंभ में मथुरा के ऊपर जिन शक राजाओं का आधिपत्य रहा उनकी उपाधि 'क्षत्रप' मिलती है। तक्षशिला के शक-शासकों की भी यही उपाधि थी। धीरे-धीरे अधिक प्रतापी शासकों ने 'महा-क्षत्रप' उपाधि धारण करना शुरू कर दिया। ये लोग अब अपने को भारतीय महाराजाओं या सम्राटों के समकक्ष मानने लगे। उनकी ओर से विभिन्न प्रदेशों के शासनार्थ जो उपशासक नियुक्त होते उनकी संज्ञा 'क्षत्रप' प्रसिद्ध हुई।

पंजाब में शकों के पहले प्रतापी राजा का नाम मोअस मिलता है। इसके सिक्के अच्छी संख्या में प्राप्त हुए हैं। तक्षशिला से प्राप्त एक ताम्रपत्र में इस राजा का नाम 'मोग' मिला है। इसका समय ई० पूर्व १०० के लगभग

---

१. संभवतः इसी समय से जनपद का नाम भी शूरसेन के स्थान पर 'मथुरा' प्रसिद्ध हो गया।

माना जाता है। मोअस ने पूर्वी तथा पश्चिमी गांधार प्रदेश के यूनानी राज्य का अंत कर दिया। उसका उत्तराधिकारी ऐजेज् प्रथम हुआ। उसके बाद ऐजेज् द्वितीय, गोन्डोफरस आदि अनेक प्रतापी शक शासक हुए। तत्पश्चात् शकों के कुसुलक वंश का अधिकार वहाँ स्थापित हो गया।

मथुरा के शक शासक (लगभग ई० पूर्व १००से ई० पूर्व ५७ तक)—मथुरा पर जिन शकों ने राज्य किया उनके नाम सिक्कों तथा अभिलेखों द्वारा जाने गये हैं। प्रारम्भिक क्षत्रप शासकों के नाम हगान और हगामष मिलते हैं। इनके सिक्कों से प्रतीत होता है कि इन दोनों ने कुछ समय तक सम्मिलित रूप में शासन किया। संभवतः ये दोनों भाई थे। कुछ सिक्के केवल हगामष नाम के मिले हैं। दो अन्य शासकों के नाम के साथ भी 'क्षत्रप' शब्द मिलता है। ये शिवघोष तथा शिवदत्त हैं। इनके सिक्के कम मिले हैं, पर वे बड़े महत्व के हैं।[२] इनके तथा हगान और हगामष के सिक्कों पर एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर घोड़ा बना रहता है।

राजुवुल—हगान-हगामष के बाद राजुवुल[3] मथुरा का शासक हुआ। इसके सिक्कों पर निम्नलिखित खरोष्ठी लेख मिलते हैं—

१—'अप्रतिहतचक्रस छत्रपस रंजुबुलस'

२—'छत्रपस अप्रतिचक्रस रजबुलस'

३—'महाक्षत्रपस अप्रतिचक्रस रजुलस'

राजुवुल के ये सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं और कई भाँति के हैं। कुछ सिक्कों पर 'छत्रपस' के स्थान पर 'महाछत्रपस' मिलता है। उसकी 'अप्रतिहत-चक्र' उपाधि इस शासक के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा शक्ति को सूचित करती है। इसके सिक्के सिंधु-घाटी से लेकर पूर्व में गंगा-यमुना दोआब तक मिले हैं, जिनसे राजुवुल की विस्तृत सत्ता सिद्ध होती है। इसके समय में मथुरा राज्य की सीमाएं भी बढ़ गई होंगी।[४] मोरा (जिला मथुरा) से ब्राह्मी लिपि में

---

२. जे० एलन—कायंस आफ़ ऐंश्यंट इंडिया, भूमिका, पृ० १११-१२

३. इसके नाम रजुवुल, रंजुबुल तथा राजुल भी मिलते हैं। यह पहले शाकल का शासक था। हगान और हगामष के साथ इसका क्या संबंध था, यह स्पष्ट नहीं।

४. कनिंघम का अनुमान है कि मथुरा के क्षत्रपों के समय मथुरा-राज्य का विस्तार उत्तर में दिल्ली तक, दक्षिण में ग्वालियर तक तथा पश्चिम में अजमेर तक था। कनिंघम—क्वायंस आफ ऐंश्यंट इंडिया (लंदन १८९१), पृष्ठ ८५; एलन—वही, भूमिका, पृ० ११२-११५।

लिखा हुआ एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें राजुवुल के लिए 'महाक्षत्रपस' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस लेख में राजुवुल के एक पुत्र का भी उल्लेख है, पर उसका नाम टूट गया है।

१८६६ ई० में मथुरा से पत्थर का एक सिंह-शीर्ष मिला था जो इस समय लंदन के बृटिश म्यूजियम में है। इस पर खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में कई लेख उत्कीर्ण हैं। इनमें क्षत्रप शासकों तथा उनके परिवार वालों के नाम मिलते हैं। एक लेख में महाक्षत्रप राजुवुल की पटरानी कमुइअ (कंबोजिका) के द्वारा बुद्ध के अवशेषों पर एक स्तूप तथा 'गुहा विहार' नामक मठ बनवाने का जिक्र है। संभवतः यह विहार मथुरा में यमुना-तट पर वर्तमान सप्तर्षि टीला पर था।[५] यहीं से उक्त सिंह-शीर्ष मिला था। इन लेखों के अनुसार मथुरा के क्षत्रपों का वंश-वृक्ष इस प्रकार बनता है[६]—
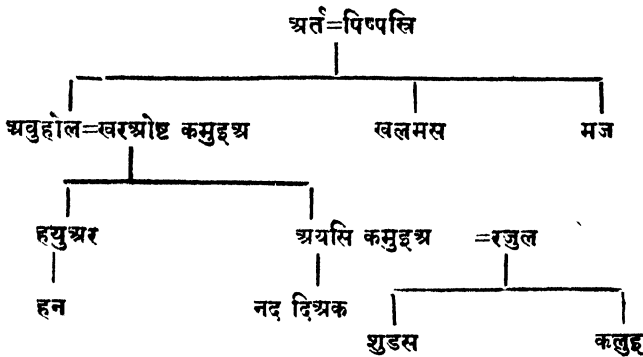
सिंह-शीर्ष पर उत्कीर्ण लेखों से रजुल (राजुवुल) की पत्नी अयसि कमुइअ (कंबोजिका) के द्वारा अपनी मां, दादी, भाई आदि के सहित उक्त स्तूप तथा गुहा विहार नामक संघाराम के निर्माण का तथा शाक्यमुनि बुद्ध के प्रति सम्मान प्रकट करने का पता चलता है। ये संघाराम आदि सर्वास्तिवादी बौद्धों के उपयोग के लिए बनवाये गये।[७] उक्त सिंह-शीर्ष तथा सिलेटी पत्थर

---

५. इस टीले से सिलेटी पत्थर की एक अत्यंत कलापूर्ण स्त्री-मूर्ति मिली है, जिसकी बनावट और वेशभूषा से प्रकट है कि वह किसी विदेशी महिला की प्रतिमा है। यह अनुमान युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा स्वयं कंबोजिका की होगी, जिसने मथुरा में बौद्ध मठ आदि का निर्माण कराया।

६. दे० स्टेन कोनो—खरोष्ठी इंस्क्रिप्शंस (कलकत्ता, १९२९), पृ० ४७।

७. कोनो—वही, पृ० ४८-९।

की तथाकथित कंबोजिका की मूर्ति यमुना-तट पर सप्तर्षि-टीले से प्राप्त हुए थे। अतः अनुमान होता है कि कमुइअ आदि के द्वारा यहीं पर स्तूप एवं गुहा विहार का निर्माण कराया गया होगा।

शोडास (लग० ई० पूर्व ८०-५७)--राजुवुल के बाद उसका पुत्र शोडास राज्य का अधिकारी हुआ। उक्त सिंह-शीर्ष के लेख पर शोडास की उपाधि 'क्षत्रप' मिलती है, पर मथुरा से ही प्राप्त अन्य लेखों में उसे 'महाक्षत्रप' कहा गया है। कंकाली-टीला (मथुरा) से प्राप्त एक शिलापट्ट पर सं० (?) ७२ का ब्राह्मी लेख खुदा है, जिसके अनुसार 'स्वामी महाक्षत्रप' शोडास के राज्यकाल में जैन भिक्षु की शिष्या अमोहिनी ने एक जैन आयागपट्ट की प्रतिष्ठापना की।[८] राजुवुल की पत्नी कम्बोजिका ने मथुरा में यमुना-तट पर जिस बौद्ध-विहार का निर्माण कराया था, उसके लिए शोडास ने अपने राज्य-काल में कुछ भूमि दान में दी। यह दान मथुरा के थेरावाद (हीनयान) मत वाले बौद्धों की सर्वास्तिवादिन् नामक शाखा के भिक्षुओं के निर्वाहार्थ दिया गया। सिंह-शीर्ष के खरोष्ठी लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि शोडास के समय मथुरा के बौद्धों में हीनयान तथा महायान (महासंघिक)—इन दोनों मुख्य शाखाओं के अनुयायी लोग थे और इनमें आपस में वाद-विवाद भी हुआ करते थे। एक बार सर्वास्तिवादियों ने महासंघिकों से शास्त्रार्थ में लोहा लेने के लिए सुदूर नगर (जलालाबाद) से एक प्रसिद्ध विद्वान् को आमन्त्रित किया था।

शोडास के सिक्के काफी संख्या में मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं—पहली भांति के वे हैं जिन पर सामने की ओर खड़ी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है तथा दूसरी ओर लक्ष्मी का अभिषेक दिखाया गया है। इन सिक्कों पर ब्राह्मी में 'राजुवुलपुतस खतपस शोडासस' लिखा रहता है।[९] दूसरी भांति के सिक्कों पर अन्य बातें तो पहले-जैसी ही हैं, परंतु लेख में केवल 'महाखतपस शोडासस' मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि शोडास के पहली भाँति वाले सिक्के उस समय जारी किये गये होंगे जबकि उसका पिता जीवित था और दूसरी प्रकार वाले राजुवुल की मृत्यु के बाद, जबकि शोडास को राज्य

---

८. दे० दिनेशचंद्र सरकार—सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, जि० १, पृ० ११८-१९।

९. एलन—वही, पृ० १९०-९१। कुछ सिक्कों पर 'राजुवुलपुतस' के स्थान पर 'महाखतपस पुतस' रहता है।

के पूरे अधिकार प्राप्त हो चुके होंगे।[१०] शोडास तथा राजुवुल के सिक्के हिंद-यूनानी शासक स्ट्रैटो तथा मथुरा के मित्र-शासकों के सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

शोडास के समय के अभिलेखों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वह लेख है जो एक सिरदल (धन्नी) पर उत्कीर्ण है। यह सिरदल मथुरा छावनी के एक कुए पर मिली थी, जहाँ वह निस्संदेह कटरा केशवदेव से लाई गई प्रतीत होती है। इस पर १२ पंक्तियों का एक संस्कृत-लेख खुदा हुआ है। दुर्भाग्य से इसकी प्रारम्भ की पाँच पंक्तियाँ नष्टप्राय हैं। शेष लेख इस प्रकार है—

वसुना भगव[तो वासुदे]वस्य महास्थाने [चतुःशा] लं तोरणं वे-[दिका प्रति] ष्ठापिता प्रीतो भ[वतु वासु] देवः। स्वामिस्य [महाक्षत्र] पस्य शोडासस्य सम्वर्तयाताम्।

[अर्थात् स्वामी महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महास्थान (जन्म-स्थान ?) पर भगवान् वासुदेव के एक चतुःशाला मंदिर के तोरण (सिरदल से सुसज्जित द्वार) तथा वेदिका की स्थापना की गई।

महाक्षत्रप शोडास का शासन-काल ई० पूर्व ८० से ई० पू० ५७ के बीच माना गया है। अतः वसु के द्वारा तोरण आदि का निर्माण इसी बीच में कराया गया होगा। यह सबसे पहला अभिलेख है जिसमें मथुरा में कृष्ण-मंदिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

गार्गी संहिता के युगपुराण से प्रतीत होता है कि शकों के आक्रमण के फलस्वरूप कुनिन्द देश में बड़ी मारकाट हुई। संभवतः शकों का एक भारी आक्रमण राजुवुल या शोडास के शासन-काल में उस ओर हुआ।

---

१०. मथुरा के सिंह-शीर्ष लेख में शोडास के नाम के साथ 'क्षत्रप' ही मिलता है। संभवतः इस लेख के लगने के समय राजुवुल जीवित था और शोडास उस समय राजकुमार था। मथुरा प्रदेश पर राजुवुल का अधिकार उसकी वृद्धावस्था में हुआ प्रतीत होता है। शोडास के समय में उत्तर-पश्चिम का एक बड़ा भाग उसके हाथ से निकल गया, पर मथुरा उसके अधिकार में बना रहा। एलन ने सर रिचर्ड बर्न के संग्रह के एक सिक्के का उल्लेख किया है जिस पर 'महाखतपस पुतस (तोर-) णदासस' लेख मिलता है। यह सिक्का शोडास के सिक्कों-जैसा ही है। एलन का अनुमान है कि तोरणदास (?) संभवतः राजुवुल के दूसरे पुत्र का नाम होगा। मोरा के लेख में राजुवुल के दूसरे पुत्र का संकेत मिलता है (एलन—वही,पृ० ११२)।

शोडास का समकालीन तक्षशिला का शासक पतिक था। मथुरा के उक्त सिंह-शीर्ष पर खुदे हुए एक लेख में पतिक की उपाधि 'महाक्षत्रप' दी हुई है। तक्षशिला से प्राप्त सं० ७८ के एक दूसरे लेख में 'महादानपति' पतिक का नाम आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों पतिक एक ही हैं और जब शोडास मथुरा का क्षत्रप था उसी समय के आसपास पतिक तक्षशिला में महाक्षत्रप था। मथुरा-लेख में पतिक के साथ मेवकि का नाम भी दिया हुआ है। गणेशरा गावं (जि० मथुरा) से प्राप्त एक लेख में क्षत्रप घटाक का नाम भी मिलता है।[११] शोडास के साथ इन क्षत्रपों का क्या संबंध था, यह बतलाना कठिन है।

ई० पूर्व पहली शती का पूर्वार्द्ध पश्चिमोत्तर भारत में क्षहरात शकों की प्रमुखता का समय था। इस काल में तक्षशिला से लेकर उत्तरी महाराष्ट्र तक शकों का बोलबाला हो गया था।[१२] तक्षशिला में कुसुलुक वंशी लिअक तथा पतिक शक्तिशाली शासक थे। मथुरा प्रदेश में राजुवुल तथा शोडास की प्रभुता फैली हुई थी। सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र में भूमक तथा नहपान आदि शासक थे। नहपान का जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) था, जिसके समय में शकों का प्रभुत्व पूना और शूर्पारक से लेकर उत्तर में अजमेर तक फैल गया था। नासिक तथा जुन्नर की गुफाओं में इनके जो बहु-संख्यक लेख प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि नहपान तथा उषवदात के समय में अनेक लयणों (गुफा-मंदिरों) का निर्माण हुआ तथा अन्य अनेक धार्मिक कार्य सम्पादित किये गये। इन शकों के समय में उज्जयिनी इनका प्रधान केन्द्र हुआ।

शकों की पराजय—ई० पूर्व ५७ के लगभग उज्जयिनी के उत्तर में मालवगण ने अपनी शक्ति संगठित कर ली। मालव लोग चाहते थे कि भारत से शकों को भगा कर विदेशी शासन से छुटकारा पाया जाय। उन्होंने दक्षिण महाराष्ट्र के तत्कालीन सातवाहन शासकों से इस कार्य में सहायता ली और उज्जयिनी के शकों को परास्त कर दिया। यह पराभव शकों की शक्ति पर वज्र-प्रहार सिद्ध हुआ और कुछ समय के लिए वे भारत के राजनैतिक रंगमंच

---

११. जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृ० १२१।

१२. कुछ विद्वानों का यह अनुमान कि ये शासक पार्थियन (पह्लव) वंश के थे ठीक नहीं। राजुवुल, नहपान तथा उनके वंश के शासकों के जो चेहरे सिक्कों पर मिलते हैं उन्हें देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि पह्लवों से उनकी नितांत भिन्नता है।

कुषाण वंश

[लगभग १ ई० से २०० ई० तक]

लगभग ई० सन् के आरंभ से शकों की 'कुषाण' नामक एक शाखा का प्राबल्य हुआ । विद्वानों ने इन्हें युइशि या ऋषिक तुरुष्क (तुखार) नाम दिया है । युइशि जाति शुरू में मध्य एशिया में रहती थी । वहाँ से निकाले जाने पर इस जाति के लोग कम्बोज-वाह्लीक में आकर बसे और वहाँ की सभ्यता से प्रभावित हुए । वहाँ से हिंदूकुश के पार उतर कर वे चितराल देश के पश्चिम से उत्तरी स्वात और हजारा के रास्ते आगे बढ़े । तुखार प्रदेश में उनकी पाँच रियासतें हो गईं । ई० पूर्व प्रथम शती में भारत के साथ संपर्क से कुषाणों ने यहाँ की सभ्यता को अपनाया ।

कुषाणों का एक सरदार कुजुल कर कडफाइसिस था । उसने काबुल और कन्दहार पर अपना अधिकार जमा लिया । इसके आगे पूर्व में यूनानी शासकों की शक्ति अब कमजोर हो गई थी, जिसका लाभ उठा कर कुजुल ने अपना प्रभाव इधर भी बढ़ाना शुरू किया । पह्लवों की शक्ति को समाप्त कर उसने अपने शासन का विस्तार पंजाब के पश्चिम तक कर लिया । मथुरा के आसपास तक इस शासक के तांबे के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं ।

विम तक्षम (लग० ४०—७७ ई०)—कुजुल के बाद उसका पुत्र विम तक्षम (विम कडफाइसिस) ४० ई० के लगभग राज्य का अधिकारी हुआ । यह बड़ा शक्तिशाली शासक हुआ । कुजुल के द्वारा जीते हुए प्रदेशों के अतिरिक्त विम ने पूर्वी उत्तर प्रदेश तक अपना अधिकार स्थापित कर लिया । बनारस इसके राज्य की पूर्वी सीमा हो गई । इस भूभाग का प्रमुख केन्द्र मथुरा नगर हुआ । विम के सिक्के पंजाब से लेकर बनारस तक बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं । इन पर एक ओर राजा की मूर्ति मिलती है और दूसरी ओर नंदी बैल के साथ खड़े हुए शिव की । पिछली ओर खरोष्ठी लिपि में निम्नलिखित लेख मिलते हैं—

(१) 'महरजस रजदिरजस सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस विमकठफिशस त्रदर'

(२) 'महरज रजदिरज हिमकपिशस'

(३) 'महरजस रजदिरजस सर्वलोग इश्वर महिश्वर विमकठफिसस त्रदर'

उक्त सिक्कों पर नंदी सहित शिवमूर्ति के बने होने तथा 'महिश्वरस' (माहेश्वरस्य) उपाधि होने से स्पष्ट है कि यह राजा शिव का भक्त था।

मथुरा जिले के मांट गाँव के समीप इटोकरी नामक टीले से विम की विशालकाय मूर्ति मिली है। इस मूर्ति का सिर टूट गया है। सिंहासन पर बैठा हुआ राजा लम्बा कोट तथा सलवार के ढंग का पायजामा पहने हुए है। हाथ में वह कटार लिये हुए था, जिसकी केवल मूंठ बची है। पैरों में तसमों से कसे हुए ऊँचे जूते पहिने है। पैरों के नीचे ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है, जिसमें राजा का नाम और उपाधियाँ इस प्रकार दी हैं—

'महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाणपुत्र शाहि विम तक्षम।'[१४]

इस लेख से पता चलता है कि विम के शासन-काल में एक देवकुल[१५] उद्यान, पुष्करिणी तथा कूप का निर्माण किया गया।

चीनी ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार विम के उत्तरी साम्राज्य की मुख्य राजधानी हिंदूकुश के उत्तर तुखार देश (बदख्शां) में थी। भारतीय प्रदेशों का शासन क्षत्रपों के द्वारा कराया जाता था। विम का विस्तृत साम्राज्य एक ओर चीन साम्राज्य को छूता था तो दूसरी ओर उसकी सीमाएं दक्षिणापथ के सातवाहन राज्य से लगती थीं। इतने विस्तृत साम्राज्य के लिए प्रादेशिक शासकों का होना आवश्यक था। मथुरा में कुषाणों के देवकुल होने तथा विम की मूर्ति प्राप्त होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि मथुरा में विम का निवास कुछ समय तक अवश्य रहा होगा और यह नगर कुषाण साम्राज्य के मुख्य केन्द्रों में से एक रहा होगा।

विम के शासन-काल में रोम साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार बढ़ा।

---

१४. इसमें प्रथम तीनों शब्द भारतीय उपाधियों के सूचक हैं। 'कुषाण-पुत्र' वंश का परिचायक है; कुछ लोग इस शब्द से विम को 'कुषाण' नामक राजा (कुजुल) का पुत्र मानते हैं। 'शाहि' तथा 'तक्षम' शब्द ईरानी हैं। प्रथम का अर्थ 'शासक' तथा दूसरे का 'बलवान्' है।

१५. 'देवकुल' से मंदिर का अभिप्राय लिया जाता है। पर यहाँ इसका अर्थ 'राजाओं का प्रतिमा-कक्ष' है। कुषाणों में मृत राजा की मूर्ति बनवा कर 'देवकुल' में रखने की प्रथा थी। इस प्रकार का एक देव-कुल मांट के उक्त टीले में तथा दूसरा मथुरा नगर के उत्तर में गोकर्णेश्वर मंदिर के पास विद्यमान था। दूसरी शती में सम्राट् हुविष्क के शासन-काल में मांट वाले देवकुल की मरम्मत कराई गई।

भारतीय वस्त्र, बहुमूल्य रत्न, मसाले, रंग तथा लकड़ी की वस्तुएं रोम साम्राज्य को भेजी जाती थीं और बदले में रोम-शासकों के स्वर्ण सिक्के बड़ी संख्या में यहाँ आते थे । उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक स्थानों से रोमन शासकों के सिक्कों के ढेर प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है । विम ने ताँबे के सिक्के बड़ी संख्या में चालू किये थे । विदेशों से व्यापार को उन्नत करने के लिए उसने अपने सोने के भी सिक्के चालू कराये । ये तोल में प्रायः रोमन सिक्कों के बराबर होते थे । इन सिक्कों पर उलटी ओर शिव की ही मूर्ति मिलती है, जिससे विम का शैव होना सिद्ध होता है ।[१६]

कनिष्क (७८–१०१ ई०)—विम के बाद उसका उत्तराधिकारी कनिष्क हुआ । विद्वानों का अनुमान है कि कनिष्क विम के परिवार का न होकर कुषाणों के किसी दूसरे घराने का था । इसने अपने राज्यारोहण की तिथि से एक नया संवत् चलाया, जो 'शक संवत्' के नाम से प्रसिद्ध है । कनिष्क कुषाणवंश का सबसे प्रतापी शासक हुआ । अफगानिस्तान और काश्मीर से लेकर पूर्व में बनारस या उसके कुछ आगे तक उसके शासन का विस्तार था । कनिष्क ने चीन के अंतर्गत तुर्किस्तान पर भी आक्रमण किया और उसे जीत लिया । अब कनिष्क का अधिकार उत्तर में काशगर, यारकंद तथा खोतन तक स्थापित हो गया । चीनी तथा खोतनी साहित्य में कनिष्क की अनेक विजय-यात्राओं के वर्णन मिलते हैं । बौद्ध साहित्य के अनुसार कनिष्क ने पाटलिपुत्र तक का प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया और बुद्ध का कमंडलु तथा बौद्ध भिक्षु अश्वघोष को उधर से वह अपने साथ ले आया ।

इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी होने पर कनिष्क ने उसकी व्यवस्था की ओर ध्यान दिया । उत्तर में पुरुषपुर (पेशावर) इसकी मुख्य राजधानी हुई । मध्य में मथुरा तथा पूर्व में सारनाथ राज्य के केन्द्र बनाये गये । सारनाथ में प्राप्त कनिष्क के समय के एक लेख से पता चलता है कि कनिष्क की ओर से

---

१६. पाणिनि ने 'शैव' शब्द का प्रयोग अपनी अष्टाध्यायी (४, १, ११२) में किया है । पतंजलि के महाभाष्य (५, २, ७६) में 'शिव-भागवतों, का उल्लेख मिलता है । मथुरा से प्राप्त एक कुषाणकालीन मूर्ति में शक लोगों को शिव-लिंग की पूजा करते हुए दिखाया गया है । विम के अतिरिक्त अन्य अनेक कुषाण शासकों के सिक्कों पर शिव-मूर्ति मिलती है । इन सब बातों से पता चलता है कि कुषाण-काल में शिव-पूजा का अच्छा प्रचार हो गया था ।

पूर्वी भाग का शासन महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनष्पर चलाते थे। इसी प्रकार अन्य भागों के शासन के लिए दूसरे अधिकारी नियुक्त रहे होंगे।

कनिष्क के समय में मथुरा की उन्नति—कनिष्क के समय में मथुरा नगर की बहुमुखी उन्नति हुई। यह नगर राजनैतिक केन्द्र होने के साथ-साथ धर्म, कला, साहित्य एवं व्यापार का भी केन्द्र बना। कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसके समय में साम्राज्य के प्रमुख स्थानों के साथ मथुरा में भी इस धर्म की बड़ी उन्नति हुई और अनेक बौद्ध स्तूपों, संघारामों आदि का निर्माण हुआ। मानुषी रूप में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण मथुरा में इसी समय से प्रारंभ हुआ। महायान धर्म की उन्नति के फलस्वरूप पूजा के निमित्त विविध धार्मिक प्रतिमाओं का निर्माण बड़ी संख्या में होने लगा। कनिष्क के समय की बौद्ध प्रतिमाएं सैकड़ों की संख्या में मथुरा और उसके आसपास से प्राप्त हो चुकी हैं। महायान मत के आचार्य वसुमित्र और 'बुद्ध-चरित' एवं 'सौंदरानंद' आदि ग्रंथों के प्रसिद्ध रचयिता अश्वघोष कनिष्क की राजसभा के रत्न थे। इनके अतिरिक्त पार्श्व, चरक, नागार्जुन, संघरक्ष, माठर आदि अन्य कितने ही कवि, कलाकार और विद्वान् कनिष्क की सभा में विद्यमान थे।

पेशावर और तक्षशिला की तरह कनिष्क ने मथुरा में भी अनेक बौद्ध स्तूपों और मठों का निर्माण करवाया। उसके समय में धार्मिक सहिष्णुता बहुत थी, जिसके कारण बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन तथा हिंदू धर्म की भी उन्नति हुई। जैनियों के अनेक स्तूपों, आयागपट्टों, तीर्थंकर-प्रतिमाओं तथा अन्य विविध कला-कृतियों का निर्माण हुआ। उसी प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, कार्त्तिकेय आदि हिंदू देवताओं की भी प्रतिमाएं इस काल में निर्मित हुईं।

कनिष्क ने काश्मीर में बौद्ध धर्म की एक बड़ी सभा का आयोजन किया। इसका सभापति वसुमित्र तथा उपसभापति अश्वघोष था। लगभग ५०० विद्वान् इस समारोह में सम्मिलित हुए। कई दिनों के विचार-विमर्श के अनन्तर बौद्ध साहित्य को ताम्रपत्रों पर खुदवा कर उन्हें एक स्तूप में रख दिया गया। इन ग्रन्थों में से त्रिपिटक का भाष्य 'महाविभाषा' इस समय चीनी भाषा में उपलब्ध है।

विदेशों से संबंध—कनिष्क के समय में देशी व्यवसाय की उन्नति तो हुई ही, विदेशों के साथ संपर्क भी बहुत बढ़ा। पाटलिपुत्र से सारनाथ, कौशांबी, श्रावस्ती, मथुरा, पुरुषपुर आदि नगरों से होता हुआ एक बड़ा व्यापारिक मार्ग

खोतन तथा काशगर को जाता था। काशगर से चीन के लिए मार्ग जाता था। कनिष्क के समय में मध्य एशिया में अनेक भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हो गई। इनके नाम शैलदेश (काशगर), कोक्कुक (यारकंद), खोतन्न (खोतन), कलमद (शान-शान), भरुक (तुरफान), कूची (कूचार) तथा अग्निदेश (कराशहर) मिलते हैं। इनमें से दक्षिण में खोतन्न तथा उत्तर में कूची प्रदेश भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे और इन्हीं में से होकर भारतीय सभ्यता मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में तथा चीन में फैली। कुषाण काल के अन्त तक मध्य एशिया के प्रायः सभी भागों में बौद्ध धर्म फैल गया।

सिक्के तथा अभिलेख—कनिष्क के सोने तथा तांबे के सिक्के बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। भारत में ये सिक्के पेशावर से लेकर पूर्व में बंगाल तक मिले हैं। सिक्कों की बड़ी संख्या तथा उनके प्रसार को देखते हुए कनिष्क की विस्तृत सत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

कनिष्क के समय के अभिलेख भी बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। ये लेख कनिष्क के राज्य-वर्ष २ से लेकर २३ तक के हैं और पेशावर, माणिक्याला (रावलपिंडी के पास), सुइ विहार (बहावलपुर के समीप), मथुरा, श्रावस्ती, कौशांबी, सारनाथ आदि से प्राप्त हुए हैं।

वासिष्क (१०२–१०६ ई०)—कनिष्क के बाद वासिष्क कुषाण साम्राज्य का अधिकारी हुआ। इसके समय के दो लेख क्रमशः चौबीसवें और अट्ठाईसवें शक संवत् के मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इसने १०२ ई० से लेकर १०६ ई० तक राज्य किया। पहला लेख मथुरा नगर के सामने यमुना पार ईसापुर नामक गावँ से मिला है, जिसमें मथुरा के कुछ ब्राह्मणों द्वारा द्वादशरात्र नामक वैदिक यज्ञ करने का उल्लेख है। आरा से प्राप्त एक दूसरे लेख में कनिष्क के पिता वाझेष्क का नाम आया है। संभवतः यह वासिष्क का ही नाम है, जो कनिष्क द्वितीय का पिता होगा। कल्हण की राजतरंगिणी में भी जुष्कपुर नामक नगर[१७] बसाने वाले राजा जुष्क का नाम मिलता है, जो संभवतः वासिष्क के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

हुविष्क (१०६–१३८ ई०)—वासिष्क के बाद कुषाण साम्राज्य का शासक हुविष्क हुआ। इसके राज्य-काल के लेख २८ वें वर्ष से लेकर ६०वें

---

१७. आजकल इसे 'जुकुर' कहते हैं, जो श्रीनगर के उत्तर में है; देखिए स्मिथ–अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (चतुर्थ संस्करण), पृ० २७२।

वर्ष तक के मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि हुविष्क ने १०६ ई० से लेकर १३८ ई० तक शासन किया। इसके सिक्कों तथा लेखों के प्राप्ति-स्थानों से पता चलता है कि काबुल से लेकर मथुरा के कुछ पूर्व तक हुविष्क का अधिकार फैला हुआ था।

कनिष्क की तरह यह राजा भी बौद्ध धर्म का संरक्षक था। मथुरा में इसके द्वारा एक विशाल बौद्ध विहार की स्थापना की गई, जिसका नाम 'हुविष्क विहार' था। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्तूप और विहार इसके राज्य-काल में मथुरा में बनाये गये। बौद्ध मूर्तियों का निर्माण बहुत बड़ी संख्या में हुआ। मथुरा से प्राप्त एक लेख से पता चलता है कि हुविष्क के पितामह के समय में निर्मित देवकुल की दशा खराब होने पर उसकी मरम्मत हुविष्क के शासन-काल में की गई।[१८]

हुविष्क के सोने और तांबे के सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं। इन पर एक ओर राजा की मूर्ति तथा दूसरी ओर कनिष्क के सिक्कों की तरह हिंदू, यूनानी, सुमेरी, ईरानी आदि देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। कनिष्क के सिक्कों की अपेक्षा हुविष्क के सिक्के अधिक भाँति के मिले हैं। इन दोनों के सिक्कों पर राजा की उपाधि, नाम तथा देवता के नाम यूनानी लिपि में मिलते हैं।[१९]

कनिष्क द्वितीय—आरा से प्राप्त सं० ४१ (११९ ई०) के लेख तथा कल्हण-कृत राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि हुविष्क का समकालीन कनिष्क द्वितीय था। विद्वानों के अनुसार वह कनिष्क प्रथम का पौत्र तथा

---

१८. मांट के देवकुल से विम, कनिष्क तथा चष्टन की पाषाण-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, हुविष्क की नहीं। मथुरा नगर के उत्तर में यमुना-तट पर प्रसिद्ध गोकर्णेश्वर की मूर्ति वास्तव में शिव की नहीं है। इस विशाल मूर्ति की बनावट तथा उसकी वेशभूषा से स्पष्ट है कि वह किसी शक राजा की मूर्ति है। इसका सिर भी सुरक्षित है जिसके ऊपर ऊँची नोकदार टोपी है। बहुत संभव है कि यह हुविष्क की ही प्रतिमा हो।

१९. आर० बी० व्हाइटहेड—कैटलाग आफ कायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहोर (आक्सफोर्ड, १९१४), पृ० १८६-२०७। कनिष्क के सिक्कों पर लगभग २० विभिन्न देवताओं की तथा हुविष्क के सिक्कों पर २५ से ऊपर की आकृतियाँ मिलती हैं।

वासिष्क का लड़का था। उसकी उपाधियाँ महाराज, राजातिराज, देवपुत्र कैसर (?) मिलती है। संभवतः हुविष्क के जीवन-काल में कनिष्क द्वितीय काश्मीर और उसके आसपास के प्रदेश का शासक था। राजतरंगिणी में उल्लिखित काश्मीर में कनिष्कपुर नामक नगर की स्थापना करने वाला शायद यही राजा था।[२०]

कनिष्क द्वितीय के सिक्के भी मिले हैं, जिन पर सामने की ओर वेदी के पास खड़े हुए राजा की तथा उलटी ओर नंदी सहित बैल की प्रतिमा मिलती है। यूनानी लेख के साथ इन सिक्कों पर ब्राह्मी अक्षर भी मिलते हैं।

वासुदेव (१३८-१७६ ई०)—हुविष्क के बाद मथुरा की राजगद्दी पर वासुदेव बैठा। इसके समय के लेख प्रायः मथुरा और उसके निकट से ही प्राप्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि वासुदेव के शासन-काल में कुषाण वंश की शाखा का अधिकार कम हो गया था।

वासुदेव के सिक्कों पर पीछे की ओर नंदी बैल सहित शिव की मूर्ति मिलती है।[२१] इससे इस शासक का झुकाव शैव धर्म की ओर प्रकट होता है। इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती शासक विम तथा कनिष्क द्वितीय की तरह वासुदेव भी बौद्ध धर्म के स्थान पर शैव मत का पोषक ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव को साहित्य से भी रुचि थी। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में वासुदेव नामक राजा का उल्लेख किया है और लिखा है कि सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओं की तरह वह कवियों का आश्रयदाता तथा 'सभापति' था।[२२] वासुदेव के राज्यकाल में हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ।

परवर्ती शासक—वासुदेव के राज्य-काल का अंतिम लेख ९८ वें वर्ष का मिला है, जिससे अनुमान होता है कि इसी समय (१७६ ई०) के लगभग इसका देहांत हो गया। वासुदेव अंतिम प्रसिद्ध कुषाण-शासक था। उसके बाद कनिष्क (तृतीय) तथा वसु (वासुदेव द्वितीय) आदि कई कुषाण राजाओं के नाम सिक्कों तथा लेखों द्वारा ज्ञात हुए हैं। काश्मीर और गांधार में कनिष्क-वंशी कुषाण शासकों का राज्य तीसरी तथा संभवतः चौथी शती में भी जारी रहा। समुद्रगुप्त के प्रयाग लेख से ज्ञात होता है कि इन पिछले

---

२०. दे० रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० ४७७।
२१. व्हाइटहेड—वही, पृ० २०८-११।
२२. काव्यमीमांसा, अध्याय १० (बड़ोदा संस्करण, १९३४), पृ० ५५।

कुषाण शासकों की उपाधियाँ 'देवपुत्र शाही शाहानुशाही' थीं और उनका प्रभुत्व भारत के पश्चिमोत्तर भाग में काश्मीर तथा गांधार पर था। तीसरी शती के मध्य में सासानी शासकों द्वारा ईरान के आगे बढ़ कर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण का पता चलता है, परंतु मथुरा तक इन सासानी विजेताओं का पहुँचना नहीं हो सका।

ई० पाँचवीं शती में 'किदार कुषाण' नामक राजाओं का भी प्रभुत्व गांधार और काश्मीर पर था। इन राजाओं के सिक्के मथुरा तक से मिले हैं। किदार-वंशी तथा अन्य परवर्ती कुषाणों को हूणों से तथा उनके पश्चात् मुसलमानों से लड़ना पड़ा। संभवतः नवीं शती में हिंदू शाही राजाओं द्वारा उत्तर-पश्चिम में कुषाणों के शासन की इतिश्री कर दी गई।

कुषाण शासन-काल में मथुरा की समृद्धि— कुषाणों के समय में मथुरा का महत्त्व बहुत बढ़ा। विविध धर्मों का विकास होने के साथ यहाँ स्थापत्य और मूर्तिकला की अभूतपूर्व प्रगति हुई। मथुरा में निर्मित मूर्तियों की माँग देश में होने लगी। श्रावस्ती, सारनाथ, साँची, कौशांबी, राजगृह आदि सुदूर स्थानों तक से मथुरा की बनी मूर्तियाँ मँगवाई जाती थीं।

उत्तर भारत के प्रमुख राजमार्गों पर स्थित होने के कारण मथुरा नगर की व्यावसायिक उन्नति भी हुई। इस काल में संगठित रूप में विविध शिल्पों और व्यापार के संचालन के उदाहरण मथुरा तथा अन्य नगरों में मिलते हैं। तत्कालीन अभिलेखों तथा साहित्यिक विवरणों से पता चलता है कि शिल्पियों और वणिकों ने अपने निकाय बनाये थे, जो समृद्ध होने के साथ-साथ शक्ति-संपन्न थे। वे बैंकों की व्यवस्था करते थे, जिनका उपयोग जनता कर सकती थी। नासिक से प्राप्त इस काल के एक लेख में जुलाहों के दो निकायों का वर्णन है, जिनमें क्रमशः १ प्रतिशत तथा ३।४ प्रतिशत मासिक ब्याज की दर पर २,००० तथा १,००० कार्षापण (चाँदी के सिक्के) जमा किये गये थे। नासिक, जुन्नर आदि के गुफालेखों में कुम्हारों, अन्न का व्यवसाय करने वालों, बाँस का काम करने वालों, तेलियों, पनचक्की चलाने वालों ('ओदयंत्रिक') आदि के निकायों के उल्लेख मिलते हैं। ये निकाय सार्वजनिक हित के कार्यों में दान भी देते थे। जनता धार्मिक एवं अन्य प्रयोजनों के लिए इन निकायों में अपना रुपया जमा करना सुविधाजनक समझती थी। मथुरा से प्राप्त ई० दूसरी शती के एक लेख[२३] में मिलता है कि यहाँ की एक पुण्यशाला के लिए ५५०-५५०

---

२३. मथुरा संग्रहालय संख्या १६१३।

पुराणों (चाँदी के सिक्कों) की दो धनराशियाँ अक्षयनीवी (स्थायी मूलधन) के रूप में दो निकायों में जमा की गईं। इस धन से प्राप्त होने वाले ब्याज से नित्य पुण्यशाला में आने वाले दीन-दुखियों का पोषण किया जाता था। इसके अतिरिक्त उसी ब्याज से प्रति मास एक दिन सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कुषाण-काल कितनी सस्ती का जमाना था !

कनिष्क के समय में कुषाण साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था। उसके राज्यकाल में रोम, मध्य एशिया तथा चीन के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों में बड़ी वृद्धि हुई। भारत से पशु-पक्षी, वनस्पति-पदार्थ, वस्त्र, फल, अन्न तथा बहुमूल्य रत्न विदेशों को भेजे जाते थे। इन वस्तुओं के बदले में पश्चिमी देशों से सोना, चाँदी, दास-दासियाँ, घोड़े, चमकीले रंग, फल-फूलों से निर्मित पदार्थ तथा विविध धातुएं भारत आती थीं। इस काल में चीन का रेशम बड़ी मात्रा में भारत आने लगा था। राजवर्ग तथा अन्य संभ्रांत व्यक्ति चीनी कौशेय (रेशमी वस्त्र) धारण करना बहुत पसन्द करते थे। मथुरा, कौशांबी, अमरावती आदि स्थानों से प्राप्त कितनी ही मूर्तियों पर रेशमी वस्त्र दिखाई पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध के चीवर प्रायः इसी वस्त्र के दिखाये गये हैं। मथुरा के कलाकारों ने सौंदर्य के अनिंद्य साधन के रूप में नारी को अंकित करने के उद्देश्य से सन्नतांगी सुन्दरियों को झीने चीनदेशीय दुकूलों से अलंकृत किया है। इन बारीक वस्त्रों से स्त्रियों का सुकुमार यौवन तथा सौंदर्य झाँकता-सा दिखाई पड़ता है।

मथुरा के व्यापारी भारत के विभिन्न नगरों में व्यापार के लिए जाया करते थे। कौशांबी तथा बघेलखंड के मघ राजाओं के साथ मथुरा के व्यापार-संबंध का पता चलता है। मघ राजा कौत्सीपुत्र पोठसिरि के राज्यकाल (१४०-१७० ई०) में माथुर व्यापारी मघों की राजधानी बांधवगढ़ गये, जहाँ पर उनके द्वारा अनेक धार्मिक कार्य निष्पन्न किये गये।[२४] तत्कालीन भारत के अन्य प्रमुख नगरों के साथ भी मथुरा के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध रहे होंगे।

---

२४. मजूमदार तथा अल्तेकर—न्यू हिस्ट्री आफ दि इंडियन पीपुल, जिल्द ६, पृ० ४२।

अध्याय ८

नाग तथा गुप्त शासन-काल

[लगभग २०० ई० से ५५० ई० तक]

कुषाणों के विजेता—ई० दूसरी शती का अन्त होते-होते मथुरा प्रदेश तथा उसके पश्चिम से कुषाणों की सत्ता उखड़ गई। मध्य देश तथा पूर्वी पंजाब से कुषाणों को हटाने में कई शक्तियों का हाथ था। कौशाम्बी तथा विंध्य प्रदेश के मघ राजाओं एवं पद्मावती, कांतिपुरी तथा मथुरा के नागवंशी लोगों ने मध्य देश से तथा यौधेयों, मालवों और कुणिंदों ने राजस्थान और पंजाब से कुषाणों को भगाने में प्रमुख भाग लिया। इन सबके प्रयत्नों से कुषाण-जैसी शक्तिशाली सत्ता का, जो लगभग दो सौ वर्ष तक भारत के एक बड़े भाग पर जमी हुई थी, अन्त-सा हो गया। तीसरी शती के आरम्भ से पश्चिमी शकों की भी शक्ति का ह्रास शुरू हुआ। कुषाणों के उत्कर्ष के समय में इन शकों का अधिकार उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़ और गुजरात के अतिरिक्त मालवा, सिंध तथा राजस्थान के एक बड़े भाग पर स्थापित था। दूसरी शती के अंत में सातवाहनों द्वारा पराजय के कारण शकों की शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा। इसके बाद यौधेय, मालव, वाकाटक आदि भारतीय शक्तियों के उत्कर्ष के कारण पश्चिमी शकों की शक्ति बहुत घट गई। ई० चौथी शती के अंत में गुप्तवंशी चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा पश्चिमी शकों की शक्ति का मूलोच्छेद कर दिया गया। इस प्रकार लगभग पाँच सौ वर्षों के बाद भारत-भूमि पर से विदेशी शकों के शासन की समाप्ति हो गई।

भारशिव नाग—वाकाटक वंश के कई अभिलेखों में भारशिव नागों का नाम मिलता है। वाकाटक वंश के साथ उनके वैवाहिक संबंध का तथा शिव-भक्त भारशिवों द्वारा दस अश्वमेध यज्ञ करने के उल्लेख भी इन लेखों में मिलते हैं।[1] डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार भारत को कुषाणों

---

१. "अंसभारसन्निवेशित-शिवलिङ्गोद्वहन-शिव—सुपरितुष्ट—समुत्पादित-राजवंशानां पराक्रमाधिगत—भागीरथ्यामलजल—मूर्ध्नाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानाम्भारशिवानाम्।" (प्रवरसेन द्वितीय का चम्मक से प्राप्त ताम्रपत्र)

से मुक्त करने में अगुआ यही भारशिव नाग थे और इनके ही प्रयत्नों के फल-स्वरूप कुषाण-जैसी दुर्दांत शक्ति को मध्यदेश तथा पंजाब छोड़ कर भागना पड़ा।[2] जायसवाल पुराणों में उल्लिखित नव नागों को भारशिव वंशी अनुमान करते हैं और उनका केन्द्र कांतिपुरी (कंतित, जि० मिरजापुर) बताते हैं। परंतु डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर ने हाल में की गई खोजों के आधार पर डा० जायसवाल की उक्त तथा अन्य कतिपय मान्यताओं का खंडन किया है।[3] उनका कहना है कि कांतिपुरी में किसी नाग-वंश के शासन के चिह्न नहीं मिलते। भारशिव-वंश के प्रवर्तक राजा 'नव' के तथाकथित सिक्कों पर 'नाग' शब्द नहीं मिलता। वीरसेन नामक राजा के बहुसंख्यक सिक्के मथुरा से प्राप्त हुए हैं, पर उनके आधार पर यह मानना कि उसने नागवंश की शाखाओं को विभिन्न केन्द्रों में जमाया तथा कुषाणों को उसने तथा उसके वंशजों ने पूर्वी पंजाब से बाहर निकाल दिया, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

मथुरा और पद्मावती के नाग शासक—नाग लोग भारत के प्रमुख आदिम निवासियों में से हैं। प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ये लोग अनार्य थे और सर्प को देवरूप में पूजते थे। महाभारत-युद्ध के पश्चात् उत्तर-पश्चिम भारत में नागों की शक्ति-प्रसार का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इनके सरदार तक्षक ने राजा परीक्षित को मार डाला था, जिसका बदला परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नाग-यज्ञ करके लिया। उस समय के बाद से लेकर कुषाण-काल तक मथुरा या कुरुप्रदेश में नागों का कोई जिक्र नहीं मिलता। पुराणों में गुप्त-वंश के अभ्युदय के पहले मथुरा में सात नागवंशी राजाओं के राज्य करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार कांतिपुरी, विदिशा तथा पद्मावती (वर्तमान पदम पवाया, मध्यभारत) में भी नागों के शासन का पता पुराणों से चलता है। पर कुछ नामों के अतिरिक्त पुराणों में इन राजाओं के कोई अन्य विवरण नहीं मिलते।

---

२. देखिए जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५० – ३५० ई०) प्र० १९३३ ई०, पृष्ठ १–३२।

३. अल्तेकर—न्यू हिस्ट्री आफ दि इंडियन पीपुल, जि० ६, पृ० २५-२८, ३६-४०।

पुराणों के अनुसार पद्मावती[४] में नौ नाग राजाओं ने राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा और पद्मावती के नाग शासक एक ही मुख्य शाखा के थे, जो 'भारशिव' कहलाती थी। इन भारशिव राजाओं ने शैव उपासना को बढ़ाया। अभिलेखों के अनुसार ये राजा अपने कंधों पर शिव-लिंग वहन करते थे। अपने पराक्रम से इन्होंने भागीरथी (गंगा) तक के प्रदेश को जीत कर अपना यश बढ़ाया था और दस अश्वमेध यज्ञ पूरे किये थे।[५] उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि पद्मावती-मथुरा के नागों के अधिकार में वर्तमान आगरा कमिश्नरी, झाँसी कमिश्नरी का पश्चिमी भाग, धौलपुर तथा ग्वालियर का उत्तरी भाग सम्मिलित था।

सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर अब तक निम्नलिखित नाग-राजाओं के नामों का पता चला है—

भीम नाग, विभु नाग, प्रभाकर नाग, स्कन्द नाग, बृहस्पति नाग, व्याघ्र नाग, वसु नाग, देव नाग, भवनाग, गणपति नाग, महेश्वर नाग[६] तथा

---

४. वर्तमान पदम पवाया मथुरा से लगभग १२५ मील दक्षिण में है। पद्मावती तथा मथुरा में नागवंश का अभ्युदय ई० दूसरी शती के उत्तरार्ध में हो गया होगा। प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक ये लोग कुषाण शासकों की अधीनता में रहे होंगे। उक्त दोनों नगरों में इस काल में नागों की उन्नति का कारण क्या था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। हो सकता है कि नाग-पूजा तथा शिवोपासना का यहाँ तत्कालीन प्रचलन भी एक कारण रहा हो। उक्त दोनों स्थानों में इस काल की निर्मित सर्पविग्रह (नागकल) तथा पुरुषविग्रह में नागदेवों की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा-कला में उत्तर कुषाण-काल की बलराम की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं। बलराम श्रीकृष्ण के बड़े भाई थे और उन्हें शेषनाग का अवतार माना गया है। पद्मावती से प्राप्त नाग-सिक्कों पर शिवजी का त्रिशूल और उनका बैल नंदी मिलता है।

५. डा० जायसवाल के मतानुसार ये अश्वमेध यज्ञ काशी के दशाश्वमेध घाट पर किये गये थे, जिसके कारण इस घाट की उक्त संज्ञा हुई।

६. इसका पता लाहोर से प्राप्त एक मुद्रा से चला है, जिसमें इसे महाराज नागभट्ट का पुत्र कहा है—दे० दि एज आफ़ इम्पीरियल यूनिटी (भा० विद्या भवन, बंबई, १९५१), पृष्ठ १६९। परंतु मथुरा या पद्मावती के नागवंश के साथ इसके संबंध का कुछ ठीक पता नहीं चलता।

नागसेन।[७] यदि इनमें वीरसेन का नाम और जोड़ दिया जाय तो अब तक ज्ञात नाग राजाओं की संख्या तेरह हो जाती है।

यह कहना कठिन है कि उक्त सूची में से कितने राजाओं ने पद्मावती पर और कितनों ने मथुरा पर शासन किया। इनके पारस्परिक संबंध का भी ठीक पता नहीं चलता। इन राजाओं में से गणपति नाग, भवनाग तथा वीरसेन के सिक्के मथुरा से काफी संख्या में मिले हैं, जिससे अनुमान होता है कि उक्त राजाओं ने मथुरा पर शासन किया। वीरसेन के सिक्कों के अतिरिक्त उसका एक लेख भी फरुखाबाद जिले के जनखट नामक स्थान से मिला है। यह लेख वीरसेन के १३ वें राज्य वर्ष का है। इससे पता चलता है कि वीरसेन एक शक्तिशाली शासक था और उसका आधिपत्य मथुरा के दक्षिण-पूर्व में फरुखा-बाद जिले तक फैल गया था। बहुत संभव है कि वीरसेन के ही समय में नाग-सत्ता गंगा-तट तक पहुँच गई हो।

पद्मावती के नाग शासकों में भवनाग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसका शासन-काल ३०५ ई० से ३४० ई० तक माना जाता है। इसकी लड़की का विवाह वाकाटक वंशी गौतमीपुत्र के साथ हुआ था। वाकाटक वंश के अभिलेखों में इस वैवाहिक संबंध का उल्लेख बराबर मिलता है। इससे पता चलता है कि चौथी शती के प्रारंभ में नागों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी और भारत की तत्कालीन बड़ी शक्तियाँ उनके साथ संबंध स्थापित करना गौरव-जनक मानती थीं। गौतमीपुत्र की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम को वाकाटक वंश का आधिपत्य कायम करने में अपने नाना भवनाग से बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

ई० चौथी शती के मध्य में जब समुद्रगुप्त के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विस्तार किया जा रहा था, उस समय मथुरा का राजा गणपति नाग तथा पद्मावती का शासक नागसेन था।[८] ये दोनों समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित हुए

---

७. नागसेन का नाम समुद्रगुप्त के प्रयाग लेख में मिलता है। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में भी नागसेन का उल्लेख किया है।

८. डा० दिनेशचन्द्र सरकार का अनुमान है कि गणपति नाग तथा नागसेन दोनों पद्मावती के वंश के थे और पहले की मृत्यु के बाद दूसरा राज्य का अधिकारी हुआ—दे० दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० १७०। परन्तु ठीक यही जान पड़ता है कि ये दोनों समकालीन थे और एक मथुरा में तथा दूसरा पद्मावती में शासन कर रहा था।

और उनका राज्य गुप्त-साम्राज्य का अंग बना लिया गया । डा० अल्तेकर का अनुमान है कि प्रयाग-लेख में आर्यावर्त के जिस राजा नागदत्त का उल्लेख हुआ है वह संभवतः मथुरा के ही राजवंश का था और उसका अधिकार संभवतः उत्तरी दोआब पर था ।[१]

यद्यपि समुद्रगुप्त के द्वारा पद्मावती तथा मथुरा के मुख्य नागवंश के राज्य का अन्त कर दिया गया, तो भी नाग लोगों का गौरव गुप्त काल तथा उसके बाद तक बना रहा । स्वयं समुद्रगुप्त ने अपने पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का विवाह नागवंश की कन्या कुबेरनागा के साथ किया । स्कन्दगुप्त के समय (४५५–६७ ई०) में गंगा-यमुना के बीच अंतर्वेदी का गोप्ता (प्रांतपाल) शर्वनाग नामक नागवंशीय व्यक्ति था । राज्य के अन्य उच्च पदों पर भी नाग-वंश के लोग नियुक्त रहे होंगे ।

नाग शासन-काल—नागों के शासन काल में मथुरा में शैव धर्म की विशेष उन्नति हुई । नाग देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण भी इस काल में बहुत हुआ । अन्य धर्मों का विकास भी साथ-साथ होता रहा । ३१३ ई० में मथुरा के जैन श्वेताम्बरों ने स्कन्दिल नामक आचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एक बड़ी सभा का आयोजन किया । इस सभा में कई धार्मिक ग्रन्थों के शुद्ध पाठ स्थिर किये गये । इसी वर्ष दूसरी ऐसी सभा वलभी में हुई । नागों के समय में मथुरा और पद्मावती नगर बड़े समृद्ध नगरों के रूप में विकसित हुए । यहाँ विशाल मन्दिर,महल,मठ, स्तूप तथा अन्य इमारतों का निर्माण हुआ । धर्म, कला-कौशल तथा व्यापार के ये प्रधान केन्द्र हुए । नाग-शासन का अन्त होने के बाद मथुरा को राजनैतिक केन्द्र होने का गौरव फिर कभी न प्राप्त हो सका । गुप्त-शासकों के द्वारा पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा उज्जयिनी को राजधानी बनाया गया । गुप्त-काल के बाद कनौज को यह स्थान मिला और कई शताब्दियों तक कनौज उत्तर भारत का प्रधान राजनैतिक केन्द्र बना रहा ।

उत्तर भारत पर गुप्त वंश का आधिपत्य स्थापित होने के पहले विभिन्न भागों में जो गणराज्य तथा अन्य राज्य विद्यमान थे उनका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है ।

---

१. अल्तेकर—वही, पृ० ४० । अच्युत नाम के जिस राजा का नाम प्रयाग लेख में मिलता है और जिसके सिक्के अहिच्छत्रा और उसके आस-पास बड़ी संख्या में मिलते हैं, वह भी डा० अल्तेकर के अनु-सार मथुरा के नाग-वंश से ही संबंधित था ।

यौधेय—भारत से विदेशी सत्ता को हटाने का सबसे अधिक श्रेय यौधेयों[१०] को दिया जा सकता है। यौधेय यमुना के पश्चिम में एक प्रमुख शक्ति थे। जब इन्होंने देखा कि कुषाण सत्ता कमजोर पड़ गई तब यौधेयों ने कुणिंद और मालव गण की सहायता से कुषाणों से लोहा लेने का निश्चय किया और अन्त में उन्हें परास्त कर पंजाब के उत्तर की ओर खदेड़ दिया। उनकी देखा-देखी पूर्व में नागों और मघों ने भी यमुना के पूर्वी प्रदेश से कुषाणों को भगाने का कार्य पूरा किया। यमुना और सतलज नदियों के बीच के विस्तृत भाग से यौधेयों के सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर लिखी हुई ब्राह्मी लिपि से पता चलता है कि यौधेयों द्वारा ये सिक्के तीसरी-चौथी शती में जारी किये गये थे। सिक्कों तथा प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि यौधेयों में गणतन्त्र-प्रथा कई शताब्दी पहले से प्रचलित थी। कुषाणों के भगाने के बाद यौधेयों की सत्ता बहावलपुर से लेकर पूर्व में गुड़गावँ जिले तक स्थापित हो गई। कुषाणों के ऊपर यौधेयों की महान् विजय के उपलक्ष में कुछ ऐसे नये सिक्के जारी किये गये जिन पर 'यौधेय गणस्य जयः' लिखा रहता है। इन सिक्कों पर सेनापति कार्तिकेय की मूर्ति रहती है, जो बहुत प्राचीन काल से यौधेयों के इष्टदेव थे। ई० चौथी शती के मध्य में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने यौधेयों पर विजय प्राप्त की। परंतु उसने यौधेय गण को निर्मूल नहीं किया।

कुणिंद— कुषाणों से लोहा लेने में यौधेयों को कुणिंद तथा अर्जुनायन लोगों से सहायता प्राप्त हुई थी। ये दोनों भी गणराज्य थे। कुषाणों के द्वारा पिछली दो शताब्दियों के शासन-काल में इनकी स्वाधीनता पर आघात

---

१०. यौधेयों का नाम पाणिनि की अष्टाध्यायी (५, ३, ११७) में 'आयुध-जीवी संघ' के अंतर्गत आया है। महाभारत (२, ३५, ४–तथा १, ६५, ७५–६) में भी इनकी चर्चा मिलती है। यौधेयों के सिक्के ई० पू० २०० से प्रारंभ होने लगते हैं। 'बहुधान्यक' प्रदेश में प्रसिद्ध नगर रोहीतक था, जहाँ यौधेयों की टकसाल थी। इनका दूसरा बड़ा नगर सुनेत (सौनेत्र) था। कुषाणों के पहले यौधेयों का आधिपत्य उत्तरी राजस्थान तथा पूर्वी पंजाब पर था। कनिष्क के समय में उनका शासन समाप्त हुआ। १४५ ई० के लगभग महाक्षत्रप रुद्रदामन ने यौधेयों को पराजय दी। कुषाण-शक शक्ति का ह्रास होने पर यौधेयों ने अपनी स्वतंत्रता फिर घोषित कर दी।

पहुंचाया गया था। कुणिंदों का अधिकार सतलज और व्यास नदियों के बीच में था। इनके कुछ सिक्के यौधेय सिक्कों से मिलते-जुलते प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती के मध्य में कुणिंद लोग यौधेयों के ही अंतर्गत हो गये, क्योंकि इसके बाद के कुणिंद सिक्के उपलब्ध नहीं हुए।

अर्जुनायन (या आर्जुनायन)—वर्तमान जयपुर और आगरा की भूमि पर अर्जुनायनों का अधिकार था। इन लोगों ने भी विदेशी सत्ता को भारत से हटाने में भाग लिया। अर्जुनायनों का गणराज्य ई० चौथी शती के मध्य तक जारी रहा, जब कि समुद्रगुप्त ने उन्हें परास्त कर अपने अधीन कर लिया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कुणिंदों की तरह अर्जुनायन लोग भी यौधेयों के साथ मिल गये और गुप्तवंश के अभ्युदय के पूर्व इन तीनों की एक सम्मिलित प्रजातांत्रिक शक्ति स्थापित हो गई।[११]

मालव— गुप्त वंश के अभ्युदय के पहले पंजाब, राजस्थान और मध्य-देश में नाग वंश तथा उक्त तीन गणराज्यों के अतिरिक्त अन्य कई राज्य विद्यमान थे। अजमेर–टोंक और मेवाड़ के भूभाग पर मालव गण का अधिकार था। सिकन्दर के समय में मालव गण का राज्य रावी–सतलज दोआब पर था। ई० पू० ५७ में मालवों ने उज्जयिनी के शकों को परास्त कर एक नया संवत् चलाया था। कुषाण-प्रभुता के समय मालवों का स्वामित्व समाप्त कर दिया गया और उनका प्रदेश पश्चिमी क्षत्रपों के साम्राज्य में मिला दिया गया। यद्यपि पहली और दूसरी शताब्दी में मालव लोग शकों से बराबर मुठ-भेड़ें लेते रहे, पर वे शकों की प्रबल शक्ति के कारण अपने प्रदेश पर अधिकार स्थापित न कर सके। कुषाणों की पराजय के बाद पश्चिमी शकों की शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा और स्वातन्त्र्य-प्रेमी मालव लोगों ने पुनः अपना अधिकार प्राप्त किया। २२५ ई० से लेकर समुद्रगुप्त के समय तक मालवों ने अपनी स्वाधीनता कायम रक्खी। तीसरी और चौथी शती के मालव-गण के ताम्र-सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं, जिनसे उनकी स्वतन्त्र सत्ता का पता चलता है। समुद्रगुप्त ने अपनी विजय द्वारा मालवों को गुप्त शासन के अधीन कर लिया, पर उसने यौधेयों आदि की तरह मालव गण को भी निर्मूल नहीं किया। गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ ये गणराज्य कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल तक जारी रहे। इसके बाद संभवतः हूणों द्वारा उनकी समाप्ति कर दी गई।

---

११. अल्तेकर—वही, पृष्ठ ३२।

अन्य राज्य—इस काल के अन्य उल्लेखनीय राज्य मद्र, मौखरी तथा मघ लोगों के थे। मद्रों का गणराज्य रावी और चिनाब नदियों के बीच में था, जिसकी राजधानी संभवतः स्यालकोट थी। मौखरियों का राज्य कोटा के आस-पास था। कोटा के समीप बडवा नामक स्थान से २३६ ई० का एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें मौखरियों के 'महासेनापति' बल का नाम आया है। 'महासेनापति' उपाधि से अनुमान होता है कि ये मौखरी लोग या तो पश्चिमी क्षत्रपों के या नागों के अधीन शासक थे। मघवंशी राजाओं का शासन प्राचीन वत्स राज्य तथा बघेलखंड पर था। पहले भूभाग की राजधानी कौशाम्बी तथा दूसरे की बांधवगढ़ थी। इन राजाओं के अभिलेख तथा सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस वंश के शासकों—वासिष्ठीपुत्र भीमसेन, कौत्सीपुत्र पोठसिरि, भद्रमघ, शिवमघ, वैश्रवण आदि का पता चला है। मघों के बाद नव, पुष्पश्री आदि कुछ राजाओं के नाम सिक्कों द्वारा ज्ञात हुए हैं। समुद्रगुप्त ने ३५० ई० के लगभग इस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मथुरा के नाग वंश के समकालीन मथुरा के चारों ओर अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये थे। इनमें से कुछ राज्यों में प्रजातन्त्र और शेष में नृपतन्त्र था। कुषाणों के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर भारत में कोई ऐसी शक्ति न थी जो एक प्रबल केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करती। तीसरी शती के आरम्भ में सातवाहनों का अंत होने पर दक्षिण में भी इसी प्रकार की स्थिति विद्यमान थी। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ई० चौथी शती के मध्य में एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर उक्त विशृङ्खलित स्थिति का अंत कर दिया।

गुप्त वंश

ई० चौथी शती के आरम्भ में मगध में 'महाराज गुप्त' के द्वारा गुप्तवंश की स्थापना की गई। उसका लड़का घटोत्कच हुआ, जिसका पुत्र चंद्रगुप्त प्रथम ३२० ई० में पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसने 'महाराजाधिराज' उपाधि ग्रहण की। वैशाली के प्रसिद्ध लिच्छवि गणतन्त्र की कन्या कुमारदेवी के साथ विवाह कर चंद्रगुप्त ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। चंद्रगुप्त के राज्यारोहण-वर्ष से एक नये संवत् का प्रारंभ हुआ, जो 'गुप्त संवत्' नाम से प्रसिद्ध है। पौराणिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त के समय में गुप्त-शासन

का विस्तार दक्षिण बिहार से लेकर अयोध्या तक था ।[१२] इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी ।

समुद्रगुप्त (३३५–३७६ ई०)—चंद्रगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त बड़ा पराक्रमी एवं महत्वाकांक्षी शासक हुआ । उसके द्वारा भारत की दिग्विजय की गई, जिसका विवरण इलाहाबाद किले के प्रसिद्ध शिला-स्तम्भ पर विस्तारपूर्वक दिया है ।[१३] इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण कोशल होते हुए केरल, पिष्टपुर, कोट्टूर, कांची आदि दक्षिणापथ के प्रदेशों को जीत कर वहाँ अपनी विजय-पताका फहराई । इन राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में न मिला कर केवल उनके शासकों से अपनी अधीनता स्वीकार कराई । परंतु आर्यावर्त में समुद्रगुप्त ने 'सर्वराजोच्छेत्ता'[१४] वाली नीति का अवलम्बन किया । यहाँ के अनेक राजाओं को परास्त करने के बाद उसने उनके शासन को समाप्त कर दिया । उत्तरापथ के जिन ऐसे पराजित राजाओं के नाम प्रयाग-स्तम्भ पर मिलते हैं वे ये हैं—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मन्, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नंदी तथा बलवर्मा । इनके अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने आटविक (विंध्य के जंगली भाग) के राजाओं, हिमालय प्रदेश के शासकों तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक, खरपरिक आदि अनेक गण राज्यों को भी अपने अधीन कर उनसे कर वसूल किया । उत्तर-पश्चिम के 'देवपुत्र शाही शाहानुशाही' कुषाणों एवं शक-मुरुण्डों तथा दक्षिण के सिंहल आदि द्वीप-वासियों से भी उसने विविध उपहार ग्रहण किये । इस प्रकार समुद्रगुप्त ने प्रायः समस्त भारत पर अपनी विजय-वैजयंती फहरा कर गुप्त-शासन की धाक जमा दी ।

मथुरा प्रदेश पर अधिकार—उत्तरापथ के उपर्युक्त विजित राज्यों में मथुरा भी था, जिसे जीत कर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का एक अंग बना लिया । मथुरा के जिस शासक को उसने पराजित किया वह गणपति नाग

---

१२. "अनुगङ्गाप्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा ।
एतान्जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥"

१३. इसी स्तम्भ पर सम्राट् अशोक का भी एक लेख खुदा है ।

१४. समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर भी उसकी 'सर्वराजोच्छेत्ता' उपाधि मिलती है । उसकी दूसरी प्रसिद्ध उपाधि 'पराक्रमांक' भी समुद्रगुप्त के अतिशय पराक्रम को सूचित करती है ।

था। पद्मावती का तत्कालीन नाग शासक संभवतः नागसेन था जिसका नाम प्रयाग-लेख में आया है। उक्त लेख में नंदी नामक एक अन्य शासक का भी नाम है। वह भी संभवतः नाग राजा था और विदिशा के नागवंश का था।[१५]

मथुरा के नाग-शासन का अंत करने के बाद समुद्रगुप्त ने यहाँ की क्या व्यवस्था की, इसका ठीक पता नहीं चलता। उसके समय में गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इस साम्राज्य को उसने कई भागों ('विषयों') में बाँटा होगा। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गंगा-यमुना के बीच का दोआब 'अंतर्वेदी विषय' के नाम से प्रसिद्ध था। स्कन्दगुप्त के समय अंतर्वेदी का शासक ('विषयपति') शर्वनाग था। संभव है कि शर्वनाग के पूर्वज भी इस प्रदेश के प्रशासक रहे हों। हो सकता है कि समुद्रगुप्त ने मथुरा और पद्मावती के नागों की शक्ति और स्थिति को देखते हुए उन्हें शासन के उच्च पदों पर रखना वांछनीय समझा हो। साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का भी प्रश्न था। समुद्रगुप्त के द्वारा यौधेय, मालव, अर्जुनायन, मद्र आदि प्रजातन्त्र-प्रेमी जातियाँ संभवतः इसी लिए अधीनतासूचक कर-मात्र लेकर छोड़ दी गईं। इन जातियों तथा नागों ने पंजाब तथा मध्य देश से विदेशी सत्ता को हटाने में जो भाग लिया था उसे समुद्रगुप्त भूला न होगा। परंतु समुद्रगुप्त की एक बड़ी भूल यह कही जा सकती है कि उसने भारत के उत्तर-पश्चिमी नाके की सुरक्षा की ओर सम्यक् ध्यान नहीं दिया। यदि वह गांधार प्रदेश तथा खैबर दर्रे की वैसी ही नाकेबंदी कर देता जैसी कि उसके पहले चंद्रगुप्त मौर्य ने और कुषाण सम्राट् कनिष्क ने की थी, तो भारत का भविष्य बहुत समय तक सुरक्षित रह सकता और फिर उधर से शकों या हूणों को बढ़ कर मध्यदेश या उसके आगे तक आने की हिम्मत न पड़ती। ऐसा न करने का जो अवश्यंभावी फल हुआ उसकी चर्चा आगे की जायगी।

समुद्रगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य की सीमाएं इस प्रकार हो गईं— उत्तर में हिमालय, दक्षिण में नर्मदा नदी, पूर्व में ब्रह्मपुत्रा तथा पश्चिम में यमुना और चम्बल नदियाँ। उत्तर-पश्चिम के उपर्युक्त गणराज्य तथा गांधार और काश्मीर के कुषाण, शक और मुरुण्ड एवं दक्षिणापथ के अनेक राजा उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। दिग्विजय की समाप्ति के बाद समुद्रगुप्त

---

१५. शिशुनंदि नामक एक राजा का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है।

ने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया। इस यज्ञ के सूचक सोने के सिक्के भी उसने चलाये। इन सिक्कों के अतिरिक्त समुद्रगुप्त के अन्य अनेक भाँति के स्वर्ण-सिक्के मिले हैं।

रामगुप्त— समुद्रगुप्त के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त का पता चलता है, जो संभवतः कुछ ही दिनों के लिए साम्राज्य का अधिकारी रहा। 'देवीचंद्रगुप्तम्' नामक नाटक तथा 'हर्षचरित', 'शृङ्गार-प्रकाश', 'नाट्य-दर्पण', 'काव्य-मीमांसा' आदि ग्रन्थों से रामगुप्त का पता चलता है। इनमें प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि रामगुप्त बड़ा भीरु शासक था। उसके समय में शकों ने गुप्त साम्राज्य पर धावा बोल दिया। रामगुप्त शकों की भारी फौज देखकर घबड़ा गया और उनके साथ उसने संधि का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शकराज ने संधि की यह शर्त रखी कि रामगुप्त की पटरानी ध्रुवदेवी[१६] उसे सौंप दी जाय! जब रामगुप्त के छोटे भाई चंद्रगुप्त को शकराज का यह गर्हित प्रस्ताव तथा उस पर अपने भाई की सहमति का पता चला तो वह क्रोध से जल उठा। उसने ध्रुवदेवी का रूप धारण कर शक-राज को, मिलने के बहाने, उसी के शिविर में मार डाला[१७]। चंद्रगुप्त के पराक्रम तथा चातुर्य से शत्रु की फौज परास्त हुई और शक लोग साम्राज्य की सीमा के बाहर खदेड़ दिये गये। इसके बाद चंद्रगुप्त ने क्लीबजनोचित कार्य करने वाले अपने भाई रामगुप्त का भी वध करके ध्रुवदेवी को अपनी पटरानी बनाया। अब स्वयं चंद्रगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना। अपने साहस, पराक्रम तथा दान-वीरता के कारण चंद्रगुप्त प्रजा का अतिशय प्रिय हो गया।[१८]

चंद्रगुप्त द्वितीय (३७६–४१३ ई०)—चंद्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। लेखों से ज्ञात होता है कि इसने ध्रुवदेवी के अतिरिक्त

---

१६. इसका दूसरा नाम ध्रुवस्वामिनी भी मिलता है।

१७. ऐसा अनुमान है कि यह घटना मथुरा नगर या उसके समीप ही घटी। बाणभट्ट ने हर्षचरित में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—
"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्" (हर्षच०, ५, १)।

१८. राष्ट्रकूट-वंश के संजन-ताम्रपत्र में भी इसका जिक्र मिलता है—
"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥"

नागवंशी कन्या कुबेरनागा से भी विवाह किया, जिससे प्रभावती नामक पुत्री का जन्म हुआ । यह प्रभावती गुप्ता वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय को ब्याही गई । वाकाटक लोगों की शक्ति उस समय बढ़ी-चढ़ी थी और वे वर्तमान मध्य प्रदेश के एक बड़े भाग तथा महाराष्ट्र के उत्तरी भाग के स्वामी थे । अपने साम्राज्य के दक्षिण में विद्यमान इस बढ़ती हुई शक्ति के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित कर चंद्रगुप्त ने राजनीति-कुशलता का परिचय दिया । इस मैत्री से गुप्तों को अपनी शक्ति बढ़ाने में बड़ी सहायता मिली ।

इसके बाद चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी शकों को उखाड़ फेंकने का विचार दृढ़ किया । वह स्वयं इसके लिए विदिशा गया और वहाँ अपने मंत्रियों तथा सेनानायकों आदि से विचार-विमर्श कर उसने शकों पर चढ़ाई कर दी । शक लोग पूरी तरह पराजित हुए और पश्चिमी मालवा, सौराष्ट्र तथा गुजरात से उनका शासन सदा के लिए समाप्त कर दिया गया । इस विजय के बाद चंद्रगुप्त ने उज्जयिनी को अपने पश्चिमी साम्राज्य का केन्द्र बनाया । चंद्रगुप्त ने बंगाल पर चढ़ाई कर उसे भी जीता । फिर उत्तर-पश्चिम की ओर सिंधु नदी को पार कर उसने बाह्लीकों को परास्त किया । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि चंद्रगुप्त ने ही यौधेय, मालव, कुणिंद आदि अनेक गणराज्यों की समाप्ति की । परंतु इस संबंध में यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं । संभवतः उक्त गणराज्य ई० पाँचवीं शती में हूणों के द्वारा समाप्त किये गये ।

चंद्रगुप्त के शासन-काल में उज्जयिनी, पाटलिपुत्र और अयोध्या नगरों की बड़ी उन्नति हुई । इसके समय में विद्या और ललित कलाओं की प्रगति का अनुमान तत्कालीन साहित्य एवं कला-कृतियों से लगाया जा सकता है । महाकवि कालिदास-जैसे प्रतिभासंपन्न कवि और लेखक इसी समय में हुए, जिनकी रचनाएँ भारतीय साहित्य में अमर हैं और उस 'स्वर्णयुग' की मधुर स्मृति आज तक सँजोये हुए हैं ।

तत्कालीन मथुरा की दशा—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के तीन लेख अब तक मथुरा नगर से प्राप्त हुए हैं । पहला लेख[१९] गुप्त संवत् ६१ (३८० ई०) का है । यह मथुरा नगर में रंगेश्वर महादेव के समीप चंडूल-मंडूल बगीची से प्राप्त हुआ था । लेख लाल पत्थर के एक अठपहलू खंभे पर उत्कीर्ण है । यह चंद्रगुप्त के पाँचवें राज्यवर्ष में लिखा गया था ।

१९. मथुरा संग्रहालय (सं० १९३१) ।

लेख में उदिताचार्य के द्वारा उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक शिव-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना का जिक्र है। जिस खंभे पर यह उत्कीर्ण है उस पर ऊपर त्रिशूल तथा नीचे दण्डधारी रुद्र (लकुलीश) की मूर्ति बनी है। चंद्रगुप्त के शासन-काल के अद्यावधि उपलब्ध लेखों में यह लेख सब से पुराना है। तत्कालीन मथुरा में शैव धर्म की विद्यमानता पर इसके द्वारा प्रकाश पड़ता है।

मथुरा से अन्य दोनों लेख कटरा केशवदेव से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक[20] में महाराज गुप्त से लेकर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य तक की वंशावली दी हुई है। लेख के अन्त में चंद्रगुप्त के द्वारा कोई बड़ा धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाने का संकेत मिलता है। लेख का अंतिम भाग खंडित होने के कारण यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि उसमें किस धार्मिक कार्य का कथन था। बहुत संभव है कि परम-भागवत महाराजाधिराज चंद्रगुप्त के द्वारा श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान पर एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया गया हो, जिसका विवरण इस लेख में रहा होगा।[21] तीसरा लेख[22] जन्मस्थान की सफाई कराते समय १९५४ ई० में प्राप्त हुआ है। दुर्भाग्य से यह लेख बहुत खंडित है और इसमें गुप्त-वंशावली के प्रारंभिक अंश के अतिरिक्त शेष भाग टूट गया है।

फ़ाह्यान का वर्णन—चन्द्रगुप्त के शासन-काल में फाह्यान नामक चीनी पर्यटक पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत आया। वह अन्य अनेक नगरों में होता हुआ मथुरा भी पहुँचा। इस नगर का जो वर्णन उसने लिखा है उससे मथुरा की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का पता चलता है। वह लिखता है—

"यहाँ (मथुरा) के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्यमुनि (बुद्ध) के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। 'मोटुलो' (मथुरा) नगर तथा उसके आस-पास 'पूना' (यमुना) नदी के दोनों ओर २० संघाराम (बौद्ध मठ) हैं, जिनमें लगभग ३,००० भिक्षु

---

२०. मथुरा संग्रहालय (सं० क्यू० ५)।

२१. लेख के प्राप्ति-स्थान कटरा केशवदेव से गुप्तकालीन बहुसंख्यक कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे पता चलता है कि इस काल में यहाँ अनेक सुन्दर प्रतिमाओं सहित एक वैष्णव मंदिर था।

२२. मथुरा संग्रहालय (सं० ३८३५)।

निवास करते हैं। छह बौद्ध स्तूप भी हैं । सारिपुत्र के सम्मान में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनंद के तथा तीसरा मुद्गल-पुत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों क्रमशः अभिधर्म, सूत्र और विनय के लिए निर्मित किये गये हैं, जो बौद्ध धर्म के तीन अंग (त्रिपिटक) हैं।"

फाह्यान के उक्त वर्णन से पता चलता है कि उसके समय में मथुरा में बौद्ध धर्म उन्नति पर था, यद्यपि उसका यह कहना ठीक नहीं मालूम देता कि शाक्यमुनि के बाद से यहाँ के लोग इस धर्म का पालन करते आ रहे थे। भगवान् बुद्ध के बाद कई सौ वर्ष मथुरा में हिंदू धर्म जोर पर था, न कि बौद्ध फाह्यान ने जिन बौद्ध संघारामों का उल्लेख किया है वे यमुना नदी के दोनों ओर काफी दूर तक फैले रहे होंगे।

कालिदास द्वारा शूरसेन जनपद का वर्णन—महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं। रघुवंश में कालिदास ने शूरसेन जनपद, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन तथा यमुना का उल्लेख किया है। इंदुमती के स्वयंवर में विभिन्न प्रदेशों से आये हुए राजाओं के साथ उन्होंने शूरसेन राज्य के अधिपति सुषेण का भी वर्णन किया है।[२३] मगध, अंग, अवंती, अनूप, कलिंग और अयोध्या के बड़े राजाओं के बीच शूरसेन-नरेश की गणना की गई है। कालिदास ने जिन विशेषणों का प्रयोग सुषेण के लिए किया है उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि वह एक प्रतापी शासक था, जिसकी कीर्ति स्वर्ग के देवता भी गाते थे और जिसने अपने शुद्ध आचरण से माता-पिता दोनों के वंशों को प्रकाशित कर दिया था।[२४] इसके आगे सुषेण को विधिवत् यज्ञ करने वाला, शांत प्रकृति का शासक बताया गया है, जिसके तेज से शत्रु लोग घबड़ाते थे।

यहाँ मथुरा और यमुना की चर्चा करते हुए कालिदास ने लिखा है कि जब राजा सुषेण अपनी प्रेयसियों के साथ मथुरा में यमुना-विहार करते थे तब

---

२३. रघुवंश, सर्ग ६, ४५–५१।

२४. "सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी॥"
(रघु०, ६, ४५)।

यमुना-जल का कृष्ण वर्ण गंगा की उज्ज्वल लहरों-सा प्रतीत होता था।[२५] यहाँ मथुरा का उल्लेख करते समय संभवतः कालिदास को समय का ध्यान नहीं रहा। इंदुमती (जिसका विवाह अयोध्या-नरेश अज के साथ हुआ) के समय में मथुरा नगरी नहीं थी। वह तो अज की कई पीढ़ी बाद शत्रुघ्न के द्वारा बसाई गई। टीकाकार मल्लिनाथ ने उक्त श्लोक की टीका करते समय ठीक ही इस संबंध में आपत्ति की है।[२६] कालिदास ने अन्यत्र शत्रुघ्न के द्वारा यमुना-तट पर भव्य मथुरा नगरी के निर्माण का कथन किया है।[२७]शत्रुघ्न के पुत्रों—शूरसेन और सुबाहु का क्रमशः मथुरा तथा विदिशा के अधिकारी होने का भी वर्णन रघुवंश में मिलता है।[२८]

कालिदास द्वारा उल्लिखित शूरसेन के अधिपति सुषेण का नाम काल्पनिक प्रतीत होता है। पौराणिक सूचियों या शिलालेखों आदि में मथुरा के किसी सुषेण राजा का नाम नहीं मिलता। कालिदास ने उन्हें 'नीप'-वंश का कहा है।[२९] परंतु यह बात ठीक नहीं जँचती। नीप दक्षिण पंचाल के एक राजा का नाम था, जो मथुरा के यादव-राजा भीम सात्वत के समकालीन थे। उनके वंशज नीपवंशी कहलाये।

कालिदास ने वृन्दावन और गोवर्धन का भी वर्णन किया है। वृंदावन के वर्णन से ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में इस वन का सौंदर्य बहुत प्रसिद्ध था और यहाँ अनेक प्रकार के फूल वाले लता-वृक्ष विद्यमान थे।

---

२५. "यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारि-विहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥"
(रघु०, ६, ४८)।

२६. "कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्म्मास्यत इति वक्ष्यति तत्कथमधुना मथुरासम्भव, इति चिन्त्यम् ।"

२७. "उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः ॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥" (रघु०, १५, २८-२९)

२८. "शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥" (रघु०, १५, ३६)

२९. रघुवंश, ६, ४६।

कालिदास ने वृंदावन की उपमा कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से दी है।[३०]

गोवर्धन की शोभा का वर्णन करते हुए महाकवि कहते हैं—"हे इंदुमति, तुम गोवर्धन पर्वत के उन शिलातलों पर बैठा करना जो वर्षा के जल से धोये जाते हैं तथा जिनसे शिलाजीत जैसी सुगंधि निकलती रहती है। वहाँ तुम गोवर्धन की रमणीक कन्दराओं में वर्षा ऋतु में मयूरों का नृत्य देखा करना।"[३१]

कालिदास के उपर्युक्त वर्णनों से तत्कालीन शूरसेन जनपद की महत्त्व-पूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। आर्यावर्त के प्रसिद्ध राज-वंशों के साथ उन्होंने शूरसेन के अधिपति का उल्लेख किया है। 'सुषेण' नाम काल्पनिक होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि शूरसेन-वंश की गौरवपूर्ण परंपरा ई० पाँचवीं शती तक अक्षुण्ण थी। वृंदावन, गोवर्धन तथा यमुना-संबंधी वर्णनों से ब्रज की तत्कालीन सुषमा भी का अनुमान लगाया जा सकता है।

कुमारगुप्त प्रथम (४१४–४५५ ई०)—चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम हुआ। उसके समय के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का पता चलता है। गुप्त संवत् १३५ (४५४–५५ ई०) का एक लेख[३२] मथुरा से भी प्राप्त हुआ है, जो कुमारगुप्त के अंतिम समय का है। इन लेखों तथा कुमारगुप्त के अनेक भाँति के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसके शासन में, कुछ अंतिम वर्षों को छोड़ कर, देश में शांति और सुव्यवस्था थी। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में साहित्य और कला की जो बहुमुखी उन्नति हुई थी वह कुमारगुप्त के समय में भी जारी रही।[३३]

---

३०. "संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥" (रघु०, ६, ५०)

३१. "अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥"
(वही, ६, ५१)

३२. मथुरा संग्रहालय (सं० ए० ४८); यह लेख एक बुद्ध-प्रतिमा की चौकी पर उत्कीर्ण है। इसमें एक 'विहारस्वामिनी' के द्वारा दान का उल्लेख है। यह अभिलिखित मूर्ति मथुरा जेल के समीप से प्राप्त हुई थी।

३३. दे० मजूमदार तथा पुसलकर—दि क्लासिकल एज (बम्बई, १९५४), पृ० २४–५।

हूणों तथा पुष्यमित्रों (?) के आक्रमण— कुमारगुप्त प्रथम के अंतिम समय में उत्तर-पश्चिम की अरक्षित सीमा की ओर से हूणों का भयंकर आक्रमण गुप्त साम्राज्य पर हुआ। यद्यपि कुमारगुप्त के यशस्वी पुत्र स्कन्दगुप्त ने हूणों का कड़ा मुकाबला किया, तो भी इन बर्बरों के भीषण आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य को डगमगा दिया। कुमारगुप्त के समय में ही पूर्वी मालवा तथा पंजाब पर हूणों का अधिकार स्थापित हो गया। उसकी मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त बड़ी कठिनाई से अपने साम्राज्य का भाग हूणों से छुड़ा सका। गुप्त-शासन के दूसरे प्रबल शत्रु 'पुष्यमित्र' लोग थे। ये संभवतः नर्मदा-तट के रहने वाले थे। स्कंदगुप्त के भीतरी-शिलालेख से ज्ञात होता है कि इन लोगों के आक्रमणों से भी गुप्त साम्राज्य को बड़ी क्षति पहुँची, जिसे बाद में स्कन्दगुप्त ने सँभाल लिया।

स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई०)—स्कन्दगुप्त बड़ा वीर एवं योग्य शासक था। वह ऐसे समय में सिंहासन पर बैठा जब कि एक ओर पारिवारिक कलह विद्यमान थी[३४] और दूसरी ओर शत्रुओं का प्रबल झंझावात गुप्त-शासन के अस्तित्व को ही संकटपूर्ण बना रहा था। स्कन्दगुप्त ने इन प्रतिकूल परिस्थितियों का साहस के साथ सामना किया। भीतरी (जि० गाजीपुर) से प्राप्त लेख से पता चलता है कि पिता की मृत्यु के बाद स्कन्दगुप्त ने डगमगाती हुई वंशलक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठापित किया। हूणों के साथ युद्ध करते समय पृथिवी काँप उठी। भीतरी के लेख से स्पष्ट पता चलता है कि हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का भयंकर संग्राम हुआ।[३५] जिन दुर्दांत बर्बर हूणों ने पाँचवीं शती

---

३४. स्कंदगुप्त को अपने सौतेले भाई पुरुगुप्त तथा संभवतः वंश के कतिपय अन्य लोगों से अधिकार के लिए झगड़ना पड़ा था। पुरुगुप्त की माता अनंतदेवी सम्राट् कुमारगुप्त की पटरानी थी और वह सम्राट् की मृत्यु के बाद अपने लड़के को ही उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। स्कंदगुप्त की मृत्यु के अनंतर साम्राज्य के लिए झगड़ा और भी बढ़ा।

३५. "हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।"
तथा—"पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः। जितमितिपरितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥"

में युरोप को रौंद डाला था और शक्तिशाली रोम साम्राज्य का अन्त कर पश्चिमी एशिया में तहलका मचा दिया था, उनसे भारत की रक्षा कर स्कन्द-गुप्त ने महान् शौर्य का परिचय दिया ![३६]

स्कन्दगुप्त के समय का एक ताम्रपत्र बुलंदशहर जिले के इंदौर (प्राचीन इंद्रपुर) नामक गांव से मिला है। यह लेख गुप्त संवत् १४६ (४६५-६६ ई०) का है। इस महत्त्वपूर्ण लेख से ज्ञात होता है कि उस समय गंगा-यमुना के दोआब (अंतर्वेदी) पर विषयपति शर्वनाग नियुक्त था।[३७] लेख में देवविष्णु नामक एक चतुर्वेदी ब्राह्मण के द्वारा इंद्रपुर के सूर्य-मंदिर में दीपक जलाने के लिए अक्षय कोष के रूप में दान देने का विवरण मिलता है। इस लेख में स्कन्दगुप्त की उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' लिखी है और उसके शासन को 'अभिवर्द्धमान-विजयराज्य' कहा गया है। इन बातों से ज्ञात होता है कि उक्त लेख के समय तक गुप्त साम्राज्य में शांति स्थापित हो चुकी थी और प्रजा द्वारा धार्मिक कार्य अच्छी प्रकार से संपन्न किये जाते थे। उक्त लेख के दो वर्ष बाद गुप्त संवत् १४८ (४६७–६८ ई०) का एक दूसरा लेख इला-हाबाद जिले के गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसमें भी गुप्त-शासन के लिए 'प्रवर्द्धमानविजयराज्य' कहा गया है। इस लेख से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त ने हूणों को जो करारी हार दी उसके कारण उन्होंने उसके जीवनकाल में फिर कोई आक्रमण नहीं किया।

स्कन्दगुप्त के समय का एक अन्य संस्कृत शिलालेख जूनागढ़ से भी मिला है, जिससे पता चलता है कि उस समय गुप्त सम्राट् द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र का प्रशासक पर्णदत्त था। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित गिरिनगर (गिरनार) का अधिकारी था। उसके समय में सुदर्शन नामक एक बड़ी झील

---

३६. विदेशी आक्रान्ताओं पर इस असाधारण विजय के कारण भारतीय जनता में अपने प्रिय सम्राट् के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न हुई होगी और उसने स्कंदगुप्त का अभिनंदन 'विक्रमादित्य' उपाधि के द्वारा किया होगा। स्कंद के सिक्कों पर 'विक्रमादित्य' (कुछ पर 'क्रमादित्य') उपाधि मिलती है।

३७. शर्वनाग का केंद्र संभवतः मथुरा नगर था। ताम्रपत्र का प्राप्ति-स्थान मथुरा नगर से कुछ ही मील दूर अनूपशहर कस्बे के पास है। गुप्त-काल में इस ओर मथुरा एक बड़ा नगर था, जो कुछ समय पूर्व ही नाग राज्य की राजधानी था।

का बाँध वर्षा ऋतु में टूट गया। यह झील चंद्रगुप्त मौर्य के समय में बनाई गई थी और इससे नहरों द्वारा सिंचाई का काम लिया जाता था। टूटे हुए बाँध को फिर से सुधारने का दुष्कर कार्य चक्रपालित ने पूरा किया।

स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अन्तिम प्रतापी सम्राट् था। उसकी मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा से गुप्त-अधिकार समाप्त हो गया। नर्मदा-तट का पूर्वी प्रदेश तथा बुंदेलखंड भी स्वतन्त्र होने की बाट जोहने लगे। अन्य प्रदेशों में भी धीरे-धीरे ये लक्षण दिखाई पड़ने लगे। स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-वंश में ऐसा कोई असाधारण प्रतिभा वाला शासक नहीं हुआ जो विस्तृत साम्राज्य को सँभाल सकता। फलतः साम्राज्य का अंत अवश्यंभावी हो गया।

परवर्ती गुप्त शासक—स्कन्दगुप्त का उत्तराधिकारी उसका भाई पुरुगुप्त (४६८–४७३ ई०) हुआ। उसने संभवतः 'प्रकाशादित्य' उपाधि धारण की। उसके बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा और उसके पश्चात् क्रमशः कुमारगुप्त द्वितीय तथा विष्णुगुप्त ने बहुत थोड़े समय तक शासन किया। ४७७ ई० में बुधगुप्त, जो शायद पुरुगुप्त का दूसरा पुत्र था, गुप्त-साम्राज्य का अधिकारी हुआ। इसका झुकाव बौद्ध मत की ओर था। उसके समय में गुप्त साम्राज्य में मध्य भारत, काशी तथा उत्तरी बंगाल तक का भाग सम्मिलित था। बुधगुप्त का शासन ५०० ई० के लगभग समाप्त हुआ।

बुधगुप्त के उत्तराधिकारियों (संभवतः तथागतगुप्त तथा बालादित्य) के समय में साम्राज्य का पश्चिमी बड़ा भाग हाथ से निकल गया। स्कन्दगुप्त के बाद हूणों के जो आक्रमण भारत पर हुए उन्हें कोई रोक न सका। तोरमाण नामक सरदार की अध्यक्षता में वे बहुत शक्तिशाली होगये। ई० ५०० के लगभग मध्यभारत का पश्चिमी भाग हूणों के अधिकार में चला गया। इस समय जबलपुर के आस-पास का इलाका परिव्राजक महाराजाओं के अधिकार में था। ये लोग गुप्तों के सामंत थे। पूर्व की ओर हूणों के प्रसार को रोकने के लिए ये शासक बराबर प्रयास करते रहे। इनके आस-पास कई छोटे राज्य थे। ई० पाँचवीं शती के अंतिम चतुर्थांश के कई लेख उन राजाओं के मिले हैं जो आधुनिक बुँदेलखंड, बघेलखंड तथा नर्मदा-तट पर शासन करते थे। इन लेखों में गुप्त सम्राटों का या उनके आधिपत्य का कोई जिक्र न होने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उक्त प्रदेशों ने तत्कालीन परिस्थितियों का लाभ उठा कर अपने को गुप्त साम्राज्य से पृथक् कर लिया था। इसी समय वाकाटकों की शक्ति बहुत बढ़ी। वाकाटक राजा नरेंद्रसेन के एक लेख में उसे कोशल, मेकल और मालव

का अधिपति कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि ई० पाँचवीं शती का अंत होते-होते वाकाटकों ने गुप्त साम्राज्य के दक्षिण का एक बड़ा भाग अपने अधिकार में कर लिया था। बुधगुप्त के समय तक तो गुप्त साम्राज्य का ढाँचा बना रहा, पर उसकी मृत्यु के बाद चारों ओर से आपत्तियों के जो बादल उमड़े उन्होंने कुछ समय बाद ही साम्राज्य को नष्ट कर दिया। बुधगुप्त के बाद उस के उत्तराधिकारियों के समय का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। इस वंश के अंतिम राजाओं में से दो के नाम वैन्यगुप्त तथा भानुगुप्त मिलते हैं । एरण (जि० सागर, मध्य प्रदेश) से प्राप्त ५१० ई० के एक लेख से पता चलता है कि भानुगुप्त ने अपने एक स्थानीय सामंत गोपराज के साथ एक प्रसिद्ध युद्ध में भाग लिया। यह युद्ध संभवतः हूण-शासक तोरमाण से हुआ, जिसमें गोप-राज मारा गया और उसकी स्त्री सती हो गई। इस लेख के अतिरिक्त भानुगुप्त के संबंध में अधिक जानकारी नहीं मिलती। विद्वानों का अनुमान है कि उसने लगभग ५३३ ई० तक राज्य किया।

मथुरा की हूणों द्वारा बर्बादी— ऊपर कहा जा चुका है कि तोर-माण की अध्यक्षता में हूणों ने ५०० ई० के लगभग पश्चिमी मध्यभारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय उनकी शक्ति बहुत प्रबल थी। ४८४ ई० में उन्होंने ईरान के सम्राट् को समाप्त कर वहाँ अपना आधिपत्य जमा लिया था। बल्ख को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया । उसके आगे दक्षिण-पूर्व चल कर वे तक्षशिला आदि विशाल नगरों को उजाड़ते और राज्यों[३८] को नष्ट करते हुए मथुरा होकर मध्यभारत तक पहुँच गये थे । मथुरा नगर उस समय बहुत समृद्ध था और यहाँ अनेक बौद्ध-स्तूपों और संघारामों के अतिरिक्त विशाल जैन तथा हिंदू इमारतें विद्यमान थीं । हूणों के द्वारा अधिकांश इमारतें जलाई और नष्ट की गईं, प्राचीन मूर्तियाँ तोड़ डाली गईं और नगर को बर्बाद किया गया। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में जिस विशाल मंदिर का निर्माण श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर किया गया था वह भी हूणों की क्रूरता का शिकार हुआ होगा। ग्वालियर पहुंचने के पहले संभवतः हूण लोग मथुरा में कुछ समय तक ठहरे । यहाँ उनके सिक्कों के कई ढेर प्राप्त हुए हैं। हूणों के आक्रमणों के बाद से लेकर महमूद गजनवी के समय (१०१७ई०) तक मथुरा में प्रायः शांति रही और इस अवधि में कोई बड़ा विदेशी आक्रमण नहीं हुआ।

---

३८. संभवतः यौधेय, मालव, कुणिंद, अर्जुनायन आदि विविध गणराज्यों का अंत इन्हीं क्रूरकर्मा हूणों द्वारा किया गया।

हूणों की पराजय—ई० छठी शती के प्रारंभ में हूण-शासन भारत में काश्मीर तथा पंजाब के अतिरिक्त राजपूताना, उत्तर प्रदेश तथा मध्यभारत के कुछ भागों पर स्थापित हो गया। ग्वालियर तथा एरण के लेखों से तोरमाण की प्रभुता का पता चलता है। ५१५ ई० के लगभग तोरमाण की मृत्यु हो जाने पर मिहिरकुल उसका उत्तराधिकारी हुआ। यह बड़ा क्रूर और अत्याचारी शासक था। चीनी यात्री हुएन-सांग ने लिखा है कि राजा बालादित्य ने तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को कैद कर लिया, पर बाद में वह छोड़ दिया गया। बालादित्य संभवतः भानुगुप्त की उपाधि थी।[39] ५३३ ई० के लगभग मालवा का शासक यशोधर्मन् हुआ। मंदसौर से प्राप्त इसके एक लेख से पता चलता है कि इसने हूण शासक मिहिरकुल को हरा कर उसे काश्मीर की ओर भगा दिया। ५६५ ई० के लगभग तुर्कों तथा ईरानियों ने बल्ख के हूणों को परास्त कर उधर से भी उनका प्रभुत्व समाप्त कर दिया।

हूणों के ऊपर विजय पाने के उपरांत यशोधर्मन् ने भानुगुप्त के पुत्र (?) वज्र को पराजित कर संभवतः उसे मार डाला। वज्र गुप्तवंश की प्रधान शाखा का अंतिम शासक प्रतीत होता है। उसके बाद यद्यपि परवर्ती गुप्तों का शासन मगध तथा उत्तरी बंगाल में कुछ समय बाद तक बना रहा पर मध्यदेश तथा उसके पश्चिमी तथा दक्षिणी भागों से प्रधान गुप्त वंश का शासन समाप्त हो गया। ई० छठी शती के मध्य में मौखरी वंश ने ईशानवर्मन् की अध्यक्षता में कनौज पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता जमा ली। उसी प्रकार वर्धन या या पुष्यभूति वंश के द्वारा थानेश्वर और उसके आस-पास के इलाके पर अपना नया राज्य स्थापित किया गया। धीरे-धीरे बंगाल भी गुप्तों के अधिकार से बाहर हो गया और वहाँ गौड़ के एक नये राजवंश का उदय हुआ, जिसमें शशांक एक शक्तिशाली शासक हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग सवा दो शताब्दियों के बाद भारत के एक महान् साम्राज्य का अंत हो गया! हूणों तथा पुष्यमित्रों के आक्रमण, प्रादेशिक शासकों की स्वतन्त्रता तथा परवर्ती गुप्त शासकों की निर्बलता एवं पारिवारिक कलह गुप्त साम्राज्य के नाश के प्रधान कारण थे।

गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक उन्नति—गुप्त शासन-काल भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस

---

३९. कुछ लोगों के अनुसार यह बालादित्य गुप्तवंशी नरसिंहगुप्त बालादित्य था। दे० रमेशचंद्र मजूमदार—दि क्लासिकल एज, पृ० ३७–८।

काल में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक—इन सभी दृष्टियों से देश की उन्नति हुई। लगभग सवा दो शताब्दी के इस दीर्घ काल में केवल कुछ वर्षों को छोड़ कर शेष समय में प्रायः सारे भारत में शान्ति विराजमान रही। इसका श्रेय मुख्यतः गुप्त सम्राटों की उदार नीति और दृढ़ शासन-व्यवस्था को है। सारा गुप्त साम्राज्य कई प्रांतों में विभाजित था। ये प्रांत 'देश' या 'भुक्ति' कहलाते थे। इनके अन्तर्गत 'प्रदेश' या 'विषय' होते थे। मथुरा का भूभाग उस समय 'अंतर्वेदी विषय' में सम्मिलित था। स्कन्दगुप्त के समय में इसका प्रशासक शर्वनाग था, जो संभवतः मथुरा के पूर्वोक्त नाग वंश से संबंधित था। स्कन्दगुप्त के पहले मथुरा संभवतः उस बड़ी भुक्ति के अन्तर्गत था जो कालिंदी (यमुना) तथा नर्मदा नदी के बीच ('कालिंदीनर्मदयोर्मध्ये') स्थित थी। इसमें मध्य भारत के पूर्वी मालवा का भाग भी आ जाता था। देश तथा भुक्ति के शासक 'गोप्ता' एवं 'उपरिक महाराज' कहलाते थे। विषय के शासक की संज्ञा 'विषयपति' थी। ये लोग प्रायः राजघराने से संबंधित होते थे और 'कुमारामात्य' तथा 'आयुक्तक' कहाते थे। बड़े विषयों के प्रशासक सीधे सम्राट् के अधीन होते थे। अन्य विषयपति गोप्ताओं की मातहती में काम करते थे। प्रदेशों तथा विषयों में शासन-व्यवस्था संबंधी विविध कार्यों के संपादन के लिए अधिकारी एवं कर्मचारी नियुक्त थे, जिनमें से अनेक की पद-संज्ञाएं गुप्तकालीन लेखों में मिलती हैं।

समुद्रगुप्त के समय से लेकर स्कन्दगुप्त के राज्यकाल तक साम्राज्य की व्यवस्था दृढ़ता के साथ संचालित होती रही। तत्कालीन साहित्य, अभिलेखों, सिक्कों तथा चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि उस समय देश में सुख और समृद्धि थी। कड़ी दंड-व्यवस्था के कारण अपराध बहुत कम होते थे। लोग सदाचार का पालन करते थे। अधिकांश गुप्त-सम्राट् वैष्णव-धर्मानुयायी थे, परंतु उनके समय में बौद्ध, जैन, शैव आदि अन्य धर्म भी विकसित होते रहे।[४०] राज्य की ओर से अन्य धर्मावलम्बियों को सब प्रकार से सुविधाएं दी जाती थीं। शासन के उच्च पदों पर कितने ही वैष्णवेतर लोग नियुक्त थे।

---

४०. मथुरा से प्राप्त चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के लेख की चर्चा की जा चुकी है, जिसमें शिव-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना का विवरण मिलता है। गुप्तकाल की बौद्ध एवं जैन मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मथुरा नगर और उसके आस-पास मिली हैं, जिनसे तत्कालीन सहिष्णु एवं शांतिपूर्ण वातावरण का स्पष्ट पता चलता है।

गुप्त शासन-काल में जीवनोपयोगी वस्तुएं सस्ती थीं। साधारण निर्वाह के लिए लोगों को चिंतित नहीं होना पड़ता था। फाह्यान ने लिखा है कि भारत में वस्तुओं के बेचने और खरीदने में केवल कौड़ियों का प्रयोग होता था। इससे तत्कालीन सस्तेपन का अनुमान लगाया जा सकता है। गुप्त शासकों ने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के बड़ी संख्या में चालू कराये थे। इन सिक्कों से तत्कालीन व्यावसायिक समृद्धि का पता चलता है। देश में अनेक बड़ी सड़कों का निर्माण कराया गया था, जिनसे आंतरिक यातायात तथा व्यापार में बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। देश के अनेक नगर वाणिज्य और व्यवसाय के बड़े केन्द्र बने, जहाँ से विदेशों से भी व्यापारिक आवागमन होने लगे। गुप्तकाल में भारत की धाक लगभग सारे एशिया पर छागई। मध्य एशिया तथा विशेषकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देश भारतीय संस्कृति के रंग में रँग गये। वहाँ भारतीय धर्म, भाषा, साहित्य और कला का व्यापक प्रभाव पड़ा, जिसका अस्तित्व शताब्दियों बाद तक विद्यमान रहा।

साहित्य और ललित कलाओं की बहुमुखी उन्नति गुप्त-काल में हुई। इस काल में भारत की प्रधान भाषा संस्कृत हुई। तत्कालीन गुप्त अभिलेख तथा साहित्य का एक बड़ा भाग संस्कृत में ही मिलता है। अनेक पुराणों को अंतिम रूप इसी काल में दिया गया। नारद, बृहस्पति, कात्यायन आदि के महत्वपूर्ण स्मृति-ग्रन्थों की रचना भी इसी समय हुई। प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और वराहमिहिर तथा नैयायिक एवं दार्शनिक गौडपाद, कुमारिल और प्रभाकर गुप्त-काल की महान् विभूतियाँ हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में ज्ञान-विज्ञान विषयक बहुमूल्य सामग्री संचित की है। अमरकोश के रचयिता अमर तथा भामह-जैसे काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ भी गुप्तकाल की देन हैं। परंतु सबसे अधिक उल्लेखनीय काव्य और नाटक का क्षेत्र है। महाकवि कालिदास तथा प्रवरसेन आदि कवियों ने अपनी रचनाओं में जिस सौंदर्य की सृष्टि की वह भारतीय साहित्य में अमर है। हरिषेण, वत्सभट्टि आदि अनेक कवियों की उत्कृष्ट रचनाएं गुप्त-अभिलेखों में मिलती हैं। 'वसुदेवहिंडि' आदि कई प्राकृत ग्रन्थों की भी रचना इस काल में हुई।

अध्याय ६

मध्य-काल

[५५० ई० से ११६४ ई० तक]

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति के बाद लगभग आधी शताब्दी तक उत्तर भारत की राजनैतिक स्थिति ठीक नहीं रही। अनेक छोटे-बड़े राजा विभिन्न प्रदेशों में अपनी शक्ति बढ़ाने में लग गये। सम्राट् हर्षवर्धन के पहले तक कोई ऐसी प्रबल केन्द्रीय सत्ता स्थापित न हो सकी जो छोटे-मोटे राज्यों को सुसंगठित करती। ई० छठी शती के मध्य से मौखरी, वर्धन, गुर्जर, मैत्रक, कलचुरि आदि कई राज-वंशों का अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। मथुरा प्रदेश पर जिन वंशों का अधिकार मध्यकाल में रहा उनकी चर्चा नीचे की जाती है।

मौखरी वंश—मौखरियों के शासन का पता गुप्त-काल के पहले भी गया तथा कोटा (राजस्थान) के आसपास चलता है। परंतु उस समय तक वे प्रायः अधीन शासकों की स्थिति में ही रहे थे। ई० छठी शती के मध्य में मौखरी वंश की एक शक्तिशाली शाखा का आविर्भाव हुआ, जिसने कनौज को अपना केन्द्र बनाया। इस शाखा के पहले तीन शासक गुप्त सम्राटों के सामंत थे। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद लगभग ५५४ ई० में मौखरी शासक ईशान-वर्मन् ने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। उसके समय के लेखों से पता चलता है कि उसने उड़ीसा और बंगाल के राजाओं को विजित किया। परवर्ती गुप्त शासकों ने मौखरियों की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतिरोध किया और ईशान-वर्मन् को पराजित किया। ईशानवर्मन् के समय में मौखरी राज्य की सीमाएं पूर्व में मगध तक, दक्षिण में मध्य प्रांत और आंध्र तक, पश्चिम में मालवा तथा उत्तर-पश्चिम में थानेश्वर राज्य तक थीं।

ईशानवर्मन् के पश्चात् जिन शासकों का कनौज तथा मथुरा प्रदेश पर शासन रहा वे क्रमशः शर्ववर्मन्, अवंतिवर्मन् तथा ग्रहवर्मन् नामक मौखरी शासक थे। इन शासकों की मुठभेड़ें परवर्ती गुप्त राजाओं के साथ काफी समय तक जारी रहीं। बाणभट्ट के हर्षचरित से विदित होता है कि छठी शती के उत्तरार्ध में तथा सातवीं के प्रारम्भ में मौखरी लोग काफी शक्तिशाली रहे।

ईशानवर्मन् या उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल में हूणों का आक्रमण भारत पर हुआ। उन्हें मौखरियों ने हरा कर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। ६०६ ई० के लगभग ग्रहवर्मन् का विवाह थानेश्वर के शासक प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। इस वैवाहिक संबंध द्वारा उत्तर भारत के दो प्रसिद्ध राजवंश—वर्धन तथा मौखरी एक सूत्रमें जुड़ गये। परन्तु प्रभाकरवर्धन के मरने के बाद मालव के राजा देवगुप्त ने ग्रहवर्मन् को मार डाला और राज्यश्री को कनौज में बंदी कर लिया। राज्यश्री के बड़े भाई राज्यवर्धन ने मालव पर चढ़ाई कर देवगुप्त को परास्त किया। परंतु इस विजय के उपरांत ही गौड़ के राजा शशांक ने राज्यवर्धन को विश्वासघात से मार डाला।

पुष्यभूति या वर्धन वंश—ई० छठी शती के आरम्भ में पुष्यभूति नामक राजा ने थानेश्वर और उसके आस-पास एक नये राजवंश की नींव डाली। इस वंश का पाँचवाँ राजा प्रभाकरवर्धन (लगभग ५८३-६०५ ई०) हुआ। उसकी उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' थी। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाकरवर्धन ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। बाणभट्ट-रचित 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि इस राजा ने सिंध, गुजरात और मालवा पर अपनी धाक जमा ली थी। गांधार प्रदेश तक के शासक उससे भय खाते थे तथा उसने हूणों को भी परास्त किया था, जिनके धावे फिर से प्रारम्भ हो गये थे। 'हर्षचरित' से विदित होता है कि प्रभाकरवर्धन ने अपने अंतिम दिनों में राज्यवर्धन को उत्तर दिशा की ओर हूणों का दमन करने के लिए भेजा। संभवतः उस समय भारत पर हूणों का अधिकार उत्तरी पंजाब तथा काश्मीर के कुछ भाग पर था। प्रभाकरवर्धन का राज्य पश्चिम में व्यास नदी से लेकर पूर्व में यमुना तक फैल गया। मथुरा प्रदेश इस राज्य की पूर्वी सीमा पर था।

प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन और एक पुत्री राज्यश्री थी। राज्यश्री का विवाह कनौज के मौखरी-शासक ग्रहवर्मन् के साथ हुआ। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद ही मालव के शासक ने ग्रहवर्मन् को मार डाला। राज्यवर्धन के भी न रहने पर हर्षवर्धन थानेश्वर राज्य का अधिकारी हुआ।

हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०)—हर्षवर्धन के समकालीन बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' नामक गद्य ग्रन्थ संस्कृत में लिखा है। इस ग्रन्थ में हर्ष के प्रारंभिक राज्य-काल का विस्तृत वर्णन मिलता है। हुएन-सांग नामक प्रसिद्ध

चीनी यात्री हर्ष के शासन-काल में भारत आया। उसने भी हर्ष के समय का हाल विस्तार से लिखा है। इसके अतिरिक्त 'मंजुश्रीमूलकल्प' आदि ग्रन्थों से तथा हर्ष के समय के प्राप्त कई अभिलेखों से तत्कालीन इतिहास का पता चलता है। हर्ष ने राज्यारोहण के बाद ही एक बड़ी सेना तैयार की और उत्तर तथा पूर्व भारत के अनेक राज्यों को जीता। राज्यश्री कनौज के कारागार से विंध्य के जंगलों की ओर चली गई थी। हर्ष उसे वहाँ से कनौज लाया। वह चाहता था कि राज्यश्री कनौज-राज्य का शासन करे, परन्तु राज्यश्री तथा मंत्रियों के आग्रह से हर्ष ने स्वयं शासन का संचालन स्वीकार कर लिया। कनौज को हर्ष ने अपना प्रधान राजनैतिक केन्द्र बनाया। उस समय से लेकर अगली कई शताब्दियों तक इस नगर को उत्तर भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ।

हर्ष ने कुछ वर्षों में ही अपनी विशाल सेना की सहायता से एक बड़े साम्राज्य का निर्माण कर लिया। वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा के प्रायः सभी राज्य हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत हो गये। पश्चिम में जालंधर तक उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। मथुरा का प्रदेश हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत ही रहा।[1] इस प्रकार हर्षवर्धन ने उत्तर भारत में अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने दक्षिण को भी जीतने की इच्छा से उधर चढ़ाई की। परन्तु बादामी के तत्कालीन चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय से उसे पराजित होना पड़ा, जिससे हर्ष की यह इच्छा पूरी न हो सकी। चालुक्य-वंश के लेखों में हर्ष की उपाधि 'सकलोत्तरापथनाथ' मिलती है, जिससे समग्र उत्तरापथ पर हर्ष के एकाधिकार का पता चलता है।

हर्षवर्धन ने अपने राज्यारोहण-वर्ष से एक नया संवत् चलाया, जो 'हर्ष संवत्' नाम से प्रसिद्ध है। ११वीं शताब्दी के लेखक अलबेरूनी ने लिखा

---

१. डा० रमाशंकर त्रिपाठी का विचार है कि मथुरा तथा मतिपुर—ये दो राज्य हर्ष के साम्राज्य से बाहर रहे। त्रिपाठी जी हुएन-सांग के यात्रा-विवरण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—दे० हिस्ट्री आफ कनौज, पृ० ११६। हुएन-सांग ६३५ ई० के लगभग मथुरा आया था। हो सकता है कि उस समय मथुरा के शासक ने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी हो। परंतु उसके पहले मथुरा प्रदेश अवश्य ही हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत था और संभवतः हर्ष की मृत्यु के कुछ समय पूर्व तक यही स्थिति रही।

है कि श्रीहर्ष का संवत् मथुरा और कनौज में प्रचलित था। हर्षवर्धन ने एक बड़े एवं दृढ़ साम्राज्य की स्थापना तो की ही, उसके समय में साहित्य, कला और धर्म की भी उन्नति हुई। बाणभट्ट तथा मयूर-जैसे प्रसिद्ध लेखक उसकी राजसभा में विद्यमान थे। बाण का विद्वान् पुत्र भूषणभट्ट, आचार्य दंडी, मातंग-दिवाकर तथा मानतुंगाचार्य भी हर्ष की सभा के रत्न माने जाते हैं। हर्ष स्वयं एक अच्छा लेखक था। उसके तीन नाटक—रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानंद मिले हैं, जिनसे हर्ष की साहित्यिक प्रतिभा का पता चलता है। नालंदा के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय को हर्ष ने सहायता प्रदान की। उसने नालंदा में एक विशाल बौद्ध विहार का भी निर्माण कराया। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों का भी हर्ष आदर करता था। उसकी दानशीलता बहुत प्रसिद्ध है। प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर प्रति पाँचवें वर्ष हर्ष दान किया करता था। कनौज नगर की हर्ष के समय में बड़ी उन्नति हुई। यहाँ अनेक भव्य इमारतों का निर्माण हुआ। धार्मिक शास्त्रार्थ भी यहाँ हुआ करते थे, जिनमें सभी विचारधाराओं के लोग भाग लेते थे। हुएन-सांग को सम्राट् हर्ष ने कनौज की सभा में बहुत सम्मानित किया। हर्ष उसकी विद्वत्ता और धार्मिकता से अत्यंत प्रभावित हो गया था।

हर्ष के शासन में प्रजा सुखी थी। राज्य का प्रबंध अच्छा था। बड़े अपराधों के लिए कठोर दंड दिये जाते थे। अधिकारी लोग अपने कर्त्तव्यों का बड़ी सतर्कता से पालन करते थे। जमीन की आय का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। सभी धर्म के मानने वालों को पूरी स्वतन्त्रता थी। मथुरा में उस समय पौराणिक हिंदू धर्म का जोर हो चला था, जैसा कि तत्कालीन कला-कृतियों से प्रकट होता है।

हुएन-सांग का मथुरा-वर्णन—हुएन-सांग के यात्रा-विवरण से तत्कालीन मथुरा की दशा पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। यह यात्री लगभग ६३५ ई० में मथुरा आया। इसने मथुरा का जो वर्णन किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

"मथुरा राज्य का क्षेत्रफल ५,००० ली (लगभग ८३३ मील) तथा उसकी राजधानी (मथुरा नगर) का विस्तार २० ली (लगभग ३॥ मील) है। यहाँ की भूमि उत्तम और उपजाऊ है। अन्न की पैदावार अच्छी होती है। यहाँ आम बहुत पैदा होता है जो छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता

है। पहले प्रकार वाला आम छुटपन में हरा रहता है और पकने पर पीला हो जाता है। बड़ी किस्म वाला आम सदा हरा रहता है । इस राज्य में उत्तम कपास और पीला सोना उत्पन्न होता है।" यहाँ के निवासियों की बाबत वह लिखता है—"उनका स्वभाव कोमल है और वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। ये लोग तत्त्वज्ञान का गुप्त रूप से अध्ययन करना पसंद करते हैं । ये परोपकारी हैं और विद्या के प्रति बड़े सम्मान का भाव रखते हैं।"

मथुरा की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय हुएन-सांग के निम्नलिखित वर्णन से प्राप्त होता है—"इस नगर में लगभग २० संघाराम हैं, जिनमें २,००० भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओं में हीनयान और महायान—इन दोनों मतों के मानने वाले हैं। यहाँ पाँच देव-मंदिर भी हैं, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते हैं । राजा अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप यहाँ विद्यमान हैं। विगत चारों बुद्धों के भी अनेक चिह्न यहाँ दिखाई देते हैं। तथागत भगवान् के साथियों के पवित्र अवशेषों पर भी स्मारक रूप में कई स्तूप बने हुए हैं। ……विभिन्न धार्मिक अवसरों पर संन्यासी लोग बड़ी संख्या में इन स्तूपों का दर्शन करने आते हैं और बहुमूल्य वस्तुएं भेट में चढ़ाते हैं। ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार अलग-अलग पवित्र स्थानों का दर्शन-पूजन करते हैं।……विशेष उत्सवों पर झंडे और बहुमूल्य छत्र चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं। सुगंधित पदार्थों का धुवां बादलों के समान छा जाता है और सब ओर से फूलों की वृष्टि होने लगती है । सूर्य और चंद्रमा बिलकुल छिप जाते हैं और पहाड़ों की घाटियाँ तुमुल घोष से निनादित हो उठती हैं । देश का राजा तथा उसके मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ धार्मिक कार्यों को करते हैं।"

"नगर के पूर्व ५-६ ली (लगभग १ मील) चलने पर एक ऊँचे संघाराम में पहुँचते हैं। उसके अगल-बगल गुफाएँ बनी हैं।…यह संघाराम पूज्य उपगुप्त के द्वारा बनवाया गया था । इसके भीतर एक स्तूप है, जिसमें तथागत के नाखून रखे हैं। संघाराम के उत्तर में २० फुट ऊँची और ३० फुट चौड़ी एक गुफा है। इसमें चार इंच लम्बे लकड़ी के टुकड़े भरे हैं । महात्मा उपगुप्त जिन लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर उन्हें अर्हत् पद प्राप्त कराते थे [उनकी संख्या मालूम रहे, इसलिए] उनमें से प्रत्येक विवाहित युग्म का एक टुकड़ा उस कमरे में डाल देते थे । जो लोग अविवाहित होते थे, उनके अर्हत् हो जाने पर भी उनकी कोई गणना नहीं रखी जाती थी ।"

था। परंतु फाह्यान के समय (ई० ४००) को देखते हुए अब यहाँ के बौद्ध-मतावलम्बियों की संख्या में कमी आ गई थी। फाह्यान ने मथुरा के बीस बौद्ध संघारामों का उल्लेख किया था, जिनमें लगभग ३,००० बौद्ध संन्यासी रहते थे। हुएन-सांग के समय यहाँ संघारामों की संख्या तो उतनी ही रही, पर बौद्ध-संन्यासियों की संख्या घट कर २,००० के ही लगभग रह गई। मथुरा में बौद्ध धर्म की क्रमशः अवनति का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि पौराणिक हिंदू धर्म की यहाँ उन्नति हो रही थी। हुएन-सांग ने मथुरा के पाँच बड़े हिंदू-मंदिरों का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से पुजारी रहते थे।

हुएन-सांग ने मथुरा राज्य के किसी भी नगर का नाम नहीं लिखा। यहाँ तक कि राजधानी मथुरा नगर का भी नाम उसके वर्णन में नहीं आया; न प्रसिद्ध यमुना नदी या यहाँ के पहाड़-वनों आदि का ही।

हुएन-सांग ने मथुरा के बड़े बौद्ध-विहारों का भी नाम नहीं दिया। उसके वर्णन से केवल इतना ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत से बौद्ध-स्तूप एवं विहार विद्यमान थे। एक बात जिस पर विद्वानों में काफी मतभेद है वह है—हुएन-सांग द्वारा वर्णित उपगुप्त[४] के संघाराम की पहचान। इस यात्री के लेखानुसार मथुरा नगर के पूर्व में लगभग एक मील चलने पर यह संघाराम मिलता था। कनिंघम ने 'पूर्व' की जगह 'पश्चिम' पाठ ठीक माना है और उन्होंने उक्त संघाराम की स्थिति वर्तमान कटरा मुहल्ले में प्राचीन'यशाविहार' के स्थान पर मानी है।[५] ग्राउज़ का कहना है कि उपगुप्त वाला विहार कङ्काली टीला पर रहा होगा।[६] परन्तु इस संबंध में उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं

---

४. अनुश्रुति के अनुसार उपगुप्त सम्राट् अशोक का समकालीन माना जाता है और कहा जाता है कि इसी से दीक्षा लेकर अशोक बौद्ध हो गया था। बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' के अनुसार उपगुप्त मथुरा का निवासी था और इतर बेचने का काम करता था। उसके रूप और शील पर किस प्रकार मथुरा की महार्घ गणिका वासवदत्ता मुग्ध हो गई थी, इसका मनोरंजक वर्णन 'दिव्यावदान' में मिलता है—दे० 'दिव्यावदान' (कावेल का संस्करण, कैंब्रिज, १८८६), पृ० ३४८-६; वाजपेयी—'दिव्यावदान में मथुरा का उल्लेख' (ब्रजभारती, वर्ष १०, अंक २, पृ० १६-१७)।

५. कनिंघम—सर्वे रिपोर्ट, जिल्द १, पृ० २३३-३४।

६. ग्राउज—मेम्वायर, पृ० ११२।

दिया। कङ्काली टीला बहुत प्राचीन काल से जैनियों का बड़ा केन्द्र था और लगभग ई० ११ वीं शती तक वहाँ जैन-केन्द्र रहा। उस स्थान पर बौद्धों के किसी बड़े स्तूप या विहार का पता नहीं चलता। अधिक संभव यही दिखाई पड़ता है कि उपगुप्त वाला संघाराम या तो वर्तमान 'सप्तर्षि-टीला' पर था और या उससे पूर्व की ओर कुछ आगे उस स्थान पर जिसे आजकल 'बुद्ध-तीर्थ' कहते हैं।

हर्ष की मृत्यु के बाद—हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये। चीनी लेखकों के विवरणों से ज्ञात होता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद वेंग-हिउंत्से नामक दूत की अध्यक्षता में एक चीनी प्रणिधि-वर्ग भारत पहुंचा। अर्जुन (या अरुणाश्व) नामक हर्ष के मंत्री ने, जो सिंहासन पर बैठ गया था, चीनी दल पर हमला किया। बाद में तिब्बत और नेपाल की सहायता से वेंग-हिउंत्से ने अर्जुन को परास्त कर भगा दिया। चीनी लेखकों का उक्त विवरण बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया मालूम पड़ता है। तो भी इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय साम्राज्य के पूर्वी भाग में अशांति का वातावरण छा गया था। साम्राज्य के पश्चिमी भाग की हर्ष के बाद क्या दशा हुई, इसका ठीक पता नहीं चलता।

यशोवर्मन् (लगभग ७००-७४० ई०)—ई० आठवीं शती के आरंभ में कनौज में यशोवर्मन् नामक शासक का पता चलता है। यशोवर्मन् की वंश-परम्परा के संबंध में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। हो सकता है कि वह कनौज के मौखरी-वंश से ही संबंधित हो। उसके राजकवि वाक्पति ने 'गौड-वहो' नामक प्राकृत ग्रन्थ लिखा है, जिससे यशोवर्मन् की अनेक विजय-यात्राओं का पता चलता है। काश्मीर के तत्कालीन शासक ललितादित्य ने कनौज पर चढ़ाई कर अन्त में यशोवर्मन् को परास्त कर दिया। इस युद्ध का विस्तृत विवरण कल्हण की राजतरंगिणी[७] में मिलता है। इस विजय से यमुना नदी के किनारे तक का प्रदेश, जिसमें मथुरा भी सम्मिलित था, ललितादित्य के अधिकार में हो गया। परन्तु यह आधिपत्य बहुत ही अल्प काल तक रहा।

यशोवर्मन् एक शक्तिशाली शासक था। उसके समय में कनौज के साथ मथुरा की भी उन्नति हुई होगी। यह शासक विद्या और कला का बड़ा

---

७. राजतरंगिणी (स्टाइन का संस्करण), तरंग ४, १३२ तथा आगे।

प्रेमी था। इसकी राज-सभा में वाक्पति के अतिरिक्त भवभूति-जैसे महान् कवि और नाट्यकार विद्यमान थे। भवभूति ने उत्तररामचरित, मालतीमाधव आदि कई नाटक लिखे, जो संस्कृत नाटय साहित्य की उत्कृष्ट रचनाएं मानी जाती हैं।

गुर्जर-प्रतीहार वंश—यशोवर्मन् के बाद कुछ समय तक मथुरा प्रदेश के इतिहास की ठीक जानकारी नहीं मिलती। आठवीं शती के उत्तरार्ध से उत्तर भारत में गुर्जर प्रतीहारों की शक्ति बहुत बढ़ी। गुर्जर लोग पहले राजस्थान में जोधपुर के आस-पास रहते थे। उनके कारण से ही लगभग छठी शती के मध्य से राजस्थान का अधिकांश भाग 'गुर्जरत्रा-भूमि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। यह विवादास्पद है कि गुर्जर लोग भारत के ही मूल-निवासी थे या हूणों आदि की तरह वे कहीं बाहर से आये। भारत में सबसे पहला गुर्जर राज्य स्थापित करने वाले राजा का नाम हरिचंद्र मिलता है, जिसे वेद-शास्त्रों का जानने वाला ब्राह्मण कहा गया है। उसके दो स्त्रियाँ थीं—ब्राह्मण स्त्री से प्रतीहार ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई तथा भद्रा नामक क्षत्रिय पत्नी से प्रतीहार-क्षत्रिय हुए, जिन्होंने शासन का कार्य सँभाला। गुप्त-साम्राज्य की समाप्ति के बाद हरिचंद्र और उसके क्षत्रिय-पुत्रों ने जोधपुर के उत्तर-पूर्व में अपने राज्य का विस्तार कर लिया। इनका शासन-काल ५५० ई० से लेकर ६४० ई० तक प्रतीत होता है। उनके बाद इस वंश के दस राजाओं ने लगभग दो शताब्दियों तक राजस्थान तथा मालवा के एक बड़े भाग पर शासन किया। इन शासकों ने पश्चिम की ओर से बढ़ते हुए अरब लोगों की शक्ति को रोकने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अरब लोगों के आक्रमण—अरब लोगों ने सातवीं शती में अपनी शक्ति का बहुत प्रसार कर लिया था। सीरिया और मिस्र को जीतने के बाद उन्होंने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। आठवीं शती के मध्य तक अरब साम्राज्य पश्चिम में फ्रांस से लेकर पूर्व में अफगानिस्तान तक स्थापित हो गया। ७१२ ई० में उन्होंने सिंध पर आक्रमण किया। वहाँ का राजा दाहिर बड़ी वीरता से लड़ा और उसने कई बार अरबों को परास्त किया। परंतु अंत में वह मारा गया और सिंध में अरब लोगों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इसके बाद वे पंजाब में मुलतान तक बढ़ गये। उन्होंने पश्चिम तथा दक्षिण भारत में भी बढ़ने के अनेक प्रयत्न किये। परंतु प्रतीहारों एवं राष्ट्रकूटों ने उनके सभी प्रयास विफल कर दिये।

प्रतीहार राजा वत्सराज के पुत्र नागभट ने अरबों को पराजित कर उनकी बढ़ती हुई शक्ति को गहरा धक्का पहुँचाया।

कनौज के प्रतीहार शासक—ई० नवीं शती के प्रारम्भ से कनौज पर प्रतीहार शासकों का आधिपत्य स्थापित हो गया। वत्सराज के पुत्र नागभट ने ८१० ई० के लगभग कनौज को जीता। उस समय दक्षिण में राष्ट्रकूटों तथा पूर्व में पाल-शासकों की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कनौज पर अधिकार जमाने के लिए ये दोनों राजवंश प्रयत्नशील थे। पाल-वंश के शासक धर्मपाल (७८०–८१५ ई०) ने बंगाल से लेकर पूर्वी पंजाब तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था और आयुधवंशी राजा चक्रायुध को कनौज का शासक बनाया था। नागभट ने धर्मपाल को परास्त कर चक्रायुध से कनौज का राज्य छीन लिया। अब सिंध प्रांत से लेकर कलिंग तक के विस्तृत भूभाग पर नागभट का अधिकार स्थापित हो गया। मथुरा प्रदेश इस समय से लेकर दसवीं शती के अंत तक गुर्जर-प्रतीहार साम्राज्य के अंतर्गत रहा।

नागभट तथा मिहिरभोज—शीघ्र ही नागभट को एक अधिक शक्तिशाली शत्रु का सामना करना पड़ा। यह राष्ट्रकूट राजा गोविंद तृतीय था। नागभट उसका सामना न कर सका और राज्य छोड़ कर उसे भाग जाना पड़ा। गोविंद तृतीय की सेनाएं उत्तर में हिमालय तक पहुँच गईं। परंतु महाराष्ट्र में गड़बड़ फैल जाने से गोविंद को शीघ्र ही दक्षिण लौटना पड़ा। नागभट के बाद उसका पुत्र रामभद्र ८३३ ई० के लगभग कनौज साम्राज्य का अधिकारी हुआ। उसका पुत्र मिहिरभोज (८३६–८८५ ई०) बड़ा प्रतापी शासक हुआ। उसके समय में भी पालों और राष्ट्रकूटों के साथ युद्ध जारी रहे। प्रारंभ में तो भोज को कई असफलताओं का सामना करना पड़ा, परंतु बाद में उसने तत्कालीन भारत की दोनों प्रमुख शक्तियों को पराजित किया। उसके साम्राज्य में पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा मालवा सम्मिलित हो गये। इस बड़े साम्राज्य को व्यवस्थित करने का श्रेय मिहिरभोज को है।

महेंद्रपाल (८८५–६१० ई०)—मिहिरभोज का पुत्र महेंद्रपाल अपने पिता के समान ही निकला। उसके समय में उत्तरी बंगाल भी प्रतीहार साम्राज्य में शामिल हो गया। अब हिमालय से लेकर विंध्याचल तक तथा बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक प्रतीहार साम्राज्य का विस्तार हो गया। महेंद्रपाल के समय के कई लेख काठियावाड़ से लेकर बंगाल तक के

भूभाग से प्राप्त हुए हैं। इस शासक की अनेक उपाधियाँ उक्त लेखों में मिलती हैं। 'महेंद्रायुध', 'निर्भयराज', 'निर्भयनरेंद्र' आदि उपाधियों से महेंद्रपाल की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

महीपाल (९१२-९४४ ई०)—यह महेंद्रपाल का दूसरा लड़का था और अपने बड़े भाई भोज द्वितीय के बाद साम्राज्य का अधिकारी हुआ। संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् राजशेखर इसी के समय में हुए, जिन्होंने महीपाल को 'आर्यावर्त का महाराजाधिराज' लिखा है और उसकी अनेक विजयों का वर्णन किया है। अल-मसूदी नामक मुसलमान यात्री बगदाद से ९१५ ई० में भारत आया। प्रतीहार साम्राज्य का वर्णन करते हुए इस यात्री ने लिखा है कि उसकी दक्षिणी सीमा राष्ट्रकूट राज्य से मिलती थी और सिंध का एक भाग तथा पंजाब उसमें सम्मिलित थे। प्रतीहार सम्राट् के पास घोड़े और ऊँट बड़ी संख्या में थे। साम्राज्य के चारों कोनों में सात लाख से लेकर नौ लाख तक फौज रहती थी। उत्तर में मुसलमानों की शक्ति को तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट शक्ति को बढ़ने से रोकने के लिए इस सेना का रखना बहुत जरूरी था।[८]

राष्ट्रकूट-आक्रमण— ९१६ ई० के लगभग दक्षिण से राष्ट्रकूटों का पुनः एक बड़ा आक्रमण हुआ। इस समय राष्ट्रकूट-शासक इंद्र तृतीय था। उसने एक बड़ी फौज लेकर उत्तर की ओर प्रयाण किया। उसकी सेना ने अनेक नगरों को बर्बाद किया, जिनमें कनौज मुख्य था। इन्द्र ने महीपाल को पराजित करने के बाद प्रयाग तक उसका पीछा किया। परन्तु इंद्र को उसी वर्ष दक्षिण लौट जाना पड़ा। उसके जाने के बाद महीपाल ने पुनः अपनी शक्ति को सँभाला। परंतु राष्ट्रकूटों के इस बड़े आक्रमण के बाद प्रतीहार साम्राज्य को गहरा धक्का पहुँचा और उसका पुराना गौरव नष्ट हो चला। ९४० ई० के लगभग राष्ट्रकूटों ने उत्तर की ओर बढ़ कर प्रतीहार साम्राज्य का एक बड़ा भाग अपने राज्य में मिला लिया। साम्राज्य के कई अन्य प्रदेशों में भी सामंत लोग स्वतन्त्र होने लगे। इस प्रकार महान् प्रतीहार साम्राज्य का पतन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा।

परवर्ती प्रतीहार शासक (लगभग ९४४-१०३५ ई०)—महीपाल के उत्तराधिकारी क्रमशः महेंद्रपाल, देवपाल, विनायकपाल, विजयपाल,

---

८. दे० रमेशचंद्र मजूमदार—ऐंश्यंट इंडिया (बनारस, १९५२), पृ० ३०५।

राज्यपाल,त्रिलोचनपाल तथा यशःपाल नामक प्रतीहार शासक हुए। इनके समय में साम्राज्य के कई प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। बुंदेलखंड में चंदेल, महाकोशल में कलचुरि, मालवा में परमार, सौराष्ट्र में चालुक्य, पूर्वी राजस्थान में चाहमान, मेवाड़ में गुहिल तथा हरियाना में तोमर आदि अनेक राजवंशों ने उत्तर भारत में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। इनमें आपस में शक्ति-प्रसार के लिए कुछ समय तक कशमकश चलती रही।

प्रतीहार-शासन में मथुरा की दशा—नवीं शती के आरम्भ से लेकर दसवीं शती के अंत तक लगभग २०० वर्षों तक मथुरा प्रदेश गुर्जर-प्रतीहार-साम्राज्य के अंतर्गत रहा। इस वंश में मिहिरभोज, महेंद्रपाल तथा महीपाल बड़े प्रतापी शासक हुए। उनके समय में लगभग समस्त उत्तर भारत एक छत्र के अन्तर्गत हो गया। अधिकांश प्रतीहार-शासक वैष्णव या शैव मतावलम्बी थे। उनके लेखों में उन्हें विष्णु, शिव तथा भगवती का भक्त कहा गया है। नागभट द्वितीय, रामभद्र तथा महीपाल सूर्य-भक्त थे। प्रतीहारों के शासन-काल में मथुरा में हिंदू पौराणिक धर्म की अच्छी उन्नति हुई। मथुरा में उपलब्ध तत्कालीन कलाकृतियों से इसकी पुष्टि होती है। ई० नवीं शती के आरंभ का एक लेख हाल में श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान से प्राप्त हुआ है। इससे राष्ट्रकूटों के उत्तर भारत आने तथा जन्म-स्थान पर धार्मिक कार्य करने का पता चलता है। संभवतः राष्ट्रकूटों ने अपने आक्रमण द्वारा धार्मिक केन्द्र मथुरा को कोई क्षति नहीं पहुँचाई। नवीं और दसवीं शताब्दियों में कई बार भारत की प्रमुख शक्तियों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष हुए। आक्रमणकर्ताओं का मुख्य उद्देश्य भारत की राजधानी कनौज को जीतने का होता था। मथुरा को इन युद्धों से विशेष क्षति पहुँची हो, इसका पता नहीं चलता।

महमूद गजनवी का आक्रमण—ग्यारहवीं शती के आरम्भ में उत्तर-पश्चिम की ओर से मुसलमानों के धावे भारत की ओर होने लगे। गजनी का मूर्तिभंजक सुलतान महमूद सत्रह बार भारत पर चढ़ आया। उसका उद्देश्य लूटपाट करके गजनी लौट जाना होता था। अपने नवें आक्रमण का निशाना उसने मथुरा को बनाया। उसका यह आक्रमण १०१७ ई० में हुआ। महमूद के मीरमुंशी अल-उत्बी ने अपनी पुस्तक 'तारीखे यामिनी' में इस आक्रमण का विस्तृत वर्णन किया है, जिससे निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

महावन में उस समय कूलचंद नामक राजा का किला था ।[१] यह राजा बड़ा शक्तिशाली था और उससे कोई विजय प्राप्त न कर सका था। उसका राज्य बहुत बड़ा था। वह अपार धन तथा एक बड़ी सेना का स्वामी था और उसके सुदृढ़ किले कोई भी दुश्मन नहीं ढहा सकता था । जब उसने सुलतान (महमूद) की चढ़ाई की बाबत सुना तो अपनी फौज इकट्ठी करके मुकाबले के लिए तैयार हो गया। परन्तु उसकी सेना शत्रु को हटाने में असफल रही और सैनिक मैदान छोड़ कर भाग गये, जिससे नदी पार निकल जायें। जब कूलचंद के लगभग ५०,००० आदमी मारे गये या नदी में डूब गये, तब राजा ने एक खंजर लेकर पहले अपनी स्त्री को समाप्त कर दिया और फिर उसी के द्वारा अपना भी अंत कर लिया । सुलतान को इस विजय से १८५ बढ़िया हाथी तथा अन्य माल हाथ लगा।

इसके बाद सुलतान महमूद की फौज मथुरा पहुँची। यहाँ का वर्णन करते हुए उत्बी लिखता है—

"इस शहर में सुलतान ने निहायत उम्दा ढंग की बनी हुई एक इमारत देखी, जिसे स्थानीय लोगों ने मनुष्यों की रचना न बता कर देवताओं की कृति बताई। नगर का परकोटा पत्थर का बना हुआ था, उसमें नदी की ओर ऊँचे तथा मजबूत आधार-स्तंभों पर बने हुए दो दर्वाजे स्थित थे। शहर के दोनों ओर हजारों मकान बने हुए थे जिनसे लगे हुए देवमंदिर थे। ये सब पत्थर के बने थे और लोहे की छड़ों द्वारा मजबूत कर दिये गये थे। उनके सामने दूसरी इमारतें बनी थीं, जो सुदृढ़ लकड़ी के खंभों पर आधारित थीं। शहर के बीच में सभी मंदिरों से ऊँचा एवं सुन्दर एक मंदिर था, जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र-रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है। सुलतान महमूद ने स्वयं उस मंदिर के बारे में लिखा कि 'यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण-मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेंगे और उसके निर्माण में २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरों को ही क्यों न लगा दिया जावे।' सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जला कर उन्हें धराशायी कर दिया जाय। बीस दिनों तक बराबर शहर की लूट होती रही। इस लूट में महमूद के हाथ खालिस सोने की पाँच बड़ी मूर्तियाँ लगीं, जिनकी

---

१. संभवतः इस समय मथुरा प्रदेश का राजनैतिक केंद्र महावन ही था।

आँखें बहुमूल्य माणिक्यों से जड़ी हुई थीं। इनका मूल्य पचास हजार दीनार था। केवल एक सोने की मूर्ति का ही वजन चौदह मन था। इन मूर्तियों तथा चाँदी की बहुसंख्यक प्रतिमाओं को सौ ऊँटों की पीठ पर लाद कर गजनी ले जाया गया।"[10]

महमूद के द्वारा मथुरा की बरबादी की चर्चा अन्य कई मुसलमान लेखकों ने भी की है। इनमें बदायूँनी तथा फरिश्ता के विवरण उल्लेखनीय हैं। बदायूँनी ने लिखा है—"मथुरा काफिरों के पूजा की जगह है। यहाँ वसुदेव के लड़के कृष्ण पैदा हुए। यहाँ असंख्य देव-मंदिर हैं। सुलतान (महमूद गजनवी) ने मथुरा को फतह किया और उसे बरबाद कर डाला। मुसलमानों के हाथ बड़ी दौलत लगी। सुलतान की आज्ञा से उन्होंने एक देवमूर्ति को तोड़ा, जिसका वजन ९८,३०० मिश्कल[11] खरा सोना था। एक बेशकीमती पत्थर मिला, जो तोल में ४५० मिश्कल था। इन सबके अतिरिक्त एक बड़ा हाथी मिला, जो पहाड़ के मानिंद था। यह हाथी राजा गोविंदचंद का था।"[12]

१६०० ई० के लगभग फरिश्ता ने भारत का विस्तृत वर्णन लिखा। मथुरा के संबंध में उसने कई उल्लेख किये हैं। महमूद गजनवी की चढ़ाई का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि महमूद मेरठ से महावन पहुँचा था। महावन को लूटने के बाद वह मथुरा पहुँचा। फरिश्ता ने लिखा है—"सुलतान ने मथुरा में मूर्तियों को भग्न करवाया और बहुत-सा सोना-चाँदी प्राप्त किया। वह मंदिरों को भी तोड़ना चाहता था, पर उसने यह देखकर कि यह काम बड़ा श्रमसाध्य है, अपना विचार बदल दिया।[13] कुछ लोगों का अनुमान है कि मंदिरों के सौंदर्य से प्रभावित होकर सुलतान ने उन्हें नष्ट करने

---

१०. दे० ब्राउज—मेम्वायर, पृ० ३१-३२।

११. एक मिश्कल तोल में ९६ जौ की तोल के बराबर होता है।

१२. जी रैंकिंग—मुंतखबुत्तवारीख ऑफ अल-बदायूँनी (कलकत्ता, १८४५), जिल्द १, पृ० २४-५। यह राजा गोविंदचंद कौन था, यह बताना कठिन है। निस्संदेह कनौज के गाहड़वाल राजा गोविंदचंद्र से यह भिन्न था।

१३. परन्तु उत्वी ने लिखा है कि सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जला कर धराशायी कर दिया जाय। फरिश्ता का कथन ठीक मालूम पड़ता है।

का खयाल छोड़ दिया। उसने गजनी के गवर्नर को मथुरा की बाबत जो लिखा उससे प्रमाणित होता है कि इस शहर तथा यहाँ की इमारतों का उसके चित्त पर बड़ा असर पड़ा। सुलतान मथुरा में बीस दिन तक ठहरा। इस अवधि में शहर की बड़ी बर्बादी की गई।"[१४]

महमूद के आक्रमण से मथुरा नगर को निस्संदेह बड़ी क्षति पहुँची। यह आक्रमण एक बड़े तूफान की तरह का था। मथुरा की बर्बादी के बाद लुटेरे यहाँ ठहरे नहीं। नगर की स्थिति को सुधारने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। कूलचंद के बाद उसके वंश के कौन शासक हुए, इसका कुछ पता नहीं चलता।

अलबेरुनी—महमूद के आक्रमण के कुछ समय बाद ही अलबेरुनी नामक प्रसिद्ध मुसलमान लेखक भारत आया। वह महमूद के दरबार में रह चुका था। उसने यहाँ संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। भारत में कुछ दिन ठहरने के बाद अलबेरुनी ने इस देश के संबंध में १०३० ई० में 'किताबुलहिंद' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने भारतीय इतिहास, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि के विषय में तथा यहाँ के लोगों की बाबत विस्तृत विवरण लिखा है। अलबेरुनी ने वायुपुराण, बृहत्संहिता आदि पुस्तकों की भौगोलिक सूचियों के आधार पर शूरसेन तथा मथुरा का भी उल्लेख किया है।[१५] उसने लिखा है कि मथुरा नगर यमुना-तट पर बसा है। भगवान् वासुदेव (कृष्ण) के मथुरा में जन्म का तथा उनके चरित का वर्णन अलबेरुनी ने कुछ विस्तार से किया है।[१६] परंतु उसने कई बातें भ्रामक लिखी हैं। एक जगह पर वह लिखता है कि कृष्ण के पिता वसुदेव शूद्र थे और वे जट्टवंश के पशुपालक थे। अपनी पुस्तक में अलबेरुनी ने मथुरा में व्यवहृत संवत् का भी उल्लेख किया है और लिखा है कि मथुरा तथा कनौज के राज्यों में श्रीहर्ष का संवत् चलता था।[१७]

---

१४. जान ब्रिग्स—हिस्ट्री आफ दि राइज़ आफ दि मोहैमेडन इन पावर इंडिया (कलकत्ता, १६०८), जि० १, पृ० ५७–५६।

१५. ई० सी० साचौ—अलबेरुनीज़ इंडिया (लंदन, १६१४), जि० १, पृ० ३००, ३०८।

१६. साचौ—वही, पृ० ४०१–५।

१७. वही, जिल्द २, पृ० ५।

महमूद गजनवी के उक्त आक्रमण के बाद कुछ समय तक मथुरा प्रदेश की दशा का ठीक पता नहीं चलता । हरियाना प्रदेश के तोमर लोग दक्षिण की ओर अपनी प्रभुता का प्रसार करने लगे थे। इधर राजस्थान के चाहमान लोगों ने भी मथुरा की ओर बढ़ना शुरू किया । अजमेर से दिल्ली तक का प्रदेश धीरे-धीरे उनके अधिकार में आ गया । तोमरों के साथ उनकी मुठभेड़ अनिवार्य हो गई। ग्वालियर के आस-पास कछवाहा राजपूतों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। कछवाहों तथा बुंदेलखंड के चंदेलों ने मुसलमानों से कई बार टक्करें लीं । महमूद के हमलों की समाप्ति के बाद कछवाहों तथा चंदेलों के धावे प्रतीहार राजाओं के केन्द्र कनौज तक होने लगे। ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रकूट वंश की एक शाखा का अधिकार कुछ दिनों तक कनौज पर स्थापित हो गया। चालुक्य शासक सोमेश्वर प्रथम तथा चोलराज वीरराजेंद्र ने भी कनौज पर आक्रमण किये। इन आक्रमणों के कारण कनौज को अवश्य क्षति पहुँची होगी।

गाहडवाल वंश—११वीं शताब्दी का अंत होते-होते उत्तर-भारत में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जो गाहडवाल वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश का प्रारम्भ महाराजा चंद्रदेव से हुआ । इसने अपने शासन का विस्तार कनौज से लेकर बनारस तक कर लिया । पंजाब के तुरुष्क लोगों का भी इसने मुकाबला किया।

गोविंदचंद्र (लगभग १११२-११५५ ई०)—चंद्रदेव के बाद उसका पुत्र मदनचंद्र कुछ समय तक शासन का अधिकारी रहा। उसके पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र गोविंदचंद्र शासक हुआ। इसके समय के चालीस से ऊपर अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं । गोविंदचंद्र ने अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ किया । कुछ समय बाद प्रायः संपूर्ण उत्तर प्रदेश और मगध का एक बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया। पूर्व में पाल तथा सेन राजाओं से गोविंदचंद्र को लड़ना पड़ा। चंदेलों को परास्त कर उसने उनसे पूर्वी मालवा छीन लिया । इसी प्रकार दक्षिण कोशल के कलचुरि राजाओं से भी उसका युद्ध हुआ। राष्ट्रकूट, चालुक्य, चोल तथा काश्मीर के राजाओं के साथ गोविंदचंद्र ने राजनैतिक मैत्री स्थापित की । मुसलमानों को आगे बढ़ने से रोकने में भी गोविंदचंद्र सफल हुआ। उसके द्वारा उत्तर भारत में एक विस्तृत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना की गई। उसके दीर्घ शासन-काल में 'मध्य देश' में शांति स्थापित रही। कनौज नगर के गौरव को गोविंदचंद्र ने एक बार फिर से बढ़ाया । यह शासक वैष्णव था; इसने काशी के आदिकेशव घाट में स्नान

कर ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा दी। इसकी रानी कुमारदेवी के द्वारा सारनाथ में एक नये बौद्ध विहार का निर्माण कराया गया। गोविंदचंद्र ने स्वयं भी श्रावस्ती के बौद्ध भिक्षुओं को छह गाँव दान में दिये। इन बातों से इस शासक की धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता का पता चलता है। इसके ताम्रपत्रों में गोविंदचंद्र की उपाधियाँ 'महाराजाधिराज' तथा 'विविध विद्या-विचार-वाचस्पति' मिलती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह राजा विद्वान् था। इसके एक मंत्री लक्ष्मीधर के द्वारा 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की गई, जिसमें राजनीति तथा धर्मविषयक अनेक बातों का विवेचन है।

गोविंदचंद्र के सोने और तांबे के सिक्के मथुरा से लेकर बनारस तक मिलते हैं। मिश्रित धातु वाले स्वर्ण-सिक्कों की संख्या बहुत अधिक है। इन पर एक ओर 'श्रीमद्गोविंदचंद्रदेव' लिखा रहता है और दूसरी तरफ बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति रहती है। ये सिक्के चवन्नी से कुछ बड़े रहते हैं। ताँबे के सिक्के अपेक्षाकृत कम मिलते हैं।

विजयचंद्र या विजयपाल (११५५–७० ई०)—गोविंदचंद्र के बाद उसका पुत्र विजयचंद्र राज्य का शासक हुआ। कमौली (जि० बनारस) से प्राप्त एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसने मुसलमानों से युद्ध कर उन्हें परास्त किया। यह युद्ध गजनी के शासक खुसरो या उसके लड़के खुसरो-मलिक से हुआ होगा। विजयचंद्र भी वैष्णव था और इसने अपने राज्य में कई विष्णु-मंदिरों का निर्माण कराया। मथुरा में श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान पर सं० १२०७ (११५० ई०) में विजयचंद्र के द्वारा एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया गया।[१८] उस समय विजयचंद्र संभवतः युवराज था और अपने पिता की ओर से मथुरा प्रदेश का शासक था। अभिलेख में राजा का नाम 'विजय-पालदेव' दिया है। 'पृथ्वीराजरासो' में भी विजयचंद्र का नाम 'विजयपाल' ही मिलता है। रासो के अनुसार विजयपाल ने कटक के सोमवंशी राजा पर तथा दिल्ली, पाटन, कर्नाटक आदि देशों पर चढ़ाई की और वहाँ के राजाओं

---

१८. कटरा केशवदेव से प्राप्त सं० १२०७ के एक लेख से इसका पता चलता है। लेख में नवनिर्मित मंदिर के दैनिक व्यय के लिए दो मकान, छह दुकानें तथा एक वाटिका प्रदान करने का उल्लेख है। यह भी लिखा है कि मंदिर के प्रबंध के हेतु चौदह नागरिकों की एक 'गोष्ठी' (समिति) नियुक्त की गई, जिसका प्रमुख 'जज्ज' नामक व्यक्ति था।

को परास्त किया।[१९] लेखों से ज्ञात होता है कि इसने अपनी जीवितावस्था में ही अपने पुत्र जयचंद्र को राज्य का कार्य सौंप दिया। संभवतः ऐसा करके उसने अपने वंश की परंपरा का पालन किया।

जयचंद्र (११७०-९४ ई०)—यह विजयचंद्र का पुत्र था। 'रासो' के अनुसार जयचंद्र दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न हुआ था। नयचंद्र द्वारा रचित 'रंभामंजरी' नाटिका से ज्ञात होता है कि इसने चंदेल राजा मदनवर्मदेव को पराजित किया। इस नाटिका तथा 'रासो' से यह भी पता चलता है कि जयचंद्र ने शिहाबुद्दीन गोरी को कई बार पराजित कर उसे भारत से भगा दिया। मुसलमान लेखकों के विवरणों से ज्ञात होता है कि जयचंद्र के समय में गाहडवाल साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। इब्न असीर नाम लेखक ने तो उसके राज्य का विस्तार चीन साम्राज्य की सीमा से लेकर मालवा तक लिखा है। पूर्व में बंगाल के सेन राजाओं से जयचंद्र का युद्ध एक दीर्घ काल तक जारी रहा।

जयचंद्र के शासन-काल में बनारस और कनौज की बड़ी उन्नति हुई। कनौज, असनी (जि० फतहपुर) तथा बनारस में जयचंद्र के द्वारा मजबूत किले बनवाये गये। इसकी सेना बहुत बड़ी थी, जिसका लोहा सभी मानते थे। गोविंदचंद्र की तरह जयचंद्र भी विद्वानों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध नैषध-महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष जयचंद्र की राजसभा में रहते थे। उन्होंने कान्य-कुब्ज सम्राट् के द्वारा सम्मान-प्राप्ति का उल्लेख अपने महाकाव्य के अन्त में किया है।[२०] जयचंद्र के द्वारा राजसूययज्ञ करने का भी पता चलता है।[२१]

मुसलमानों द्वारा उत्तर भारत की विजय—परन्तु भारत के दुर्भाग्य से तत्कालीन प्रमुख शक्तियों में एकता न थी। गाहडवाल, चाहमान, चन्देल, चालुक्य तथा सेन एक-दूसरे के शत्रु थे। जयचंद्र ने सेन वंश के साथ

---

१९. पृथ्वीराज रासो, अ० ४५, पृ० १२५५-५८। 'द्व्याश्रय काव्य' में चालुक्य राजा कुमारपाल के द्वारा कनौज पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि इस समय चालुक्यों और गाहडवालो के बीच अनबन हो गई हो।

२०. "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥" (नैषध २२,१५३)

२१. इस यज्ञ के प्रसंग में जयचंद्र के द्वारा अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचने एवं पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता-हरण की कथा प्रसिद्ध है। परन्तु इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

लंबी लड़ाई कर अपनी शक्ति को कमजोर कर लिया । तत्कालीन चाहमान शासक पृथ्वीराज से उसकी घोर शत्रुता थी । इधर चंदेलों और चाहमानों के बीच अनबन थी । ११२० ई० में जब कि मुहम्मद ग़ोरी भारत-विजय की आकांक्षा से पंजाब में बढ़ता चला आ रहा था, पृथ्वीराज ने चंदेल-शासक परमर्दिदेव पर चढ़ाई कर उसके राज्य को तहस-नहस कर डाला । इसके बाद उसने चालुक्यराज भीम से भी युद्ध ठान दिया ।

उत्तर भारत के प्रधान शासकों की इस आपसी फूट का मुसलमानों ने पूरा लाभ उठाया । शिहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी पंजाब से बढ़ कर गुजरात की ओर गया । फिर उसने पृथ्वीराज के राज्य पर भी आक्रमण किया ।[२२] ११९१ ई० में थानेश्वर के पास तराइन के मैदान में पृथ्वीराज और ग़ोरी की सेनाओं में मुठभेड़ हुई । ग़ोरी युद्ध में घायल हुआ और पराजित होकर भाग गया । उसकी सेना बुरी तरह हारी । दूसरे वर्ष वह पुनः बड़ी तैयारी के साथ चढ़ दौड़ा । इस बार तराइन पर फिर घमासान युद्ध हुआ, जिसमें पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह मारा गया । अब अजमेर और दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया । कुतुबुद्दीन ऐबक भारत का प्रशासक बनाया गया ।

११९४ ई० में कुतुबुद्दीन की अध्यक्षता में मुसलमानों ने कनौज राज्य पर चढ़ाई की । चंदावर (जि० इटावा) के युद्ध में जयचंद्र ने बड़ी बहादुरी से मुसलमानों का सामना किया । मुसलमान लेखकों के विवरणों से पता चलता है कि चंदावर का युद्ध भयंकर हुआ । कुतुबुद्दीन की फ़ौज में पचास हजार सवार थे । जयचंद्र ने अपनी सेना का संचालन स्वयं किया परंतु अंत में वह पराजित हुआ और मारा गया । अब कनौज से लेकर बनारस तक मुसलमानों का अधिकार होगया । क़नौज, असनी तथा बनारस में बड़ी लूट-मार हुई ।

इस प्रकार ११९४ ई० में कनौज साम्राज्य का अंत हुआ और मथुरा का प्रदेश भी मुसलमानों के अधिकार में चला गया । कुछ वर्ष बाद ही पूर्व और मध्य भारत में भी मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया ।

---

२२. कुछ लोगों का यह विचार कि पृथ्वीराज से शत्रुता होने के कारण जयचंद्र ने मुसलमानों को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया, युक्तिसंगत नहीं । उक्त कथन के कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते ।

अध्याय १०

दिल्ली सल्तनत का काल

[११६४ ई० से १५२६ ई० तक]

बारहवीं शती का अंत होते-होते मुसलमानों का शासन उत्तर भारत के एक बड़े भाग पर स्थापित हो गया। शिहाबुद्दीन के मरने के बाद दिल्ली का राज्य कुतुबुद्दीन नामक दास को प्राप्त हुआ। इस वंश के सभी शासक तुर्क थे। अल्तमश तथा बलबन इस वंश में प्रसिद्ध शासक हुए। इनके शासन-काल में दिल्ली सल्तनत का विस्तार बढ़ा।

मंगोलों के आक्रमण—तेरहवीं शती में मंगोलों ने कई बार भारत पर हमले किये, जिससे उत्तर-पश्चिम भारत का वातावरण बहुत समय तक अशान्त बना रहा। मंगोलों में चंगेजखाँ सबसे अधिक शक्तिशाली हुआ। तेरहवीं शती के प्रारंभ में उसने मध्य एशिया से लेकर भूमध्य सागर तक के सभी तुर्क राज्यों को समाप्त कर दिया। अफगानिस्तान की विजय के बाद उसने भारत पर भी आक्रमण किया। १२२७ ई० में चंगेज की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने भी मंगोल साम्राज्य को बहुत बढ़ाया। धीरे-धीरे इस साम्राज्य का विस्तार प्रशांत महासागर से लेकर बाल्टिक सागर तक हो गया! मंगोलों के इस विश्व-साम्राज्य का इतिहास में बड़ा महत्त्व है। बौद्ध धर्म का एशिया में जो व्यापक प्रसार हुआ उसमें मंगोल-शासन का उल्लेखनीय योग रहा। अनेक बौद्ध ग्रन्थों का मंगोल भाषा में अनुवाद कराया गया तथा भारतीय लिपि, साहित्य और कला का एशिया के अन्य देशों में प्रचार हुआ।

दिल्ली के अन्य राजवंश—गुलामवंश (१२०६-१२९० ई०) के बाद खिलजी (१२९०-१३२० ई०), तुग़लक (१३२०-१४१३ ई०), सय्यद (१४१४-१४५१ ई०) तथा लोदीवंश (१४५१-१५२६ ई०) ने उत्तर भारत पर क्रमशः राज्य किया। इन सब वंशों के राज्यकाल में मथुरा प्रदेश दिल्ली सल्तनत के ही अंतर्गत रहा। खिलजी वंश के प्रसिद्ध शासक अलाउद्दीन (१२९६-१३१६ ई०) ने दक्षिण भारत के भी जीतने की चेष्टा की। यद्यपि वह इसमें पूर्णतया सफल न हो सका तो भी उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत का दक्षिण में काफी विस्तार हुआ और धीरे-धीरे कई मुसलमान रियासतें दक्षिण भारत में स्थापित हो गईं।

अलाउद्दीन— अलाउद्दीन खिलजी के समय का एक फारसी लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है[1]। यह लेख दो पंक्तियों में है, जिनका प्रारम्भिक अंश टूट गया है। लेख में सुल्तान अलाउद्दीन शाह का नाम तथा उसकी उपाधि 'सिकन्दरे थानी' दी हुई है। दूसरी पंक्ति में गुजरात के प्रशासक उलगखां तथा उसके द्वारा बनवाई हुई मस्जिद का जिक्र है। यह उलगखाँ अलाउद्दीन का भाई था, जिसे उसने ६९७ हिजरी (१२९७-९८) में गुजरात की विजय करने के लिए भेजा था। इसी उलगखाँ ने मथुरा में असिकुण्डा घाट के पास स्थित किसी प्राचीन हिंदू मंदिर के स्थान पर मस्जिद बनवाई। यह मस्जिद कुछ समय बाद शायद यमुना की बाढ़ के कारण नष्ट हो गई। कालांतर में प्राचीन मस्जिद के पास एक दूसरी मस्जिद बनाई गई।

अलाउद्दीन ने गुजरात के अलावा राजस्थान तथा महाराष्ट्र के भी एक भाग को जीता और इसके बाद उसके सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर चढ़ाइयाँ कीं। अलाउद्दीन कठोर शासक था। उसके समय दोआब के हिंदू लोग बहुत दबाये गये। तुर्क सरदारों की उच्छृङ्खलता को भी उसने बहुत-कुछ समाप्त कर दिया। बाजार पर कड़ा नियंत्रण किया गया और वस्तुओं के भाव नियत किये गये।

अलाउद्दीन के बाद मथुरा की दशा— अलाउद्दीन के बाद बहुत समय तक मथुरा प्रदेश का कोई प्रामाणिक हाल उपलब्ध नहीं होता। दिल्ली सुलतानों में से अनेक की कोपदृष्टि मथुरा पर रही। यहाँ के बड़े मंदिर धराशायी किये गये तथा पवित्र स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया। मथुरा और वृन्दावन को 'बुत-परस्तों का अड्डा' माना जाता था और इन स्थानों को प्रायः घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। विवेच्य-काल में मथुरा नगर से ६ मील दूर महावन को राजनैतिक केन्द्र बनाया गया। यहीं पर दिल्ली के शासक की ओर से नियुक्त फौजदार रहता था। मथुरा प्रदेश में धीरे-धीरे अन्य अनेक फौजी पड़ाव बने, जिनमें फरह, बाद, छाता, सराय आजमपुर तथा शेरगढ़ उल्लेखनीय हैं।

मुहम्मद तुगलक (१३२५-५१ ई०)—तुगलक वंश में मुहम्मद बड़ा जिद्दी और कठोर शासक हुआ। उसके समय में जमीन का लगान बहुत बढ़ा दिया गया। उसे अदा न कर सकने वाले हिंदू किसानों पर अत्याचार हुए।

---

१. एपीग्राफिया इंडो-मुसलेमिका, १९३७-३८, पृ० ५९-६१ में प्रकाशित।

बुलन्दशहर, मथुरा, कनौज, डलमऊ आदि इलाकों के किसानों को बहुत सताया गया और उनके खेतों को उजाड़ दिया गया। कुछ समय बाद माल-गुजारी वसूल करने का काम जालिम फौजदारों को सौंप दिया गया। १३३६ ई० में दिल्ली, मथुरा तथा उसके आस-पास भयंकर अकाल पड़ा। लगभग अगले सात वर्षों तक दुर्भिक्ष की स्थिति बनी रही और कितने ही लोग मर गये। किसानों के एक बड़े भाग ने जुल्मों से तङ्ग आकर खेती करना छोड़ दिया। डाकुओं की संख्या बढ़ने लगी, जिसके कारण शांतिप्रिय जनता को बड़े कष्ट हुए। इस सबका मुख्य कारण मुहम्मद तुगलक की क्रूरता तथा उसकी अदूरदर्शिता थी। दिल्ली सल्तनत को इसके शासन-काल में गहरा धक्का पहुँचा और विभिन्न प्रान्त स्वतन्त्र होने की बाट जोहने लगे।

फीरोज तुगलक (१३५१-८८ ई०)—मुहम्मद के बाद उसके चचेरे भाई फीरोज ने सतलज तथा यमुना नदी से कई नहरें निकलवाईं और सैकड़ों बगीचे लगवाये। इसने हिंदुओं को मुसलमान बनाने के सभी प्रयत्न किये, जिससे धार्मिक असंतोष की भावना बढ़ी। धर्मांध मुल्लों का शासन में बड़ा हाथ हो गया। उसके समय में मथुरा प्रदेश की काफी बर्बादी हुई होगी। पुरी के मंदिर से वह जगन्नाथ की प्रसिद्ध प्रतिमा भी उठा ले गया।

तैमूर का आक्रमण (१३९८ ई०)—फीरोज के उत्तराधिकारी अशक्त और निकम्मे शासक हुए। १३९८ ई० में तैमूर नामक तुर्क का प्रबल आक्रमण भारत पर हुआ। जहाँ-जहाँ उसकी फौज गई वहाँ लूट-मार और आग लगाने की ही घटनाएं हुईं। दिल्ली और मेरठ को उजाड़ने के बाद वह हरद्वार की ओर निकल गया। इस भयंकर हमले से दिल्ली सल्तनत की जड़ें हिल गईं। जिस मुस्लिम साम्राज्य का निर्माण पिछली दो शताब्दियों में हुआ था वह अब छिन्न-भिन्न हो गया और विभिन्न प्रांतों में कई स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

लोदी वंश—१४५१ ई० में बहलोल लोदी नामक एक पठान ने दिल्ली को जीत कर वहाँ पठान वंश की नींव डाली। इसके पहले जौनपुर के शर्की शासकों ने मुंगेर से लेकर कनौज तक के प्रदेश पर अपना अधिकार कर रखा था। बहलोल ने हुसेनशाह शर्की को परास्त कर उससे कनौज और अवध का सारा इलाका छीन लिया और जौनपुर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कुछ समय बाद बिहार का भाग भी पठानों के कब्जे में आ गया।

सिकंदर लोदी (१४८८-१५१७ ई०)—पठान वंश में सिकन्दर लोदी शक्तिशाली शासक हुआ । इसके समय में दिल्ली सल्तनत का विस्तार बढ़ा । मध्यभारत और राजस्थान के कई इलाकों को उसने जीता । आगरे में वह अक्सर रहा करता था और यहाँ अपने मंत्रियों की सलाह से राज्य-विस्तार की योजनाएं बनाया करता था ।

जुलाई ५, १५०५ ई० के दिन आगरा में भयंकर भूचाल आया,जिससे बड़ी-बड़ी इमारतें धराशायी हो गईं । फरिश्ता लिखता है कि इतना बड़ा भूचाल भारत में न पहले आया और न इसके बाद कभी आया। हजारों प्राणी इमारतों के नीचे दब कर मर गये ।[2] इसी वर्ष सिकन्दर आगरे से ग्वालियर की ओर बढ़ा । धौलपुर के आगे उसने हिंदू राजाओं के राज्यों में लूट-मार कराई । इधर ही उसकी मुठभेड़ें बनजारों से भी हुईं ।[3]

१५१७ ई० में सिकन्दर आगरा में ठहरा हुआ था। यहाँ वह ग्वालियर-विजय की तैयारी कर रहा था । परंतु उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका और इसी वर्ष के अंत में उसकी मृत्यु हो गई (१४ दिसंबर, १५१७ ई०) ।

सिकन्दर के शासन-काल में दैनिक उपयोग की वस्तुएं सस्ती थीं । खेती के अलावा देश के कई भागों में विभिन्न उद्योग-धन्धे जारी थे । आगरा नगर व्यवसाय तथा व्यापार का अच्छा केन्द्र हो चला था । यहाँ सफेद सूती और रेशमी कपड़े तैयार होते थे । फीते, सोने-चाँदी का जरी का काम एवं सादे और रंगीन शीशे का काम भी यहाँ होता था । शासकों तथा अमीर लोगों के यहाँ इन वस्तुओं की बड़ी माँग थी । सोलहवीं शती में व्यावसायिक केन्द्र के रूप में आगरा नगर की बड़ी उन्नति हुई ।

सिकंदर की धार्मिक कट्टरता—सिकन्दर लोदी की धार्मिक कट्टरता के कारण मथुरा की बड़ी बर्बादी हुई । 'तारीखे दाऊदी' के लेखक अब्दुल्ला के विवरण से पता चलता है कि सिकन्दर के समय में मथुरा के

---

२. ब्रिग्स—हिस्ट्री आफ दि राइज् आफ दि मोहैमडन पावर इन इंडिया, जिल्द १, पृ० ५७६।

३. ये बनजारे मथुरा से लेकर ग्वालियर तक घूमा करते थे और अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुओं का व्यापार करते थे। इस कालमें आगरा इनका प्रमुख केंद्र था, जहाँ से सामान लेकर ये उसे दूसरे स्थानों में पहुंचाते थे ।

मंदिर पूरी तरह नष्ट कर दिये गये। एक भी धार्मिक स्थान अछूता नहीं छोड़ा गया। बड़े मंदिरों के स्थान पर सरायें बना दी गईं। मंदिरों की मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी गईं, ताकि वे उन्हें मांस तोलने के लिए बाँटों के काम में लावें। सिकन्दर ने यह आज्ञा दे दी कि मथुरा का कोई भी हिंदू अपने सिर के बाल और दाढ़ी नहीं मुड़वा सकता और न कोई धार्मिक कार्य कर सकता है। यदि कोई हिंदू लुक-छिप कर अपने बाल बनवाने की चेष्टा भी करता तो उसे नाई न मिल सकता था। मथुरा में यमुना के मुख्य घाटों के ठीक ऊपर सिकन्दर ने मस्जिदों और दूकानों का निर्माण करा दिया। यमुना में स्नान करने तथा धार्मिक कृत्य करने की भी उसने मनाही कर दी।[४]

सिकन्दर को अपनी वृद्धावस्था में हिंदू धर्म से बड़ी चिढ़ हो गई थी। यद्यपि उसकी माँ हिंदू सुनारिन थी, तो भी सिकन्दर मुल्लाओं के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण कट्टर मुसलमान बन गया था और हिंदुओं को सब प्रकार से नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगा था। उसके समय में कुछ हिंदुओं ने फारसी का अध्ययन आरम्भ कर दिया।[५]

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर राजा विजयपालदेव के द्वारा जिस विशाल मंदिर का निर्माण किया गया था वह भी सिकन्दर की धर्मान्धता का शिकार हुआ। 'श्री चैतन्य चरितामृत' तथा गौड़ीय संप्रदाय के कुछ अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि १५१५ ई० के लगभग चैतन्य महाप्रभु मथुरा आये और उन्होंने जन्मस्थान पर जाकर केशवदेव के दर्शन किये। इससे अनुमान होता है कि उस समय मंदिर तथा उसमें केशव की प्रतिमा विराजमान थी। संभवतः इसके बाद ही सिकन्दर ने इस मंदिर को नष्ट किया।

इब्राहीम लोदी (१५१८-१५२६ ई०)—सिकन्दर का उत्तराधिकारी इब्राहीम हुआ। यह बड़ा क्रूर और अभिमानी था। सरदारों से बिगाड़ होने के कारण पठान राज्य का ह्रास हो चला और सर्वत्र भारी असंतोष फैला। पंजाब के हाकिम दौलतखाँ लोदी तथा अनेक अन्य सरदारों ने विद्रोह किया और तैमूर के वंशज बाबर को, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में अपनी शक्ति का प्रसार कर रहा था, दिल्ली राज्य पर आक्रमण के लिए आमंत्रित किया।

---

४. ब्रिग्स—वही, पृ० ५८६।
५. वही, पृ० ५८७।

१५२६ ई० में पानीपत के युद्ध में इब्राहीम की हार हुई और भारत पर मुगल शासन की स्थापना हो गई।

मुस्लिम शासन-काल में हिंदू समाज

दिल्ली के तुर्क तथा पठान शासकों के राज्यकाल में राजसत्ता के लिए बराबर संघर्ष जारी रहे और प्रायः सर्वत्र राजनैतिक अशांति बनी रही। हिंदू समाज की तत्कालीन दशा ठीक न थी। अधिकांश हिंदू शासकों में दूरदर्शिता एवं राजनैतिक चेतना का अभाव था, जिसके फलस्वरूप सामाजिक संगठन दृढ़ न हो सका। अंधविश्वास, संकीर्ण मनोवृत्ति एवं पारस्परिक ईर्ष्या बढ़ रही थी, जिससे समाज विशृङ्खलित हो रहा था। सामाजिक बंधन धीरे-धीरे कड़े होते जा रहे थे। वाह्य आडंबर, कर्मकांड और जड़-पूजा की ओर लोगों का ध्यान अधिक था। ऐसी परिस्थिति में मुस्लिम शासकों की धार्मिक कट्टरता का और भी बुरा प्रभाव पड़ा। विवेच्य काल में मुहम्मद और फीरोज तुगलक, सिकन्दर तथा इब्राहीम लोदी आदि ऐसे अनेक शासक हुए, जिनकी क्रूरता और धर्मांधता ने हिंदुओं के धार्मिक विचारों तथा उनके सामाजिक जीवन को बलात् बदलना चाहा। इसके फलस्वरूप संघर्ष और क्षोभ की भावना का जन्म हुआ।

मुस्लिम कट्टरता के बावजूद इस काल में हिंदू समाज ने अपने को जीवित रखा। विवेच्य काल में कुछ ऐसे संत हुए जिन्होंने हिंदू जाति में नई शक्ति का संचार किया। रामानंद, कबीर, नानक, चैतन्य, मीराबाई, वल्लभाचार्य तथा अन्य कितनी ही विभूतियों ने शुद्ध भाव और भक्ति का प्रशस्त मार्ग जनता के सामने रखा। वैष्णव धर्म की जो कल्याणी धाराएँ इन महानुभावों द्वारा प्रवाहित की गईं उन्होंने इस देश को सरस भक्ति से आप्लावित कर दिया। इन महात्माओं ने लोकहित के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की उसने भारतीय जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। केवल हिंदू जनता पर ही [illegible] स्लम शासकों पर भी इन महात्माओं का प्रभाव पड़ा, जिसके अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं।

ब्रज भूमि का योग— मथुरा के इतिहास में ई० सोलहवीं शती का समय बड़ा महत्वपूर्ण काल हुआ। इस शती के प्रारंभ से ही यहाँ एक नई धार्मिक लहर उठी। भारत के प्रायः सभी भागों से संत-महात्माओं का आगमन मथुरा-वृंदावन में होने लगा। चैतन्य और उनके शिष्य रूप-सनातन आदि

तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं अष्टछाप के प्रसिद्ध संत कवियों ने इस काल में मथुरा और उसके आस-पास के धार्मिक स्थानों का महत्व बहुत बढ़ाया। इन तथा अन्य भक्त महात्माओं के कारण मथुरा प्रदेश में कृष्ण-भक्ति का नया उन्मेष हुआ। इस मधुर भक्ति को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए यहाँ की शौरसेनी अपभ्रंश से उस सरस भाषा का जन्म हुआ जो 'ब्रज-भाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नामकरण वन-उपवन वाले इस सुन्दर ब्रज प्रदेश का ही अन्वर्थक था। संभवतः विवेच्य काल के अंत में मथुरा प्रदेश का 'ब्रज' नाम रूढ़ हो गया और ब्रजभाषा के प्रसार के साथ-साथ प्रदेश या जनपद का विस्तार भी बढ़ता गया। ई० सोलहवीं शती में ही ब्रज की बड़ी यात्रा (वन-यात्रा) का भी प्रारंभ किया गया। इस यात्रा की लंबाई प्राचीन पौराणिक वर्णनों के आधार पर चौरासी कोस मानी गई। इसमें वे सभी मुख्य स्थल आ गये जिनका श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ संबंध माना जाता था।

ब्रज के संत-महात्माओं ने मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन, गोकुल आदि को अपना केन्द्र बनाया, जहाँ धर्म, दर्शन, काव्य और संगीत का विकास बहुत समय तक होता रहा। इन्हीं लोगों की लगन का फल था कि हिंदू जनता का नैराश्यमय जीवन आशा-संवलित कल्याणकारी दिशा की ओर प्रवृत्त हुआ। वाह्य साधनों और आडंबरों की जगह चित्त की शुद्धि और हरि-भक्ति ने ग्रहण की तथा उदार वैष्णव धर्म की बहुमुखी उन्नति हुई। आपसी भेद-भाव को मिटा कर एकता बढ़ाने एवं भारतीय धर्म को व्यापकता प्रदान करने का श्लाघनीय प्रयत्न इन भक्त महात्माओं ने किया। इसके लिए वे भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

तत्कालीन साहित्य में मथुरा का वर्णन—इस काल के मुसलमान लेखकों ने मथुरा का वर्णन कम किया है। इस नगर को 'बुतपरस्ती का काबा' माना जाता था। कई शासकों के द्वारा अपने फौजदारों को आदेश भेजे गये कि वे बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) को समाप्त करने के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करें। मथुरा के आस-पास जब शाही फौज का पड़ाव पड़ता तो मथुरा की हिंदू जनता भयग्रस्त रहती थी। अधिकांश मुसलमान लेखकों ने जहाँ कहीं मथुरा का उल्लेख किया है उन्होंने इस नगर के प्रति प्रायः उपेक्षा और घृणा का ही भाव प्रकट किया है।

परंतु अन्य लेखकों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। विवेच्य काल में अनेक विद्वान् तथा संत-महात्मा मथुरा आये। इस काल में लिखे गये कई

जैन ग्रंथों में मथुरा-वृंदावन का वर्णन मिलता है । श्री राजशेखर सूरि कृत प्रबंधकोश (रचनाकाल सं० १४०५ = १३४८ ई०) में कृष्ण की जन्मस्थली मथुरा तथा वृंदावन का उल्लेख हुआ है ।[६]

विविधितीर्थकल्प नामक एक दूसरे जैन ग्रंथ में, जिसकी रचना सं० १३८९ (१३३२ ई०) में हुई, मथुरा की गणना तीर्थों में की गई है । इस ग्रंथ में कई जैन तीर्थंकरों का मथुरा के साथ संबंध कथित है ।[७] इस पुस्तक के 'मथुरापुरी-कल्प' में मथुरा नगरी का तथा यहाँ पर निर्मित जैन स्तूपों तथा विहारों का विस्तार से वर्णन मिलता है ।[८]

---

६. "अपरा पूर्वमथुरा यद्गोष्ठे कृष्णः समुत्पन्नः । यत्र वृन्दावनादीनि वनानि ।"—प्रबंधकोश (सातवाहन प्रबंध), पृ० ७२ ।

वृन्दावन का महत्व चैतन्य और उनके शिष्यों के यहाँ आने के बहुत पहले प्रसिद्ध हो चुका था । सम्भवतः इस नाम की बस्ती भी मध्यकाल में विद्यमान थी, जिसके उल्लेख यदकदा तत्कालीन साहित्य में मिल जाते हैं । उदाहरणार्थ काश्मीरी पंडित बिल्हण का वर्णन देखिए—

"दोलालोलद्घनजघनया राधया यत्र भग्नाः
कृष्णक्रीडाङ्गणविटपिनो नाधुनाप्युच्छ्वसन्ति ।
जल्पक्रीडामथितमथुरासूरिचक्रेण केचित्
तस्मिन्वृन्दावनपरिसरे वासरा येन नीताः ॥"

(बिल्हणकृत विक्रमाङ्कदेवचरित, १८, ८७)

(अर्थात् 'जिस वृन्दावन में चंचल और घन जघन वाली राधा के झूला झूलने के कारण कृष्ण के विहारकुंज के वृक्ष टूट कर गिर पड़े हैं, जहाँ मथुरा नगरी के अनेक विद्वानों को मैं (बिल्हण) ने शास्त्रार्थ में परास्त किया, वहीं वृन्दावन की भूमि में कई दिन तक मैंने निवास किया ।")

७. विविधि तीर्थकल्प (सिंघी जैन ग्रंथमाला, सं० १९९१), पृ० ८५, ८६ ।

८. वही, पृ० १७–२० ।

अध्याय ११

मुगलकालीन ब्रज प्रदेश

[१५२६ ई० से १७१८ ई० तक]

★

उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना

(१५२६-१५४० ई०)

पानीपत के पहले युद्ध में बाबर की विजय हुई (अप्रैल २१, १५२६ ई०)। दिल्ली का सुलतान इब्राहीम लोदी खेत रहा। ग्वालियर का राजा विक्रमाजीत भी इब्राहीम लोदी की ओर से लड़ता हुआ इसी युद्ध में मारा गया। बाबर ने अपने बड़े लड़के हुमायूँ को आगरा पर अधिकार करने के लिए उसी दिन ससैन्य रवाना किया। बाबर स्वयं मई ४ को आगरा पहुँचा, और छह दिन बाद आगरा मुगलों के अधिकार में आ गया। किन्तु ब्रज प्रदेश के अन्य भागों में अब भी अफगान सरदारों का ही आधिपत्य था; मेवात, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर, रापरी और इटावा में वे स्वाधीन शासक बन बैठे। हिंदू जनता ने भी इन अफगान शासकों का ही साथ दिया। किंतु जब लोगों को निश्चित रूप से यह ज्ञात हुआ कि महमूद गजनवी या तैमूर की तरह बाबर वापस न लौटेगा बल्कि वह भारत में ही रह कर यहाँ एक नये साम्राज्य की स्थापना करेगा, तब धीरे-धीरे अफगान अमीरों और हिंदू जनता की उसके प्रति भावना बदलने लगी। कुछ अफगान अमीरों ने बाबर की अधीनता भी स्वीकार कर ली। बाकी रहे प्रदेश और किलों को जीतने के लिए सेनाएँ भेजी गईं। रापरी, बयाना, धौलपुर और ग्वालियर के किले क्रमशः बाबर के अधिकार में आये। गंगा-यमुना के दोआब में भी बाबर की सेनाएँ जौनपुर और कालपी तक जा पहुँची थीं। इस प्रकार सन् १५२६ ई० के अंत तक मेवात के अतिरिक्त प्रायः सारे ब्रज प्रदेश पर बाबर का आधिपत्य स्थापित हो गया।

सन् १५२७ ई० के प्रारम्भ में मेवाड़ का राणा सांगा सारे राजस्थान के राजाओं की सम्मिलित सेना को लेकर बाबर के विरुद्ध बढ़ा। मेवात का अफगान शासक हसनखाँ भी उसके साथ जा मिला। इधर कोइल (अलीगढ़)

और रापरी में अफगानों ने पुनः सिर उठाया तथा वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया। परन्तु कन्हावा के युद्ध में राणा सांगा की पूर्ण पराजय हुई एवं हसनखाँ मेवाती युद्ध में काम आया (मार्च १६, १५२७ ई०)। अब बाबर ने मेवात को भी पूरी तरह जीत लिया। कोइल और रापरी के विद्रोहों को दबा दिया गया तथा इटावा के शहर ने भी बाबर की अधीनता मान ली। इस प्रकार ब्रज प्रदेश पर मुगलों का आधिपत्य हो जाने पर सन् १५४० ई० तक वह उन्हीं के अधिकार में रहा। मुगल-शासन के इन प्रारम्भिक वर्षों में प्रायः आगरा में ही उनकी राजधानी रही।

हुमायूँ—सन् १५३० ई० में बाबर की मृत्यु होने पर उसका बड़ा लड़का हुमायूँ गद्दी पर बैठा। हुमायूँ के शासन के पहले दस वर्ष अपने विरोधियों का ससैन्य सामना करने में ही बीते, जिससे उसे राज्य के शासन-प्रबन्ध की ओर ध्यान देने का कोई अवसर ही नहीं मिला। सन् १५३४ ई० में जब हुमायूँ पूर्व की ओर जा रहा था तब गुजरात और मालवा के सुलतान बहादुरशाह की सहायता पाकर तातरखाँ लोदी ने एक बड़ी सेना के साथ मुगल राज्य पर चढ़ाई की और राह में पड़ने वाले बयाना के किले को हस्तगत कर वह आगरा की ओर बढ़ा। हुमायूँ ने अपने छोटे भाई हन्दाल तथा अन्य सेनानायकों को उसका सामना करने के लिए भेजा। मुगल-सेना को यों अपनी ओर बढ़ते देखकर तातरखाँ पीछे हटने लगा। मुगलों ने बयाना पर पुनः अधिकार कर लिया। अंत में मण्डलैर में मुगल सेना के साथ उसकी मुठभेड़ हुई और उस युद्ध में तातरखाँ मारा गया।

शेरखाँ सूर—शेरखाँ सूर के नेतृत्व में अफगानों का विद्रोह बिहार और बंगाल में बढ़ रहा था, एवं सन् १५३७ ई० में हुमायूँ को पूर्व की ओर जाना पड़ा। हुमायूँ का छोटा भाई हन्दाल भी इस समय उसके साथ था। परंतु अगले वर्ष हुमायूँ से आज्ञा प्राप्त किए बिना ही हंदाल आगरा लौट आया और वहाँ उसने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। स्वयं को मुगल-सम्राट् घोषित कर उसने दिल्ली पर भी बलपूर्वक अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया, किंतु उसी समय उसका दूसरा बड़ा भाई कामराँ ससैन्य पंजाब से दिल्ली होता हुआ आगरा आया, जिससे हंदाल का यह विद्रोह दब गया (१५३६ ई०)। परंतु अब ये दोनों भाई मिलकर हुमायूँ के विरुद्ध षडयंत्र करने लगे, जिससे सारे ब्रज प्रदेश में सर्वत्र अराजकता फैल गई और शासन का संगठन पूर्णतया अव्यवस्थित हो गया।

शेरखाँ का बल निरंतर बढ़ता ही जा रहा था। हुमायूँ को कोई सफलता नहीं मिल रही थी, हंदाल के विद्रोह के समाचार से भी वह चिंतित हो उठा था। अतएव वह आगरा की ओर लौट पड़ा। राह में चौसा के युद्ध में शेरखाँ ने हुमायूँ को बुरी तरह हराया (१५३६ ई०)। अब शेरखाँ शेरशाह के नाम से गौड़ की गद्दी पर बैठा। सन् १५४० ई० में हुमायूँ ने पुनः शेरशाह के विरुद्ध चढ़ाई की, किंतु इस बार भी बिलग्राम के युद्ध में शेरशाह की विजय हुई (मई १७, १५४० ई०)। युद्ध-क्षेत्र से किसी तरह बच कर वह आगरा पहुँचा, परंतु वहाँ की परिस्थिति भी बहुत ही बिगड़ चुकी थी। अराजकता के साथ ही साथ वहाँ मुगलों की सैनिक सत्ता भी नगण्य हो गई थी। ऐसी हालत में हुमायूँ के लिए यह संभव नहीं था कि वह आगरा में ठहर कर शेरशाह की बढ़ती हुई सेना का सफलतापूर्वक सामना कर सके। अतः विवश होकर उसे आगरा भी छोड़ने का निश्चय करना पड़ा। अपने कुटुम्बियों को उसने साथ ले लिया तथा जो कुछ भी द्रव्य और बहुमूल्य रत्न वह समेट सका, उन्हें लेकर हुमायूँ गेवात में होता हुआ दिल्ली की राह पंजाब के लिए चल पड़ा। इस भाँति ब्रज प्रदेश पर मुगलों के प्रारंभिक चौदह-वर्षीय आधिपत्य का मई, १५४० ई० के पिछले दिनों में अंत हुआ।

सूर-सुलतानों का आधिपत्य
(१५४०-१५५६ ई०)

बिलग्राम के युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त कर शेरशाह मुगल राज्य के प्रधान केन्द्र, आगरा और दिल्ली, पर अधिकार करने तथा मुगलों को खदेड़ कर भारत से निकाल बाहर करने के लिए पश्चिम की ओर आगे बढ़ा। कन्नौज पहुँच कर उसने अपने विश्वस्त सेनानायक बरमाजिद गौर को एक बड़ी सेना लेकर आगरा की ओर भेजा। बरमाजिद जब तक आगरा पहुँचा तब तक हुमायूँ वहाँ से रवाना हो चुका था। कुछ मुगल अवश्य आगरा में ही रह गये थे। आगरा पर अधिकार करते ही बरमाजिद ने उन मुगलों का संहार किया। कुछ दिनों बाद जब शेरशाह स्वयं आगरा पहुँचा तब उसने इस अनावश्यक हत्याकांड के लिए बरमाजिद को बहुत फटकारा।

बिलग्राम के युद्ध-क्षेत्र से ही शेरशाह ने ग्वालियर के किले पर चढ़ाई करने के लिए शुजाअत खाँ को कहला भेजा था। बिहार से आकर शुजाअत खाँ ने ग्वालियर के किले का घेरा डाला, जो इतिहासकार अब्बास के कथनानुसार

लगभग दो वर्ष (जुलाई, १५४० से अप्रैल, १५४२ ई०) तक चलता रहा। अन्त में जब ग्वालियर के मुगल किलेदार अबुलकासिम बेग को हुमायूँ के जल्द ही लौटने की कोई आशा ही न रही तब उसने आत्म-समर्पण कर दिया। यों सन् १५४२ ई० तक सारा ब्रज प्रदेश शेरशाह के अधिकार में आ गया।

शेरशाह ने केवल पाँच वर्ष ही राज्य किया, परंतु इतने थोड़े समय में भी उसने ब्रज प्रदेश में पूर्ण शांति स्थापित कर दी तथा उसकी समृद्धि के लिए अनेकों प्रयत्न किए। यमुना और चम्बल नदियों के बीच के प्रदेश के जमीदार बहुत ही उद्दण्ड थे, अतः उन्हें दबाने के लिए हटकांट तथा आगरा सरकार के दक्षिण-पूर्वी हिस्से में बारह हजार सवार नियुक्त किये। ग्वालियर और बयाना के किलों में भी विशेष सेना रखी तथा उनके साथ सैकड़ों बंदूकची भी नियुक्त किये। राह में पड़ने वाले जङ्गलों को काट कर आगरा से दिल्ली तक सड़क बनवाई। यात्रियों की सुविधा के लिए स्थान-स्थान पर सरायें बनवाईं, सड़क के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाए और राहगीरों की सुरक्षा का भी पूरा प्रबंध किया गया। आगरा से लेकर माण्डू या बुरहानपुर, जोधपुर और चित्तौड़ तथा बंगाल जाने वाली सड़कें भी बनवाई गईं। लगान की वसूली आदि के लिए सारे प्रदेश की धरती नपवाई गई और उसकी माल-गुजारी निश्चित की गई।

शेरशाह के उत्तराधिकारी—किंतु यह शांति तथा समृद्धि अधिक दिन तक स्थायी न रह सकी। कालिंजर के किले का घेरा लगाते हुए शेरशाह की मृत्यु हुई (मई २२, १५४५ ई०)। तब उसका दूसरा लड़का जलाल इस्लामशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। प्रारम्भ में तो शेरशाह का बड़ा लड़का अदिलखाँ बयाना की अपनी जागीर को लौट गया, परन्तु कुछ समय के बाद जब इस्लामशाह ने उसे कैद करना चाहा तब तो अनेक अफगान सरदार इस्लामखाँ के विरुद्ध उठ खड़े हुए और यों दोनों भाइयों में कशमकश शुरू हुई, जिससे सारे ब्रज प्रदेश में अशांति उत्पन्न हो गई। अन्त में आगरा के पास एक युद्ध हुआ, जिसमें अदिलखाँ और उसके साथियों की हार हुई। इसके बाद अदिल खाँ पूर्व की ओर भाग गया (१५४६ ई०)। किंतु सर-दारों के विरोध का यों अन्त नहीं हुआ और इस्लामशाह को अनेकानेक युद्ध लड़ने पड़े। सन् १५४७ ई० के बाद इस्लामशाह ने आगरा से बदल कर ग्वालियर को अपनी राजधानी बनाया और यहीं सन् १५५३ ई० में उसकी

मृत्यु हुई। इस्लामशाह ने शेरशाह की नीति को ही जारी रखा, परंतु निरंतर होने वाले इन आन्तरिक झगड़ों के कारण ब्रज प्रदेश में पहले की-सी शांति नहीं रही। पुनः इन्हीं दिनों बयाना के आस-पास एक के बाद दूसरे व्यक्ति ने स्वयं को मेहदी घोषित किया, जिससे उनके अनुयायी तथा इस्लामशाह के अधिकारियों में निरंतर खिंचाव बना ही रहा।

इस्लामशाह की मृत्यु के बाद उसका चचेरा भाई मुहम्मद अदिलशाह गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य-अशक्त शासक था, जिससे शीघ्र ही सारा राज्य अनेक टुकड़ों में बँट गया और अंत में अदिलशाह को बिहार भागना पड़ा (१५५४ ई०)। ब्रज प्रदेश पर पहले इब्राहीमशाह का अधिकार हुआ, किंतु फरह के युद्ध में उसे हरा कर सिकन्दरशाह ने ब्रज पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (१५५५ ई०)। इस समय इस प्रदेश में घोर अराजकता फैली हुई थी। आपसी युद्ध के कारण सेनाएँ निरन्तर घूमती रहती थीं,जिससे खेती-बारी नष्ट हो जाती थी और प्रजा को अनगिनित कष्ट उठाने पड़ते थे । इस अराजकता से लाभ उठा कर अनेकों साहसी सैनिक दल संगठित होकर यत्र-तत्र लूट-मार भी करने लगे। ऐसी हालत में खेती करना संभव नहीं रहा। इस वर्ष बरसात भी बहुत कम हुई और ब्रज में भयंकर अकाल पड़ा, जो दो वर्ष तक लगातार बना रहा। जुवार रुपये सेर बिकती थी, फिर भी उसका मिलना कठिन था। भुखमरी के साथ बीमारियाँ भी फैल गईं, जिनसे हजारों नर-नारी मर गये। गाँव के गाँव उजड़ गये। देहातों में लूट-मार बढ़ गई और गरीब हिंदुओं के दल के दल मुसलमान बस्ती वाले शहरों पर आक्रमण करने लगे। इसी समय मुगल-अफगान कशमकश भी चल रही थी, जिससे ब्रज प्रदेश की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही बिगड़ गई।

मुग़लों का पुनः अधिकार—अफगान सरदारों के इन आपसी झगड़ों से लाभ उठाकर हुमायूँ ने इसी वर्ष पुनः पंजाब पर चढ़ाई की। जून माह में सरहिंद के युद्ध में उसने सिकन्दर को पराजित किया। इधर सिकन्दर के पंजाब की ओर जाते ही ब्रज प्रदेश के लिए इब्राहीम और अदिलशाह के हिंदू सेनापति हेमू में लड़ाई प्रारम्भ हुई। हेमू ने दो बार इब्राहीम को हराया और तीन माह तक उसे बयाना के किले में घेरे रहा, परंतु उसी समय हेमू को बङ्गाल लौटना पड़ा। इब्राहीम को कहीं से सहायता नहीं मिल रही थी; वह निराश होकर ब्रज प्रदेश से चल दिया। अब इधर कोई शक्तिशाली शासक नहीं रह गया था। उधर जुलाई, १५५५ ई० में हुमायूँ ने दिल्ली पर अधि-

कार किया तथा ब्रज प्रदेश की इस परिस्थिति से लाभ उठा कर आगरा और बयाना पर भी बिना किसी कठिनाई के उसने अपना आधिपत्य पुनः स्थापित कर लिया। इसके कुछ ही माह बाद दिल्ली में हुमायूँ की मृत्यु हो गई (जनवरी २४, १५५६ ई०)।

हुमायूँ का उत्तराधिकारी, तेरह वर्षीय अकबर, तब बैराम खाँ की संरक्षता में पंजाब का हाकिम था। हुमायूँ की मृत्यु से लाभ उठा कर अफगानों ने ब्रज प्रदेश में फिर से सिर उठाया। इस समय हेमू बङ्गाल में उलझा हुआ था। सन् १५५६ ई० की बरसात समाप्त होते-होते वह एक बड़ी सेना के साथ ग्वालियर और आगरा होता हुआ दिल्ली की ओर बढ़ा। आगरा का मुगल सूबेदार सिकन्दर उजबेग आगरा छोड़ कर दिल्ली चला गया (सितम्बर १५५६ ई०), और कुछ माह के लिए ब्रज प्रदेश पुनः मुगलों के अधिकार से निकल गया। परन्तु नवंबर ५, १५५६ई० को पानीपत के दूसरे युद्ध में मुगल-सेना ने हेमू को हरा कर उसे कैद कर लिया। मुगल सेना के साथ अकबर दूसरे दिन दिल्ली पहुँचा और वहाँ से कियाखाँ को आगरा का सूबेदार बना कर भेजा। आगरा पर अधिकार करने में कियाखाँ को कोई कठिनाई नहीं हुई। उधर मेवात भेजे जाने पर नासिर-उल-मुल्क ने हाजीखाँ अफगान को वहाँ से निकाल बाहर किया। इस प्रकार नवम्बर के अन्त तक प्रायः ब्रज का सारा भूभाग स्थायीरूपेण मुगल आधिपत्य में आ गया तथा पिछले तीन वर्षों की भयंकर अराजकता का अन्त हुआ।

अकबर का शासन-काल
(१५५६–१६०५ ई०)

जिस समय ब्रज पर अकबर का आधिपत्य हुआ उस समय वहाँ अकाल पड़ा हुआ था। आगरा तथा मेवात पर अधिकार होने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। परन्तु ग्वालियर का किला अब भी इस्लामखाँ के एक गुलाम बहावलखाँ के अधिकार में था। पानीपत में हेमू की हार से लाभ उठाने के हेतु ग्वालियर के पिछले राजा विक्रमाजीत के पुत्र राजा रामसाह तँवर ने एक बड़ी राजपूत सेना के साथ इस किले को जा घेरा। यह घेरा कुछ समय तक चलता रहा, जिससे बहावलखाँ और उसके सैनिकों को कठिनाई होने लगी। इसी समय आगरे का मुगल सूबेदार कियाखाँ ससैन्य ग्वालियर की ओर बढ़ा। अब तो राजा रामसाह ने किले का घेरा उठा कर कियाखाँ पर

हमला किया। राजपूत बड़ी वीरतापूर्वक लड़े, किंतु अन्त में उनकी हार हुई (१५५७ ई०)। राजा रामसाह अपने तीन लड़कों शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह सहित ब्रज प्रदेश छोड़ कर मेवाड़ चला गया, जहाँ राणा उदयसिंह ने बारांदसोर जागीर में दिया। राजपूतों को हरा कर कियाखाँ ने ग्वालियर के किले का घेरा लगाया। यह घेरा डेढ़ वर्ष से भी अधिक चलता रहा। अक्टूबर, १५५८ ई० में जब अकबर आगरा आया तब उसने हबीब-अलीखाँ, मकसूद अली सुल्तान आदि को कियाखाँ की सहायता के लिए भेजा। अन्त में जनवरी, १५५८ ई० में बहाबलखाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया और ग्वालियर पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। मुगल-काल में यह किला महत्वपूर्ण राजकीय कैदियों या शाहजादों को नजरबन्द रखने के काम में आता था।

आगरा जिले के दक्षिण-पूर्व भाग में तब हटकांट एक महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्र था। इस प्रदेश में भदौरिया चौहानों का प्रभुत्व था, जो बहुत ही साहसी और उद्दण्ड होते थे। इन राजपूत जमींदारों को दबाये रखने के लिए शेरशाह को भी हटकांट में विशेष सैनिक प्रबंध करना पड़ा था। अब यह प्रदेश आदम खाँ को जागीर में देकर उसे ससैन्य हटकांट भेजा गया, जिससे वहाँ राजपूतों का उपद्रव दब गया तथा शांति स्थापित हो गई (१५५९ ई०)।

मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा— आगरा आकर अकबर ने उसे अपनी राजधानी बनाया। इस समय आगरा एक छोटा सा शहर था। अब बढ़ते हुए मुगल-साम्राज्य की राजधानी बन कर उसका भी महत्व बढ़ने लगा। अपने लिए अकबर ने वहाँ अनेकों भव्य प्रासाद बनवाये। आगरा के सुप्रसिद्ध किले को बनवाने का काम सन् १५६५ ई० में प्रारम्भ हुआ। धीरे धीरे प्रदेश में कला-कौशल का विकास होने लगा। अब आगरा व्यवसाय तथा व्यापार का भी एक महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।

तीर्थस्थानों की उन्नति— इस समय मथुरा के आस-पास घने बीहड़ जङ्गल थे। वहाँ बाघ बहुतायत से मिलते थे। अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में अकबर प्रायः शिकार खेलने मथुरा के जङ्गलों में जाया करता था। मथुरा आदि हिंदू धार्मिक स्थानों की तीर्थ-यात्रा करने वालों से उनके पद तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार मुगल-साम्राज्य की ओर से कर वसूल किया जाता था, जिससे अबुलफजल के कथनानुसार करोड़ों रुपयों की

आमदनी होती थी। किंतु सन् १५६३ ई० में जब अकबर मथुरा के जङ्गलों में मृगया कर रहा था, तब उससे प्रार्थना की जाने पर उसने अपने साम्राज्य में ऐसे यात्री-कर वसूल करना बन्द कर दिये। मुसलमानों के सिवाय बाकी जनता से अब तक वसूल होने वाला जज़िया कर भी अगले वर्ष अकबर ने बन्द कर दिया और यों हिंदुओं के प्रति उसने सहिष्णुतापूर्ण उदार नीति आरम्भ की, जिससे ब्रज प्रदेश के मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थ-स्थानों की बहुत उन्नति हुई।

ईसा की १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही वृन्दावन के वैष्णव धर्मावलम्बियों में एक नवीन स्फूर्ति का प्रादुर्भाव होने लगा था। चैतन्य महाप्रभु की वृंदावन-यात्रा तथा उनके प्रिय शिष्य, रूप और सनातन (गोस्वामी), के प्रयत्नों से वृंदावन के साथ ही साथ उसके आस-पास के सारे उत्तरी ब्रज प्रदेश में भक्ति-मार्ग एवं वैष्णवपंथियों का प्रभाव बढ़ने लगा। ब्रज प्रदेश पर जब अकबर का आधिपत्य हुआ, तब वहाँ रूप और सनातन के भतीजे तथा पटशिष्य जीव गोस्वामी की विद्वत्ता, भक्ति एवं तपस्या की चर्चा सब जगह हो रही थी। अकबर की इस उदार नीति के कारण हिंदुओं में एक अनोखे नूतन उत्साह का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल साम्राज्य की पुनः स्थापना के बाद उत्तरी भारत में जो शांति छा गई थी उससे भी इस धार्मिक पुनरुत्थान में बहुत सहायता पहुँची। दूर-दूर प्रदेशों के भक्त तथा श्रद्धालु हिंदू ब्रज के इन पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा करने को आने लगे। वैष्णव धर्म तथा भक्तिमार्ग संबंधी धार्मिक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन एवं अध्यापन होने लगा। भक्त कवि अपने आराध्यदेव तथा उनके भक्तों की जीवन-गाथाएँ गाने लगे। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथजी ने गोकुल को अपना प्रधान केन्द्र बनाया। सन् १५६६ ई० के बाद अकबर ने भी विट्ठलनाथजी के प्रति विशेष झुकाव दिखाया। उसने गोकुल गाँव उन्हें प्रदान कर दिया तथा बिना किसी रोक-टोक के शाही चरागाहों आदि में उनकी गायों को चरने आदि की आज्ञा भी फरमान द्वारा दी (१५७७ ई०)। अपने भौतिक जीवन की संध्या तीर्थस्थानों के विशुद्ध वातावरण में बिताकर ब्रज में ही अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करने को उत्सुक वयोवृद्ध धार्मिक हिंदुओं ने मथुरा-वृंदावन की राह ली। आम्बेर के राजा भारमल ने (जिसे कहीं-कहीं बिहारीमल भी लिखा है) मथुरा में ही अपने जीवन के अंतिम दिन बिताये और जनवरी, १५७४ ई० में विश्राम घाट पर उसका देहावसान हुआ। भारमल की रानी अपने मृत पति के साथ सती हुई।

और उस सती का स्मारक 'सती बुर्ज' के रूप में आज भी मथुरा में यमुना के किनारे विद्यमान है।[1]

अकबर का मथुरा-वृन्दावन आगमन—यह सुप्रसिद्ध किम्वदंती है कि जीव गोस्वामी तथा वृंदावन के स्वामी हरिदास आदि भक्तों की ख्याति शाही दरबार में भी पहुँची, जिसे सुनकर उनसे मिलने के लिए अकबर की उत्सुकता बहुत बढ़ी। जब सन् १५७३ ई० में वह मथुरा की ओर गया तब वृंदावन में जीव गोस्वामी एवं उनके साथी भक्तों से भी वह मिला। कहते हैं कि अकबर की आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे वे निधुवन में ले गये तथा वहाँ उसे ऐसे अलौकिक चमत्कार दिखलाये कि अकबर को भी उस क्षेत्र की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास हो गया। इसी कारण जब अकबर के दरबार में रहने वाले प्रमुख हिंदू राजाओं ने वृन्दावन में अधिक भव्य-कलापूर्ण मंदिर बनाने के लिए अकबर से आज्ञा चाही तो उसने सहर्ष उन्हें आज्ञा दे दी। अब तो भक्तगण ब्रज प्रदेश में पानी की तरह रुपया उँड़ेलने लगे। राजा-महाराजा, वीर-प्रतापी हिंदू सेना-नायक तथा धनी-मानी साहूकार-व्यापारी वृन्दावन और मथुरा को सजाने में लग गये। बड़े-बड़े मंदिर और नये लम्बे-चौड़े घाट बनने लगे। सुन्दर मूर्तियों की स्थापना की जाकर उनकी अर्चा होने लगी एवं सुरम्य, सुशीतल कुन्जों के लगाने का आयोजन होने लगा।

आंबेर के शासक और ब्रज—मुगल-काल में ब्रज को सजाने आदि में आंबेर के राजघराने का बहुत हाथ रहा है। राजा भगवानदास ने मथुरा में 'सती बुर्ज' एवं गोवर्धन में हरिदेव के मंदिर बनवाये। उसके पुत्र इतिहास-प्रसिद्ध राजा मानसिंह ने गोवर्धन में इसी मंदिर के पास 'मानसी गङ्गा' नामक सरोवर बनवाया। सन् १५९० ई० में मानसिंह ने वृंदावन में गोविंददेव का मंदिर निर्माण करवाया।[2] आज इस मंदिर के जो खंडहर

---

१. दन्त-कथा के आधार पर ग्राउज ने 'सती बुर्ज' का निर्माण सन् १५७० ई० में लिखा है। 'तबकात-इ-अकबरी' के अनुसार भारमल की मृत्यु आगरा में हुई थी। जयपुर राज्य से प्राप्त ऐतिहासिक जानकारी के आधार पर इन दोनों कथनों को भ्रमपूर्ण मान कर उन्हें अस्वीकार किया गया है।

२. कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस मंदिर का ऊपरी अंश पूरा नहीं हो सका।

विद्यमान हैं उन्हें देखकर स्थापत्य-कला के विशेषज्ञ इस मंदिर की रचना तथा सुन्दरता की प्रशंसा करते नहीं अघाते । इसे बनाने में भारतीय शिल्पकारों ने हिंदू-मंदिरों की सुप्रतिष्ठित प्राचीन शैली के साथ तत्कालीन नवीन मुगल शैली का अनोखा और बहुत ही सुन्दर समन्वय किया है । मथुरा का 'कंस का किला' भी मानसिंह का ही बनवाया हुआ है; मुगल-काल में आम्बेर के राजा मथुरा में आकर इसी किले में निवास करते थे । गोविंददेव के मंदिर के समकालीन या उससे कुछ ही वर्ष पहले बना हुआ वृंदावन का गोपीनाथ का मंदिर भी उल्लेखनीय है, जिसे कछवाहा राजपूतों की शेखावत शाखा के आदि-पुरुष शेखा के प्रपौत्र एवं अकबर के राज-दरबार के प्रमुख सरदार, रायसाल दरबारी, ने बनवाया था ।

युरोपीय धर्म-प्रचारकों का आगमन— ब्रज प्रदेश के सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना अकबर के शासन-काल में युरोपीय पादरियों तथा धर्म-प्रचारकों का आगरा आना था । अकबर के राज्य-काल में ही प्रथम बार उत्तरी भारत में युरोपीय प्रभाव का कुछ अनुभव होने लगा था । अकबर की धार्मिक नीति तो उदार थी ही, उसकी धर्म-जिज्ञासा भी अगाध एवं अतृप्य थी । ईसाई धर्म के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने को वह उत्सुक हो उठा । गोआ से उसने पुर्तगाली पादरियों को बुलाया जिनका पहला दल सन् १५८० ई० में सीकरी पहुँचा । उन्होंने सीकरी में एक छोटा गिरजा बनाया, एक अस्पताल खोला तथा ईसाई धर्म-प्रचार की भी उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दी गई । ईसाइयों के दल यों आते-जाते रहे और सन् १६०९ ई० में उन्होंने आगरा में एक नया गिरजाघर भी बनवाया । ईसाई पादरियों के ये प्रयत्न शाहजहाँ के शासन-काल तक चलते रहे, परंतु ब्रज-प्रदेश में ईसाई धर्म का प्रचार करने में वे बिलकुल ही सफल न हुए । औरङ्गजेब ने तो इन पादरियों को आगरा से ही बिदा कर दिया और ईसाई पादरियों के इन विफल प्रयत्नों का यों अन्त हुआ ।

अकबर के उदार शासन के फलस्वरूप जब मथुरा, वृंदावन आदि तीर्थ-स्थानों की आशातीत उन्नति हो रही थी, तब यहाँ अनेकानेक राज-नैतिक परिवर्तन भी हो रहे थे । सन् १५६६ ई० में अकबर ने आगरा को छोड़ कर फतहपुर सीकरी को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया । वहाँ एक नई नगरी का निर्माण हुआ । सन् १५८५ ई० में जब तक वह लाहौर नहीं गया तब तक सीकरी ही भारतीय साम्राज्य का प्रधान केन्द्र रहा । लाहौर

से लौटने पर अकबर ने पुनः आगरा को ही राजधानी बनाया; सीकरी को दूसरी बार यह गौरव नहीं प्राप्त हुआ।

ब्रज प्रदेश की शासन-व्यवस्था— अकबर ने ब्रज प्रदेश की शासन-व्यवस्था तथा यहाँ के लगान वसूली-संबंधी प्रबंध में भी अनेकानेक महत्वपूर्ण सुधार किये। स्थानीय क़ानूनगो की सहायता से सन् १५६५ ई० में खालसा जमीन का लगान निश्चित किया गया था। सन् १५७३-७४ ई० में अकबर ने हुक्म दिया कि जागीरों की जमीनों को भरसक खालसा (राजकीय सम्पत्ति) बनाया जावे। यह हुक्म ब्रज प्रदेश में भी लागू किया गया। राज्य का किसानों के साथ सीधा संबंध स्थापित किया गया और अब राज्य-कर्मचारी किसानों से ही लगान वसूल करने लगे। लगान की दर निश्चित करने तथा उसकी वसूली का उचित प्रबंध करने के लिए आवश्यक नियम बनाये गये। सन् १५७५-६ ई० में कई अन्य प्रान्तों के साथ ही ब्रज में भी प्रत्येक परगने में 'करोड़ी' नामक एक नया कर्मचारी नियुक्त किया गया, जिसका प्रधान कर्तव्य था परगने में खेती बढ़ा कर राज्य की आमदनी में वृद्धि करना। तदर्थ ब्रज प्रदेश के परगनों की धरती की नाप की जाने लगी। परंतु कुछ ही वर्षों में यह स्पष्ट हो गया कि जागीरों की जमीन को भरसक खालसा बनाने का प्रयोग विफल ही हुआ तथा करोड़ी की नियुक्ति से भी विशेष लाभ नहीं हुआ। प्रति वर्ष लगान निश्चित करने की पद्धति भी बहुत ही असुविधाजनक थी। सन् १५७९-८० ई० में राज्य के लगान-प्रबंध तथा शासन-संगठन में बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। अब लगान निश्चित करने के लिए दस-वर्षीय व्यवस्था की गई, जिससे पिछले दस साल (सन् १५७० ई० से १५७९ ई० तक) के लगान की दर के औसत के आधार पर ही अगले वर्षों के लिए लगान की वार्षिक दर नियत की गई। इसी वर्ष साम्राज्य के शासन-सङ्गठन में आवश्यक फेर-फार कर उसे बारह सूबों में विभक्त किया गया। इस नई व्यवस्था के अनुसार भी प्रायः सारा ब्रज प्रदेश आगरा के सूबे में ही पड़ता था। प्रत्येक सूबा विभिन्न सरकारों तथा प्रत्येक सरकार अलग-अलग महलों अथवा परगनों में विभक्त किये गये। सन् १५८० ई० में ब्रज प्रदेश में जो शासन-संगठन किया गया, थोड़े से अनुल्लेखनीय परिवर्तनों के साथ वह सारे मुगल-काल में बना रहा। ब्रज प्रदेशीय सरकारों आदि का विशेष विवरण आगे दिया जायगा।

इस नई शासन-व्यवस्था के अनुसार सन् १५८६ ई० में विभिन्न प्रान्तों के सूबेदार नियत किये गये। शेख इब्राहीम को आगरा का सूबेदार बनाया

गया और सन् १५९१ ई० में अपनी मृत्यु तक वह इसी पद पर रहा । सन् १५८५ ई० से अगले पाँच साल तक ब्रज प्रदेश में बरसात अच्छी हुई । ऋतु भी सब तरह से अनुकूल ही रही, जिससे फसलें बहुत अच्छी हुई । यातायात की पूरी सुविधाएँ न होने के कारण इस अत्यधिक उपज को मोल लेने वाला कोई न मिला, मूल्य के दर कम हो गये और लगान भी वसूल करने में कठिनाई होने लगी । अतः सन् १५८८ तथा पुनः सन् १५९० ई० में ब्रज प्रदेश के किसानों को लगान में बहुत-कुछ छूट देनी पड़ी । ब्रज प्रदेश के खालसा इलाके का प्रबन्ध करने के लिए सन् १५९२ ई० में राय रामदास नियुक्त किया गया । सन् १५९५-६ ई० में अनावृष्टि से सारे उत्तरी भारत में सर्वत्र अकाल पड़ गया, जो आगामी तीन-चार वर्षों तक चलता ही गया । साथ ही साथ एक प्रकार की महामारी भी शुरू हो गई । ब्रज प्रदेश को भी इस दैवी आपत्ति का सामना करना पड़ा । मुगल साम्राज्य की ओर से सारे प्रयत्न किये गये, फिर भी हजारों मनुष्य मर गये । सैनिक-प्रबन्ध काफी सुदृढ़ किया गया था, जिससे इतना सब होते हुए भी किसी प्रकार की अराजकता नहीं फैलने पाई । सन् १६०१ ई० में अकबर दक्षिण से लौट कर आगरा चला आया और अपने जीवन के अन्तिम वर्ष उसने यहीं बिताये । अक्टूबर १७, १६०५ ई० को आगरा में ही अकबर की मृत्यु हुई ।

जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल

(१६०५—१६५८ ई०)

जहाँगीर—अकबर के मरने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट् बना । उसने अकबर की ही सहिष्णुतापूर्ण नीति अङ्गीकार की । उसके सारे शासन-काल में ब्रज प्रदेश में प्रायः सुख-शांति बनी रही । शासन के प्रारम्भ में जब जहाँगीर के बड़े लड़के खुसरो ने विद्रोह किया तब आगरा से पंजाब जाते समय मथुरा और उसके आस-पास के प्रदेश में उसके साथियों ने अवश्य लूट-मार की (१६०६ ई०) ।

जहाँगीर के शासन-काल में आगरा ही मुगल साम्राज्य की राजधानी रहा, परन्तु वह स्वयं प्रायः राजधानी से बाहर रहा (१६१३—१६१८ एवं १६१९ ई० से मृत्यु-पर्यन्त) । अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्ष उसने आगरा में बिताये । तब इङ्गलैंड से राजदूत एवं व्यापारी आगरा आये और सन् १६१४ ई० में अँग्रेजों ने वहाँ अपनी एक कोठी भी खोली । किन्तु जहाँगीर

के आगरा से चले जाने के कारण वहाँ कोई व्यापार रह नहीं गया था, एवं तीन वर्ष बाद ही उसे बन्द कर देना पड़ा।

सन् १६१८ ई० में आगरा और आस-पास के ब्रज प्रदेश में प्लेग फैल गया, जिससे सैकड़ों मनुष्य मर गये। मार्च, १६२२ ई० में जहाँगीर ने अपने वयोवृद्ध विश्वस्त अधिकारी इतबारखाँ को आगरा का सूबेदार नियुक्त किया। इसके दस माह बाद शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और आगरा के किले पर अधिकार करने का असफल प्रयत्न किया। उसने आगरा शहर भी लूटा, परन्तु बाद में बिलोचपुर के युद्ध में हार कर उसे दक्षिण को लौट जाना पड़ा (जुलाई, १६२३ ई०)। इसी वर्ष के अन्तिम दिनों में इतबारखाँ के मर जाने पर मुकर्रबखाँ को आगरा का सूबेदार नियत किया गया।

नये मंदिरों का निर्माण—जहाँगीर के इस शांतिपूर्ण शासनकाल में मथुरा और वृन्दावन में निरंतर नये-नये मंदिर बनते रहे तथा वहाँ की समृद्धि बढ़ती गई। ओरछा के बुंदेला राजा मधुकर का पुत्र महाराजा वीरसिंह जहाँगीर का बहुत ही कृपा-पात्र था। जहाँगीर की विशेष आज्ञा प्राप्त कर वीरसिंह ने तैंतीस लाख रुपया लगा कर बड़ी तैयारी और दृढ़ता के साथ मथुरा में केशवराय का सुप्रसिद्ध मंदिर बनवाया। इस मंदिर की सजावट और पच्चीकारी में बहुत अधिक द्रव्य व्यय हुआ था, जिससे वह 'अपने समय का सबसे अधिक आश्चर्यजनक' मंदिर गिना जाता था। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री टैवरनियर ने इस मन्दिर का विशद विवरण लिखा है, जो आगे दिया गया है। इस मन्दिर के अतिरिक्त वीरसिंह ने मथुरा परगने में शेरसागर (जो घेरे में साढ़े पाँच कोस था) और समुन्दर सागर (जिसका घेरा बीस कोस था) नामक दो तालाब भी बनवाये।[3] वृन्दावन में भी मदनमोहन, जुगलकिशोर और राधावल्लभ के तीन बड़े सुन्दर मंदिर जहाँगीर के शासन-काल में ही बने। जुगलकिशोर का मंदिर सन् १६२७ ई० में नोनकरण (लूणकरण) चौहान ने बनवाया और राधावल्लभ का मंदिर दिल्ली के खजांची सुन्दरदास कायस्थ ने सन् १६२६ ई० में बनवाया।

---

३. मासिर-उल-उमरा, (हिंदी) १, पृ० ३६६। संभवतः ये दोनों तालाब बाद में टूट-फूट गये। न तो ग्राउज कृत 'मथुरा' में ही इनका कोई उल्लेख मिलता है और न मथुरा जिले के गैजेटियर में।

सन् १६१९ ई० में आगरा से गया हुआ जहाँगीर लौट कर ब्रज प्रदेश में नहीं आया। अक्टूबर २८, १६२७ ई० को लाहौर में ही उसकी मृत्यु हो गई। शाहजहाँ तब दक्षिण में था। अब वह सम्राट् बना और अजमेर होता हुआ जनवरी, १६२८ ई० में आगरा पहुँचा।

शाहजहाँ—शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में छोटे-मोटे कई विद्रोह उठे, परंतु उनसे ब्रज प्रदेश की शांति भंग नहीं हुई। दोआब का प्रदेश तो बहुत समय तक शान्तिपूर्ण बना रहा। अपने सारे शासन-काल में शाहजहाँ प्रायः आवश्यकतानुसार भ्रमण ही करता रहा एवं दो-तीन वर्ष से अधिक वह कभी भी स्थायी रूप से आगरा में नहीं रहा। सन् १६४८ ई० में शाहजहाँ ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया, तथापि उसने कभी भी आगरा की उपेक्षा नहीं की। उसने वहाँ ताजमहल, दीवान खास, मोती मसजिद आदि की रचना कराई।

साम्राज्य की धार्मिक नीति में भी अब बहुत कुछ परिवर्तन होने लगा था। हिंदुओं के प्रति अब पहले का सा सहिष्णुतापूर्ण बर्ताव नहीं होता था। गरीब प्रजा और किसानों के साथ भी कड़ाई होती थी। इधर सन् १६०० ई० के लगभग मथुरा और कोइल के जिलों तथा आस-पास के प्रदेश में तेनवा जाट आ बसे थे। सन् १६३५ ई० के लगभग मथुरा परगने में उपद्रव उठ खड़ा हुआ जिसे दबाने के लिए सन् १६३६ ई० में मुर्शिदकुली-खाँ तुर्कमन को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया गया। यह फौजदार बहुत ही कामी था, एवं विद्रोह को दबाने के बहाने उसने अनेकों सुन्दर स्त्रियों को बलपूर्वक अपने हरम में दाखिल किया। मासिर उल्-उमरा में लिखा है कि "कृष्ण के जन्म दिन (कृष्णाष्टमी) पर मथुरा के सामने ही यमुना के दूसरे तट पर गोवर्धन [? गोकुल] में हिंदू स्त्री-पुरुषों का एक बड़ा मेला लगता था। हिंदुओं की ही तरह धोती पहन तथा कपाल पर चंदन लगा कर खान पैदल ही उस भीड़ में जा मिलता था। जब कभी वह चाँद से भी प्रतियोगिता करने वाले सुन्दर मुख वाली स्त्री को देखता तो भेड़ पर टूटने वाले भेड़िये की तरह वह उस पर झपटता और उसे पकड़ कर भगा ले जाता। वहीं यमुना के तीर पर तैयार लगी हुई अपनी नाव पर बैठा कर तेजी के साथ उसे आगरा ले उड़ता था। (लज्जा के मारे) हिंदू कभी भी यह प्रकट नहीं करते थे कि उनकी लड़की का क्या हुआ।" यही कारण था कि उसके प्रति विरोध बहुत था और सन् १६३८ ई० में रात को उसे सोते हुए

मार डाला गया। विद्रोह की यह आग धीरे-धीरे सुलगती ही रही। सन् १६४२ ई० के बाद इरादतखाँ मथुरा की फौजदारी पर नियुक्त था, किंतु इन हिंदू उपद्रवियों को दबाने में आवश्यक सख्ती न करने के कारण तीन वर्ष बाद ही उसे बदल दिया गया।

दाराशिकोह—सन् १६५४ ई० के बाद से मुगल साम्राज्य के कारोबार में शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र उदारचेता दारा का बहुत हाथ रहने लगा। तब से कुछ समय के लिए पुनः साम्राज्य की धार्मिक नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। इन पिछले वर्षों में मथुरा का परगना दारा को जागीर में मिल गया था, अतएव कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, ब्रज प्रदेश के इस पवित्र परगने में सहिष्णुतापूर्ण उदार धार्मिक नीति बरती जाने लगी। मथुरा में बीरसिंह बुंदेला-निर्मित केशवराय के मंदिर को संभवतः इन्हीं वर्षों में दारा ने पत्थर का सुंदर कटहरा भेंट किया। किंतु यह परिवर्तित परिस्थिति स्थायी नहीं रह सकी। सितम्बर, १६५७ ई० में शाहजहाँ दिल्ली में बहुत बीमार पड़ गया, जिसके फलस्वरूप उसके चारों पुत्रों में गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ। अंत में मई २९, १६५८ ई० को शामूगढ़ के युद्ध में दारा को पूरी तरह हरा कर औरङ्गजेब तथा मुराद ने आगरा पर भी अधिकार कर शाहजहाँ को कैद में डाल दिया। दारा पंजाब की ओर भाग गया और उसका पीछा करते हुए जब औरङ्गजेब तथा मुराद ससैन्य मथुरा पहुंचे तब वहाँ जून २५, १६५८ ई० की रात को छल कर औरङ्गजेब ने मुराद को भी कैद कर लिया और दिल्ली पहुँच कर जुलाई २१, १६५८ ई० को वह स्वयं सिंहासनारूढ़ होगया।

औरङ्गजेब की कट्टरतापूर्ण धार्मिक नीति

(१६५८-१६७० ई०)

आगरा पर अधिकार होते ही ब्रज प्रदेश पर भी औरङ्गजेब का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया। किंतु इस समय मथुरा के परगने में सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। दारा के सारे कर्मचारी परगने से भाग चुके थे एवं किसान सर्वत्र लूट-मार कर रहे थे। जून, १६५८ ई० में औरङ्गजेब ने इस उपद्रव को दबाने के लिए एक नये फौजदार को वहाँ ससैन्य भेजने का आयोजन किया। परंतु इस उत्तरी ब्रज प्रदेश में पूर्ण शांति स्थापित करने में कुछ वर्ष लगे। मथुरा और कोइल के परगनों में तेनवा जाटों की शक्ति निरंतर

बढ़ती ही जा रही थी। औरङ्गजेब तथा उसके भाइयों के इस आपसी युद्ध से लाभ उठा कर उनके नेता नंदराम ने कुछ वर्ष तक लगान भी नहीं दिया, परंतु जब औरङ्गजेब की सत्ता पूरी स्थापित हो गई तब उसने सन् १६६० ई० के लगभग उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। दो वर्ष बाद कोइल परगने में पुनः इतना उपद्रव बढ़ा कि उसे दबाने के लिए दिल्ली से विशेष रूपेण सेना भेजी गई।

मथुरा का परगना आगरा-दिल्ली की राह पर था, एवं वहाँ शान्ति बनाये रखना अत्यावश्यक था। अतएव सन् १६६० ई० में औरङ्गजेब ने अब्दुन्नबीखाँ को वहाँ का फौजदार नियुक्त किया। अब्दुन्नबी बहुत ही 'धार्मिक व्यक्ति' था एवं उससे आशा की जाती थी कि वह 'मूर्ति पूजा को समूल नष्ट कर देने' की औरङ्गजेब की नीति को पूरी तरह कार्यान्वित करेगा। मथुरा पहुँचते ही उसने किसी मंदिर के पुराने खंडहरों पर एक नई जुमा मसजिद बनवाई (१६६१-६२ ई०)।

शाहजहाँ की तरह औरङ्गजेब ने भी दिल्ली को ही अपनी राजधानी बनाया। इस समय शाहजहाँ आगरे के किले में कैद था एवं शाहजहाँ के जीवन-काल में औरङ्गजेब आगरा नहीं आया। जनवरी, १६६६ ई० में शाहजहाँ की मृत्यु हो जाने के एक माह बाद औरङ्गजेब आगरा पहुँचा। अक्टूबर, १६६६ ई० के प्रारम्भ तक वह वहीं ठहरा रहा।

शिवाजी का मथुरा-आगमन—इसी वर्ष शिवाजी आगरा में औरङ्गजेब के दरबार में उपस्थित हुए। वहाँ वे कैद किये गये, किंतु बड़ी ही चतुरता से शाही पहरेदारों की आँखों में धूल झोंक कर वे कैद से भाग निकले। शिवाजी अपने पुत्र शंभाजी के साथ आगरा से मथुरा गये। वहाँ अपनी दाढ़ी और मूँछें मूँड़ लीं और संन्यासी का वेश बना सारे बदन पर भस्मी रमाये इलाहाबाद होते हुए महाराष्ट्र को लौट गये। इस समय कुछ महाराष्ट्री ब्राह्मण मथुरा में रहते थे। शिवाजी ने शम्भाजी को उन्हीं के पास छोड़ दिया और बाद में सुविधानुसार उन्हें दक्षिण वापस बुलवा लिया।

औरङ्गजेब की कट्टरता—औरङ्गजेब प्रारम्भ से ही कट्टर मुसलमान था और उसकी नीति बहुत-कुछ अनुदार थी। राज्यारूढ़ होने के समय से ही उसने हिंदू-विरोधी नीति अंगीकार की, किंतु उसका पूर्ण स्वरूप सन् १६६६ ई० के बाद ही सुस्पष्ट होने लगा। इन्हीं दिनों आगरा में औरङ्गजेब

विद्रोही मारे गये और ७,००० कैद हुए, जिनमें गोकला तथा उसके कुटुम्बी भी थे। कैदियों को आगरा ले जाया गया; वहाँ कोतवाली के सामने गोकला के विभिन्न अङ्ग एक-एक कर काटे गये, जिसके फलस्वरूप अन्त में उसकी मृत्यु हुई। उसके कुटुम्बियों को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया (जनवरी, प्रथम सप्ताह, १६७० ई०)।

प्रधान मूर्तियों का ब्रज से बाहर जाना—इस विद्रोह के कारण मंदिरों को विध्वंस करने की शाही आज्ञा का पालन ब्रज प्रदेश में तत्काल ही नहीं हो सका था। परंतु औरङ्गजेब की इन आज्ञाओं की सूचना सर्वसाधारण को मिल चुकी थी एवं विभिन्न मंदिरों के पुजारियों तथा उनके भक्तों ने उन विशाल भव्य सुन्दर मंदिरों का मोह छोड़ कर वहाँ की मूर्तियों को विनाश से बचाने का आयोजन किया। वल्लभ सम्प्रदाय वालों का प्रमुख मंदिर इस समय गोवर्धन पर्वत पर गिरिराज के मंदिर के नाम से सुप्रसिद्ध था। उस मंदिर की श्रीनाथजी की मूर्ति को लेकर वहाँ के गोसाईं सितम्बर ३०, १६६९ ई० को गोवर्धन से निकले। छिपते-छिपाते वे बूंदी, कोटा, पुष्कर, किशनगढ़ तथा जोधपुर गये। परंतु औरङ्गजेब के भय से उस मूर्ति को अपने राज्य में रखना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। अन्त में महाराणा राजसिंह ने मेवाड़ में श्रीनाथजी का सहर्ष स्वागत किया और फरवरी १०, १६७२ ई० के दिन सीहाड़ (नाथद्वारा) गाँव में वह मूर्ति स्थापित की गई।[४] इसी प्रकार गोवर्धन वाले द्वारकाधीश की मूर्ति को भी मेवाड़ ले जाकर कांकड़ोली में उसकी प्रतिष्ठा की गई।[५] वृंदावन में आमेर के राजा मानसिंह द्वारा निर्मित गोविंददेव की मूर्ति को आमेर ले गये।

---

४. मथुरा में प्रचलित दन्तकथा के आधार पर ग्राउज ने लिखा है कि वीरसिंह बुंदेला-निर्मित केशवराय के मंदिर की मूर्ति को भी नाथद्वारा में स्थापित किया था। गिरिराज के श्रीनाथजी की नाथद्वारा में स्थापना के सम्बन्ध में प्रचलित सारी दंतकथाओं का उल्लेख केशवराय की मूर्ति के सम्बंध में उसने वहां किया है (मेम्वायर, पृ० १२०-२१)। परंतु उसका यह कथन ठीक नहीं। केशवराय का मंदिर तोड़ने के बाद वहां की मूर्तियां को आगरा ले गये थे। सम्भवत: प्रधान मूर्ति को कहीं अन्यत्र पहुँचाया गया।

५. ओझा, उदयपुर०, २, पृ० ५४७। ग्राउज (पृ० १२१) के अनुसार कांकड़ोली की यह मूर्ति कनौज से लाई गई थी।

केशवराय आदि मंदिरों का विध्वंस—अब ब्रज में विद्रोह समाप्त हो रहा था, एवं औरङ्गजेब वहाँ के मंदिरों की तोड़-फोड़ करने को उत्सुक हो गया। रमज़ान माह (जनवरी १३, १६७० ई० के बाद) में उसने मथुरा में बीरसिंह बुंदेला-निर्मित केशवराय के सुप्रसिद्ध मंदिर को तोड़ने का आदेश दे दिया। 'अधिकारियों की तत्परता के फलस्वरूप बहुत ही थोड़े समय में यह मंदिर नष्ट कर दिया गया और उसके स्थान पर एक बड़ी मसजिद बन गई।' 'इस मंदिर में प्रतिष्ठित छोटी-बड़ी मूर्तियाँ, जिन पर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे, आगरा लाई गईं और बेगम साहिब की मसजिद की सीढ़ियों के नीचे गड़वा दी गईं।' अब मथुरा और वृन्दावन के नाम भी बदल दिये गये और उन्हें क्रमशः 'इस्लामाबाद' और 'मोमिनाबाद' कहा जाने लगा।[६] मथुरा, वृंदावन तथा ब्रज प्रदेश के सारे तीर्थ-स्थानो के मंदिरों को एक-एक कर तोड़ा-फोड़ा गया और वहाँ की मूर्तियाँ विनष्ट कर दी गईं।

गोकला को पहले ही मार डाला जा चुका था। अन्य विद्रोही बहुत-कुछ बिखर चुके थे। बाकी को भी अब मार भगाया गया। इस समय हसनअली ने मथुरा परगने में इतनी कठोरता के साथ दमन-चक्र चलाया कि उस समय शाही आज्ञाओं का विरोध करने का ब्रज प्रदेश में किसी को साहस नहीं रहा! शासन की अतिशय क्रूरता एवं कठोरता के कारण ही मंदिरों तथा तीर्थस्थानों को नष्ट करते समय किसी ने भी विरोध नहीं किया। अगले दस वर्षों तक ब्रज प्रदेश में शांति बनी रही।

हिन्दुओं पर पुनः जज़िया-कर लगाया जाना; उत्तरी भारत में हिन्दू-प्रतिक्रिया एवं जाटों का उत्थान

(१६७१-१६६६ ई०)

गोकला जाट के विद्रोह को दबाने के लिए आगरा आया हुआ औरङ्गजेब वहाँ करीब दो वर्ष तक ठहरा रहा और ब्रज प्रदेश के सारे मंदिरों आदि का विध्वंस करवा कर ही नवंबर २, १६७१ ई० को दिल्ली वापस लौटा। इस बार का गया हुआ औरङ्गजेब पुनः लौट कर आगरा नहीं आया।

---

६. किंतु ये नये नाम शाही कागज़ात तथा मुसलमान इतिहासकारों के ग्रंथों से आगे कभी भी प्रचलित नहीं हो पाये।

औरङ्गजेब की इस असहिष्णुतापूर्ण अनुदार नीति के फलस्वरूप उत्तरी भारत के हिंदुओं और मुसलमानों में आपसी मनमुटाव बढ़ता जा रहा था। कई एक स्थानों में हिंदुओं ने मंदिर-विध्वंसकों का सामना भी किया। नारनौल के परगने में सतनामियों का विद्रोह उठ खड़ा हुआ। पंजाब में सिक्ख मुसलमानों के कट्टर विरोधी बन रहे थे। छत्रसाल बुंदेला बुंदेलखंड में विद्रोह का आयोजन कर रहा था। परन्तु धर्मान्ध औरङ्गजेब अपनी नीति पर दृढ़ बना रहा। अप्रैल २, १६७९ ई० को उसने ग़ैर-मुसलमानों पर पुनः जज़िया कर लगा दिया। यह एक प्रकार का मुण्ड-कर था, जिसका बोझ प्रधानतया गरीबों पर ही अधिक पड़ता था।

ब्रज प्रदेश के शासन में ढिलाई—गोकला जाट के मारे जाने के बाद यद्यपि ब्रज प्रदेश में शांति स्थापित हो गई थी, परंतु विरोध की आग अंदर ही अंदर सुलगती रही। भूमि-विषयक किसी मामले को लेकर जून, १६८१ ई० में आगरा के पास ही कुछ गाँवों में उपद्रव उठ खड़ा हुआ था, जिसे आगरा के फ़ौजदार ने तत्काल ही दबा दिया। किंतु परिस्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। अपने शासन-काल के पिछले पचीस वर्ष (१६८१-१७०७ ई०) औरङ्गजेब ने दक्षिण के ही युद्धों में बिताये और वहीं उसकी मृत्यु होगई। सुदूर देशों में होने वाले इन निरंतर युद्धों का ब्रज प्रदेश को राजनैतिक परिस्थिति पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। उत्तरी भारत के अन्य प्रान्तों की तरह यहाँ के शासन में भी ढिलाई आने लगी। शासन-प्रबंध के लिए आवश्यक द्रव्य भी अब वहाँ नहीं व्यय किया जाता था। अतएव सुरक्षा और शान्ति के लिए जरूरी सिपाहियों का भी वहाँ अभाव रहने लगा। दिल्ली से मालवा होकर दक्षिण जाने वाला राजमार्ग आगरा और धौलपुर होता हुआ ब्रज प्रदेश में से ही गुजरता था। युद्ध-सामग्री, शाही खजाना आदि इसी राह दक्षिण को भेजे जाते थे। उनकी सुरक्षा के लिए उचित प्रबंध न होने के कारण ब्रज प्रदेश के जाटों में उन्हें लूटने का प्रलोभन उत्पन्न होना स्वाभाविक हो था। वर्ष पर वर्ष बीतते गये, न बादशाह ही उत्तरी भारत को लौटा और न उसके कोई शाहजादे ही। दिनों-दिन शाही शासन की निर्बलता अधिकाधिक व्यक्त होती जा रही थी। फिर शाही सेना की हारों, शाहजादा अकबर के विद्रोहों, शम्भाजी के साहसपूर्ण सफल धावों आदि के समाचार बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण रूप में सुदूर ब्रज प्रदेश तक जा पहुँचते थे और वहाँ के निवासी उनकी सविस्तार विवेचना करते थे। यों धीरे-धीरे मुग़ल-साम्राज्य की सत्ता का आतङ्क ब्रज प्रदेश से उठता जा रहा था।

जाटों का उत्थान—ऐसी परिस्थिति में जाटों के दो नये नेताओं राजाराम तथा रामचेहरा ने पूरा लाभ उठाया । उन्होंने सन् १६८५ ई० में जाटों की सेना संगठित कर उन्हें बन्दूक चलाने से लेकर सैनिक अनुशासन आदि सारी बातों की पूरी शिक्षा दी । रास्तों से दूर बीहड़ जङ्गलों में उन्होंने अनेकों सुदृढ़ गढ़ियाँ बनवाईं । इतनी तैयारी कर वे राजमार्ग पर लूट-मार करने तथा आगरा शहर के पास तक धावा मारने लगे । आगरे का सूबेदार सफीखाँ जाटों के इस उपद्रव को दबाने में असफल रहा । ब्रज प्रदेश के सारे रास्ते बंद हो गये । काबुल से बीजापुर जाते हुए सुप्रसिद्ध तूरानी वीर अगरखाँ को धौलपुर के पास मार कर राजाराम जाट ने अनोखी धृष्टता का परिचय दिया । जाटों के इस विद्रोह को दबाने के लिए औरङ्गजेब ने मई, १६८६ ई० में खान जहाँ को आगरा भेजा । किंतु जब उसे भी सफलता नहीं मिली तब अंत में उसने अपने पोते शाहजादे बेदारबख्त को जाटों के विरुद्ध दिसम्बर, १६८७ ई० में दक्षिण से रवाना किया ।

बेदारबख्त के ब्रज प्रदेश पहुँचने से पहले ही १६८८ ई० के प्रारम्भ में जाटों ने अपने सूबे की ओर जाते हुए पंजाब के नये सूबेदार महाबतखाँ (मीर इब्राहीम हैदराबादी) को राह में लूटा । उसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने सिकन्दरा में बने हुए अकबर के मकबरे पर धावा मारा; सारी बहुमूल्य वस्तुएँ लूट लीं तथा अन्त में अकबर की कब्र को खोद डाला और उसकी हड्डियों को निकाल कर उन्हें जला दिया ।

इन दिनों ब्रज की पश्चिमी सरहद पर मेवात में अपनी जमीदारियों की सीमा को लेकर चौहानों और शेखावत राजपूतों में बहुत खींचातानी चल रही थी । चौहानों ने राजाराम जाट को अपनी सहायतार्थ बुलवाया; उधर मेवात के मुगल फौजदार ने शेखावतों की मदद की । दोनों दलों में जम कर लड़ाई हुई, जिसमें राजाराम जाट काम आया (जुलाई ४, १६८८ ई०) । राजाराम के मरने पर उसके पुत्र जोरावर एवं फतहराम ने बारी-बारी से जाटों का नेतृत्व किया । राजाराम के वयोवृद्ध पिता भज्जा ने भी तदनन्तर कुछ समय तक यह भार उठाया ।

ब्रज प्रदेश पहुँचते ही बेदारबख्त बड़ी तत्परता के साथ जाटों को दबाने का आयोजन करने लगा । मथुरा नगर को ही अपना केन्द्र बना कर उसने वहाँ युद्ध-सामग्री एकत्र की । औरङ्गजेब ने भी बेदारबख्त की मदद के

लिए आम्बेर के राजा बिशनसिंह को मथुरा का फौजदार नियुक्त कर भेजा (अप्रैल ३०, १६८८ ई०)। सिनसिनी का परगना बिशनसिंह को जागीर में दे दिया गया कि वह जाटों से छीन कर उसे अपने अधिकार में कर ले। परंतु इस समय सारा ब्रज प्रदेश विद्रोही हो उठा था, एवं कुछ समय तक बेदारबख्त और उसके मुसलमान सेनानायकों को मथुरा से बाहर निकलने का साहस तक नहीं हुआ। राजाराम की मृत्यु के बाद कुछ परिस्थिति बदली और बेदारबख्त ने सिनसिनी के किले का घेरा डाला। किंतु उस जाट प्रदेश में बीहड़ जंगल. यातायात की कठिनाइयों तथा पानी और घास-दाने की कमी के कारण शाही सेना को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। तथापि बेदारबख्त अपने प्रयत्नों से पीछे नहीं हटा। इस कठिन समय में बिशनसिंह के अनुभवी विश्वस्त सेनानायक हरीसिंह खंगारोत की चतुराई ने शाही सेना को भूखों मरने से बचा लिया। अंत में जनवरी, १६९० के अंतिम दिनों में सुरंग लगा कर किले की दीवार तोड़ दी गई तथा शाही सेना किले में जा घुसी। जाटों ने डट कर उनका सामना किया। घमासान युद्ध हुआ; शाही सेना के ९०० सैनिक मारे गये और १५०० जाट काम आये, किन्तु अंत में सिनसिनी के किले पर मुगलों का अधिकार स्थापित हो गया। जाटों का नेता जोरावर मुगलों के हाथ कैद हो गया और उन्होंने उसका एक-एक अङ्ग काट कर उसकी निर्दयतापूर्ण हत्या की। अगले वर्ष जाटों के दूसरे सुदृढ़ केन्द्र सोगर पर भी बिशनसिंह ने अधिकार कर लिया (मई, १६९१ ई०)।

राजाराम की मृत्यु के बाद उपयुक्त नेता के अभाव में कुछ समय के लिए जाटों का संगठन तथा ऐक्य बिलकुल टूट गया और सारे जाट बिखर गये। बिशनसिंह ने जाट सरदारों को एक-एक कर हराया। किंतु शाही सेना की इन विजयों से भी जाटों के विद्रोह का सर्वथा अन्त नहीं किया जा सका। जाटों के साथ ही साथ ब्रज के स्थानीय राजपूत भी विद्रोही बन गये थे; मेवात में अलवर के पास कान्हा नरूका और हिण्डौन एवं बयाना के बीच रणसिंह पंवार शाही सत्ता की पूर्ण उपेक्षा कर रहे थे। सारा प्रदेश इतना ऊबड़-खाबड़ और दुर्गम जंगलों से भरपूर था, एवं वहाँ के निवासी इतने दुर्दमनीय थे कि ब्रज प्रदेश के इस भाग में सुव्यवस्थित शासन चलाना असंभव-सा हो गया। धरती का लगान तक वसूल करने के लिए सेना भेजना आवश्यक हो जाता था। बिशनसिंह के पास न इतना द्रव्य ही था और न इतने सैनिक ही कि वह जाटों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करता रहता। अतएव विभिन्न जाट-नायक अपने साथियों के साथ धीरे-धीरे अपने गाँवों को लौट आये। उन्होंने अपनी खेती-

बाढ़ी फिर सँभाली और अपनी गढ़ियों को पुनः बना कर वे उन्हें सुसज्जित करने लगे । १६६५ ई० में जब शाहज़ादा शाहआलम आगरा पहुँचा तब जाटों का उपद्रव फिर शुरू हो चुका था । जाटों के यों पुनः सिर उठाने का कारण औरङ्गजेब ने बिशनसिंह की ढिलाई तथा बेपरवाही समझा और १६६६ ई० में उसे मथुरा की फौजदारी से अलग कर दिया ।

मुग़ल साम्राज्य का ह्रास : चूड़ामन जाट का उत्थान

(१६६६—१७१८ ई०)

जाटों के इस पुनरुत्थान का प्रधान श्रेय उनके नये नेता चूड़ामन को था । चूड़ामन राजाराम का ही भाई था । संगठन के कार्य में वह बहुत ही कुशल था । सैनिकों और बन्दूकचियों के साथ ही साथ उसने भालेदारों तथा घुड़सवारों के दल भी संगठित किये । १७०४ ई० में उसने सिनसिनी के किले पर पुनः अधिकार कर लिया, किंतु यह किला बहुत समय तक चूड़ामन के हाथ में न रहा । आगरा के सूबेदार मुख्तारखाँ ने अक्टूबर, १७०५ ई० में उसे पुनः जीत कर वहाँ मुगलों का आधिपत्य स्थापित किया । यों मुगल-जाट कशमकश चलती रही, किंतु औरङ्गजेब के जीवनकाल में अपना प्रभाव अधिक बढ़ाने का पूरा अवसर चूड़ामन को नहीं मिला । तथापि लगभग इसी समय से जाटों का इतिहास ही ब्रज प्रदेश का इतिहास बन जाता है । इस प्रदेश में अँग्रेजों का आधिपत्य स्थापित होने तक प्रायः यही परिस्थिति बनी रही ।

औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद— फरवरी २०, १७०७ ई० के दिन अहमदनगर में औरङ्गजेब की मृत्यु हुई । उसके दो बड़े पुत्रों—मुअज्जम तथा आजम—में अब साम्राज्य के लिए कशमकश प्रारम्भ हुई । जमरूद से मुअज्जम एवं अहमदनगर से आजम ससैन्य दिल्ली—आगरा की ओर बढ़े । मुअज्जम का दूसरा लड़का अजीम बिहार का सूबेदार था । इस समय अपने पिता के पास जाते समय राह में इलाहाबाद के आस-पास उसने औरङ्गजेब की मृत्यु का समाचार सुना और अपने पिता का पक्ष बलवान करने के हेतु उसने सीधे आगरा जाकर वहाँ के किले पर अधिकार कर लिया । मुख्तारखाँ आगरा का सूबेदार था, परंतु वह अजीम का विशेष विरोध नहीं कर सका । यों ब्रज प्रदेश पर मुअज्जम का आधिपत्य हो गया । आगरा से क़रीब २० मील दक्षिण में जाजव के युद्ध-क्षेत्र पर मुअज्जम ने पूर्ण विजय प्राप्त की (जून ८,

१७०७ ई०) और बहादुरशाह नाम से वह मुग़ल-सम्राट् बना । आजम के इस युद्ध में चूड़ामन जाट ने निष्पक्ष होकर दोनों तरफ की सेनाओं को भरपूर लूटा। कहा जाता है कि इस लूट में इतना अधिक माल चूड़ामन के हाथ लगा कि तब से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और उन विद्रोहपूर्ण दिनों में उसकी उपेक्षा करना असंभव हो गया। बहादुरशाह की शक्ति स्थापित होते देखकर चूड़ामन ने भी मुगल साम्राज्य के साथ मेल कर लिया । वह स्वयं शाही दरबार में उपस्थित हुआ और उसे डेढ़ हजारी जात, ६०० सवारों का मनसब प्रदान किया गया। आगामी पाँच वर्षों तक चूड़ामन ने शाही सेना तथा कर्मचारियों के साथ पूर्ण सहयोग किया।

परन्तु चूड़ामन के अतिरिक्त अन्य जाट जमींदारों पर अब मुगल-साम्राज्य की ओर से दबाव डाला जाने लगा। इसी प्रदेश के रियाजखाँ नामक शाही फौजदार ने नवम्बर, १७०७ ई० में सिनसिनी पर आक्रमण कर वहाँ से सैकड़ों हथियार छीने और वहाँ कोई एक हजार विद्रोहियों को मारा। इसके एक वर्ष बाद रियाजखाँ ने जब कामा के जमींदार, अजीतसिंह पर आक्रमण किया तब चूड़ामन भी उसके साथ था। इस युद्ध में रियाजखाँ मारा गया और चूड़ामन घायल हुआ। आगामी चार वर्षों तक ब्रज प्रदेश में बहुत कुछ शांति बनी रही। जून, १७१० ई० में बहादुरशाह सिक्खों के विद्रोह को दबाने पंजाब के लिए रवाना हुआ, चूड़ामन भी अजमेर में ही शाही सेना में सम्मिलित हो गया और पंजाब में सिक्खों के विरुद्ध भी वह लड़ा।

चूड़ामन की शक्ति का प्रसार—बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जहाँदरशाह मुगल सम्राट् बना (मार्च, १७१२ ई०)। वह लाहौर से दिल्ली लौट आया और वहीं रंगरेलियों में अपने दिन बिताने लगा । चूड़ामन जाट भी ब्रज प्रदेश को लौट गया। इन पिछले वर्षों में उसने अपनी स्थिति बहुत ही सुदृढ़ कर ली थी। यमुना के पश्चिमी तट के ब्रज प्रदेश के भाग का वह बेताज का राजा बन गया था। मुगल-शासन की निर्बलता एवं अव्यवस्था के कारण ही वहाँ की सारी हिंदू जनता का वह एकमात्र नेता बन सका। पंजाब से लौट कर उसने अपनी सत्ता और भी बढ़ा ली। अतएव अपने विद्रोही भतीजे फर्रुखसियर का सामना करने के लिए जब जहाँदरशाह आगरा पहुँचा तब अपनी सहायतार्थ उसने चूड़ामन को ससैन्य आगरा बुलवाया। चूड़ामन जहाँदरशाह की सेना में सम्मिलित अवश्य हो गया, किंतु युद्ध के दिन उसने जहाँदरशाह का साथ नहीं दिया और उसने दोनों दलों को जी भर कर लूटा।

आगरा के युद्ध में जहाँदरशाह की हार हुई (दिसम्बर ३१, १७१२ ई०); उसका विद्रोही भतीजा फ़र्रुखसियर मुग़ल-सम्राट् बना। तब राजा छबीलेराम को आगरा का सूबेदार बनाया गया। उसने चूड़ामन जाट की शक्ति घटाने के अनेकों प्रयत्न किये। किंतु मुगल साम्राज्य का वजीर सय्यद अब्दुल्ला तथा उसका भाई हुसैनअली राजा छबीलेराम के शत्रु थे एवं वे परोक्ष रूप से चूड़ामन की सहायता करते रहे, जिससे छबीलेराम को सफलता नहीं मिली। छबीलेराम को शीघ्र ही आगरा की सूबेदारी से हटा कर खानदौरान को वहाँ नियुक्त किया गया। खानदौरान ने चूड़ामन से मेल करना ही ठीक समझा। समझाने-बुझाने पर चूड़ामन सितम्बर, १७१३ ई० में दिल्ली पहुँचा, जहाँ उसका ससम्मान स्वागत किया गया और दिल्ली से चम्बल तक के रास्तों की रक्षा का भार उसे सौंप दिया गया। शीघ्र ही वह दिल्ली से वापस लौटा और ब्रज पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर वह अपने इलाकों को आगे बढ़ाने लगा। अब उसने शाही कर देना भी छोड़ दिया, रास्ते से निकलने वालों से अत्यधिक कर वसूल करने लगा तथा आस-पास के जागीरदारों से भी वह छेड़छाड़ करने लगा। होडल के पास के जंगलों में थूण नामक एक सुदृढ़ गढ़ भी चूड़ामन ने अपने लिए बनवा लिया।

चूड़ामन के इस सारे व्यवहार के कारण फर्रुखसियर उससे बहुत ही अप्रसन्न हो गया और उसके विरुद्ध सेना भेजने के लिए आयोजन करने लगा। किंतु जहाँ तक आंबेर का राजा सवाई जयसिंह स्वयं तैयार नहीं हुआ वहाँ तक कोई भी दूसरा सेनापति चूड़ामन के विरुद्ध चढ़ाई करने को राजी नहीं हुआ। १७१६ ई० की बरसात के बाद सवाई जयसिंह ससैन्य थूण के किले की ओर चढ़ा और नवम्बर मास में उसे जा घेरा। किले में रह कर चूड़ामन भीतर से उसके बचाव का आयोजन कर रहा था और उसके पुत्र और भतीजे किले से बाहर ससैन्य घूम-घूम कर शाही सेना का विरोध तथा उसके लिए सब प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न करने का आयोजन करते रहे। ब्रज प्रदेश के दूसरे ज़मींदार तथा वहाँ की हिंदू प्रजा भी चूड़ामन का साथ दे रही थी। सवाई जयसिंह ने किले के घेरे का विधिवत् पूरा आयोजन किया, किंतु सारा कार्य बहुत धीरे बढ़ रहा था। मुगल सेना तथा जाटों के दलों में यदाकदा झड़पें भी हो जाती थीं। किंतु सवाई जयसिंह को विशेष सफलता नहीं मिल रही थी। वजीर सय्यद अब्दुल्ला सवाई जयसिंह का घोर विरोधी था, एवं उसे दिल्ली से आवश्यक सहायता भी नहीं मिलती थी। इसी कारण वज़ीर अब चूड़ामन का पक्ष भी लेने लगा। जनवरी, १७१८ ई० में सवाई जयसिंह ने अपनी यह

कठिनाई पत्र द्वारा फरु'खसियर के सामने रखी, किन्तु तब तक वह केवल नाममात्र का ही सम्राट् रह गया था। सारी सत्ता वजीर अब्दुल्ला और उसके भाई के ही हाथ में थी, एवं वह किसी भी प्रकार सवाई जयसिंह की सहायता नहीं कर सका। उधर चूड़ामन ने भी दिल्ली में रहने वाले अपने वकील द्वारा वजीर के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। शाही खजाने में कर के रूप में तीस लाख रुपया देना चूड़ामन ने स्वीकार किया। वजीर अब्दुल्ला को भी चूड़ामन ने निजी तौर से बीस लाख रुपये देने का वादा किया। उसकी इस प्रार्थना को स्वीकार कर अब्दुल्ला ने चूड़ामन को दिल्ली बुलवा भेजा। यह संधि हो जाने के कारण विजय प्राप्त किये बिना ही सवाई जयसिंह को थूण के किले का घेरा उठा कर वापस दिल्ली लौट जाना पड़ा (मई, १७१८ ई०)। अब चूड़ामन जाट सय्यद बन्धुओं का सशक्त समर्थक एवं कट्टर साथी बन गया। यहाँ से ब्रज प्रदेश के इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ होता है। मुगल साम्राज्य बड़ी ही तेजी के साथ अशक्त एवं छिन्न-भिन्न हो रहा था, जाटों की अर्ध-स्वतन्त्र सत्ता वहाँ स्थापित हो चुकी थी और कुछ ही समय में मरहठों के रूप में एक नवीन शक्ति ब्रज प्रदेश के राजनैतिक क्षेत्र में उठने वाली थी।

मुगल काल में ब्रज प्रदेश की दशा

जिस समय बाबर ने उत्तरी भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की उस समय भी लोदी सुलतानों के मुसलमानी राज्य की शासन-व्यवस्था में प्राचीन हिंदू राज्य-तन्त्र की अनेकानेक विशेषताएँ स्पष्टरूपेण विद्यमान थीं। गाँवों का संगठन तथा जिलों का शासन-प्रबंध भी पुराने हिंदू ढंग का ही था। सारे प्रदेश का शासन छोटे-छोटे राज्यों या अनेकानेक स्थानीय अधिकारियों के हाथ में था; स्थानीय मामलों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे। इसी कारण राजनैतिक क्रान्तियों या विदेशी आक्रमणों के समय साधारण जनता प्रधानतया अपने इन राजाओं अथवा स्थानीय अधिकारियों की ही ओर देखती थी। राजधानी में कौन सुलतान या बादशाह शासन कर रहा है, इसकी उन्हें कुछ भी चिंता नहीं रहती थी। बाबर ने अफगान सरदारों को अधिकार-च्युत किया, परंतु उसने पुरानी शासन-व्यवस्था या राजकीय संगठन में कोई भी परिवर्तन नहीं किये। माली बंदोबस्त भी पहले का-सा ही चलता रहा। हुमायूँ को अवसर ही नहीं मिला कि वह मुगल राज्य के इस शासन-संगठन में कोई विशेष परिवर्तन कर सके।

शेरशाह ने शासन-संगठन में अनेकानेक सुधार किये, तथापि सूबों, परगनों आदि के विभाजन में कोई बड़े फेर-फार नहीं किये जा सके। ब्रज प्रदेश प्रधानतया आगरा के सूबे के अंतर्गत था; उसका कुछ उत्तरी भाग अवश्य दिल्ली सूबे के अंतर्गत पड़ता था। आगरा सूबे में ब्रज प्रदेश का बहुत-सा भाग मेवात और बयाना की जागीरों में बँट जाता था तथा ग्वालियर के पुराने शासक तंवर घराने के अधिकार में था। शेरशाह के उत्तराधिकारियों को अपनी सत्ता बनाये रखने में भी कठिनाई हो रही थी; फिर वे किस प्रकार शासन-संगठन में सुधार कर पाते? ब्रज प्रदेश में १५५३ ई० में इस्लाम शाह की मृत्यु के साथ ही सूर-शासन का अन्त हो गया। तब से लेकर १५५६ ई० के अंतिम महीनों तक सर्वत्र घोर अराजकता रही।

अपने शासन-काल के प्रारंभ में अकबर ने कोई सुधार नहीं किये। सारा ब्रज प्रदेश तब भी बड़े अमीरों या हिंदू जमीदारों में बँटा हुआ था। किंतु सन् १५७३-४ ई० में जब अकबर ने जागीरों की जमीनों को भरसक खालसा बनाने की नीति ब्रज में लागू की, तब इस प्रदेश के पुराने राजनैतिक ढाँचे में परिवर्तन होने लगे। यद्यपि कोई पाँच वर्ष बाद यह नीति बहुत-कुछ त्याग दी गई, परंतु ये परिवर्तन स्थायी हो गये। १५८० ई० में विभिन्न प्रान्तों का विभाजन एवं उनके शासन का संगठन नये सिरे से किया गया, जिसके फलस्वरूप उत्तर-पश्चिम में पलवल-जेवर के आस-पास के कुछ उत्तरी भाग को छोड़ते हुए सारा ब्रज प्रदेश आगरा के सूबे में ही पड़ता था। दिल्ली के सूबे में पड़ने वाला ब्रज प्रदेश का भाग दिल्ली सरकार में ही था और वह पलवल, झज्झर, जेवर आदि महाल अथवा परगनों में बँटा हुआ था। आगरा के सूबे में ब्रज का प्रधान भाग आगरा, कोइल और सहार की सरकारों में पड़ता था। आगरा सरकार में ३३, कोइल में २१ और सहार में ७ महल अथवा परगने थे। ब्रज प्रदेश का उत्तर-पश्चिमी भाग, जो मेवात से मिला हुआ है, तिजारा की सरकार के अन्तर्गत था। दक्षिण-पश्चिम का भाग मण्डलैर सरकार के उत्तरी भाग में पड़ता था। दक्षिण में ग्वालियर सरकार थी, जिसमें ब्रज प्रदेश के ग्वालियर, आलापुर आदि परगने थे। ब्रज प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग कनौज सरकार में पड़ता था, जिसमें पटियाली, सकेत, सहावर, सिकन्दरपुर-अत्रंजी आदि महाल उल्लेखनीय थे।

यह प्रान्त-विभाजन एवं शासन-व्यवस्था प्रायः सारे मुगल-काल में चलती रही। उसमें यदा-कदा ही यत्किंचित् परिवर्तन किये गये। १८ वीं

शताब्दी के प्रारम्भ में तिजारा की सरकार आगरा के सूबे में सम्मिलित कर दी गई थी। अकबर के शासन-काल के महाल बाद में परगने कहलाने लगे थे। विभिन्न परगनों को भी एक सरकार में से दूसरी में कभी-कभी बदली हुआ करती थी। १७२० ई० में कोइल में केवल १३ परगने ही रह गये। इसके विपरीत आगरा में तब १५ परगने और जोड़ दिये गये थे। पुराने परगनों में से काट-छाँट कर आवश्यकतानुसार नये परगने भी बनाये जाते थे। १६५२ ई० में जलेसर, महाबन तथा खंडौली परगनों के पड़ोसी गाँवों को सम्मिलित कर कोइल सरकार के अंतर्गत सादाबाद नामक एक नया परगना बनाया गया था।

आर्थिक स्थिति—ब्रज प्रदेश की आर्थिक दशा बहुत-कुछ राजनैतिक परिस्थिति पर ही निर्भर रहती थी। जब कभी उपद्रव उठ खड़े होते या अराजकता फैलती थी, तब उन भागों में खेती-बाड़ी या व्यापार का चलना अवरुद्ध हो जाता था। जाटों के निरंतर उपद्रवों तथा ब्रज प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर चूड़ामन जाट का आधिपत्य हो जाने के कारण आगरा सरकार की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। १५९४ ई० में इस सरकार के अन्तर्गत ३५ महाल (अथवा परगने) थे, जिनमें नापी हुई धरती ९,१०,०७,३२४ बीघा थी और उससे 'आइन-इ-अकबरी' के अनुसार कोई ४७,९५,४८१ रु० की आय होती थी। १७२० ई० में इसी सरकार के अंतर्गत ४८ परगने हो गये थे, फिर भी नापी हुई धरती केवल २,००,९७,४७३ बीघा रह गई और आमदनी भी बहुत-कुछ घट गई। किंतु जाटों के इस विद्रोह का गंगा-यमुना के दोआब पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। मुगल-काल के इन पिछले वर्षों में भी वहाँ की शांति यथावत् बनी रही। यद्यपि १७२० ई० में कोइल सरकार के अंतर्गत परगनों की संख्या २१ से घट कर केवल १३ ही रह गई थी तो भी उस सरकार की नापी हुई धरती का क्षेत्रफल २४,६१,७३०, से बढ़ कर २६,९९,३१० बीघा हो गया था। इस सरकार की आमदनी में अवश्य कुछ कमी हो गई थी। १५९४ ई० में वह १३,७४,८२३ रु० थी, पर अब वह घट कर ११,१४,२३९रु० रह गई।

मुगल-काल में ब्रज प्रदेश में काफी घने जङ्गल थे। मथुरा और आगरा नगरों के आस-पास भी बाघ बहुतायत से मिलते थे। ब्रज की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर धौलपुर के जङ्गलों में कई बार जङ्गली हाथी भी मिले थे। १५६५ ई० में अकबर हाथियों के शिकार के लिए वहाँ गया था।

ग्वालियर सरकार में लोहे की खानें थीं और फतहपुर सीकरी में लाल पत्थर बहुतायत से निकलता था। टोड़ा-भीम में वैदूर्य की खान थी और थोड़ा-बहुत तांबा भी निकलता था।

मुगल काल के पूर्वार्ध में बयाना एक प्रसिद्ध शहर था। वहाँ के आम और खरबूजे बहुत प्रसिद्ध थे। बयाना की नील की मांग युरोप तक में होती थी। यहाँ की मेंहदी भी एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु थी। बयाना में बहुत ही उजले रंग की सफेद शक्कर भी बनती थी। फतहपुर सीकरी में अच्छे बड़े कालीन बुने जाते थे और आगरा में बहुत ही सुन्दर जरी का काम होता था। आगरा और बयाना व्यापार के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। मुगल साम्राज्य की राजधानी बन जाने से मुगल काल के पूर्वार्ध में आगरा की समृद्धि आशातीत बढ़ गई थी। किंतु सन् १६४८ ई० के बाद परिस्थिति बदल गई। अब आगरा का महत्व घटने लगा और उसकी समृद्धि तथा व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा। औरङ्गजेब की धर्मान्धता तथा जाटों के प्राबल्य के कारण कुछ काल के लिए कला-कौशल की प्रगति रुक गई। जाटों के पूर्ण आधिपत्य की स्थापना के बाद ही कला-कौशल का ब्रज प्रदेश में विकास हो सका।

मथुरा का तत्कालीन लेखकों तथा यात्रियों द्वारा वर्णन

अबुलफ़ज़ल— आगरा सूबे के प्रमुख स्थानों का वर्णन करते हुए 'आइन-इ-अकबरी' में अबुलफजल लिखता है—"मथुरा शहर यमुना के किनारे बसा हुआ है। यहाँ कुछ सुन्दर मंदिर हैं। यह हिंदुओं का बहुत ही प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।"

सुजानराय खत्री—अबुलफजल से कोई सौ वर्ष बाद 'खुला-सात्-उत्-तवारीख' में मथुरा के बारे में सुजानराय खत्री ने लिखा—"यमुना के तट पर मथुरा एक बहुत ही पुराना शहर है। यह श्रीकृष्ण का जन्मस्थान है। हिंदुओं की पुस्तकों में इसका उल्लेख बड़े ही आदर के साथ किया जाता है। स्थापना के समय से ही यह शहर तीर्थस्थान रहा है। आधुनिक समय में मथुरा का केशवराय मंदिर बहुत ही प्रसिद्ध था, किंतु बादशाह औरङ्गजेब की आज्ञा से उसको तोड़-फोड़ डाला गया और वहाँ (उसके स्थान पर) एक मसजिद बनवा दी गई। शाही फौजदार अब्दुन्नबीखाँ ने यमुना नदी के तट पर एक सुन्दर घाट बनवा कर उस शहर की शोभा तथा वहाँ के निवासियों की सुविधा बढ़ा दी है। यह स्थान अब 'विश्रान्त' कहलाता है। शहर के बीचों-बीच एक ऊँची मसजिद बनवा कर भी उसने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है।"

मुग़ल काल में मथुरा एक प्रमुख हिंदू तीर्थस्थान था। वहाँ का वर्णन करते समय हिंदुओं के पवित्र स्थानों तथा मंदिरों का विवरण देना पड़ता। यही कारण है कि तत्कालीन मुसलमान लेखकों ने मथुरा का कहीं भी सविस्तार वर्णन नहीं लिखा। हाँ, उन दिनों भारत आने वाले युरोपीय यात्रियों के विवरणों में मथुरा तथा वहाँ के मंदिरों का यदा-कदा वर्णन अवश्य पाया जाता है।

बरनियर तथा मनूची—बरनियर ने जुलाई १, १६६३ ई० को लिखा—"प्राचीन मूर्तियों का भव्य मंदिर अब भी मथुरा में है।" संभवतः बरनियर का संकेत वीरसिंह बुंदेला-निर्मित केशवराय के मंदिर की ओर था। औरङ्गजेब द्वारा नष्ट किये मंदिरों का उल्लेख करते हुए सुप्रसिद्ध इटालियन यात्री मनूची ने केशवराय के मंदिर के बारे में लिखा है—"इस बड़े मंदिर का सुवर्ण-मण्डित शृङ्ग इतना ऊँचा था कि अठारह कोस की दूरी पर स्थित आगरा से भी दिखाई पड़ता था।"[७]

टैवरनियर—किंतु मथुरा के इस सुप्रसिद्ध मंदिर का विस्तृत वर्णन फ्रेंच यात्री टैवरनियर ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है। वह बहुत ही मनोरंजक है। उसका पूरा अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"जगन्नाथ और बनारस के मंदिरों के बाद मथुरा का मंदिर सबसे अधिक विख्यात है। यह आगरा से लगभग १८ कोस की दूरी पर दिल्ली जाने वाली सड़क पर स्थित है। यह मंदिर भारत भर में अत्यंत उत्कृष्ट मंदिरों में से एक है। किसी समय इस स्थान में सबसे अधिक यात्री आते थे, पर अब उनकी संख्या कम हो गई है। इसका कारण यह है कि पहले येमेना (यमुना) नदी मंदिर के बिलकुल समीप से बहती थी, परंतु अब उसकी धारा लगभग आधा कोस दूर हट गई है।[८] यमुना में स्नान करने के अनंतर मंदिर तक पहुँचने में यात्रियों को अब काफी समय लग जाता है और रास्ते में उन्हें अपवित्र हो जाने का डर रहता है।

"यह मंदिर इतना विशाल है कि यद्यपि वह नीची जगह में अवस्थित है तो भी ५-६ कोस की दूरी से दिखाई पड़ता है। मंदिर की इमारत बहुत ही ऊँची एवं भव्य है। उसमें जो पत्थर इस्तेमाल किया गया है वह लाल

---

७. देखिए ग्राउज़—मेम्वायर, पृ० ११८।

८. यात्री का यह कथन इस बात का सूचक है कि यमुना की धारा नगर के पूर्व की ओर को हटती रही है।

रंग का है और आगरा के समीप एक बड़ी खान से लाया गया है......।

"मंदिर एक बड़े अठपहलू चबूतरे के ऊपर बना है। चबूतरे के चारों ओर की दीवारों पर कामदार पत्थर लगे हैं और चौतरफा दो पंक्तियों में अनेक तरह के जानवरों—विशेषकर बंदरों—की मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। पहली पंक्ति ज़मीन की सतह से दो फुट ऊपर है और दूसरी ऊपर की सतह से दो फुट नीचे है। इस चबूतरे पर चढ़ने के लिए १५–१६ सीढ़ियों के दो जीने बने हैं। सीढ़ियों की लंबाई २–२ फुट है, जिससे दो आदमी एक साथ ऊपर नहीं चढ़ सकते। एक ओर के जीने से चढ़ने पर मंदिर के मुख्य द्वार के सामने पहुँचते हैं और दूसरे से चढ़ने पर मंडप के पीछे जा पहुँचते हैं।

"मंदिर चबूतरे के आधे भाग के ऊपर बना है। शेष आधा भाग मंदिर के सामने एक विस्तृत चौक के रूप में खुला है। अन्य मंदिरों की तरह यह भी एक क्रुश (Cross) के रूप में है। इसके बीच के भाग पर एक बहुत ही ऊँचा शिखर है, जिसके दोनों ओर एक-एक छोटा शिखर है। इमारत का सारा बाहरी भाग नीचे से ऊपर तक मेढ़ा, बंदर, हाथी आदि जानवरों की प्रस्तर मूर्तियों से अलंकृत है। चारों ओर आले ही आले दिखाई पड़ते हैं, जिनमें विभिन्न दानवों[१] की प्रतिमाएँ हैं। तीनों शिखरों में नीचे से लेकर ऊपर तक जगह-जगह ५-६ फुट ऊँची खिड़कियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक के सामने इतने चौड़े छज्जे लगे हैं कि उन पर चार व्यक्ति बैठ सकते हैं। प्रत्येक छज्जे के ऊपर एक छोटा चँदोआ बना है। छज्जों को थामने के लिए उनके नीचे ४-४ या ८-८ जोड़ीदार खंभे एक-दूसरे को छूते हुए लगाये गये हैं। शिखरों के चारों ओर भी आले बने हैं, जिनमें दानवों की मूर्तियाँ भरी हैं। एक दानव के चार हाथ हैं, दूसरे के चार पैर हैं। कुछ मानवों के सिर पशुओं के ऊपर प्रदर्शित हैं। ये पशु सींगों वाले हैं और उनकी लंबी पूँछें उनकी टाँगों में लिपटी हुई हैं। बंदरों की तो बेशुमार मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार दानवों के भारी दल का दृश्य देखने वाले को हैरान कर देता है!

"मंदिर में प्रवेश करने के लिए केवल एक ही द्वार है, जो बहुत ही ऊँचा है। उसमें बहुत से खंभे लगे हैं और दोनों ओर जानवरों तथा मानवों की कितनी ही प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के भीतरी भाग में चारों ओर ५-६ इंच

---

१. ये वास्तव में अलंकरण रूप में बनाई गई देवी-देवताओं और पशुओं की प्रतिमाएँ थीं, जिन्हें टैवरनियर ने कई जगह अज्ञान-वश दानव कहा है। ऐसी अनेक मूर्तियाँ १९५३–५४ में जन्मस्थान की सफाई करते समय निकली हैं।

व्यास वाले पत्थर के खंभों की एक पूरी जाली बनी है । उसके अंदर मुख्य ब्राह्मण पुजारियों को छोड़ कोई नहीं जा सकता । ये पुजारी किसी गुप्त द्वार से भीतर पहुंचते हैं, जिसे मैं नहीं देख सका।

"जब मैं मंदिर में गया और कुछ ब्राह्मणों से पूछा कि क्या मैं बड़े "रामराम" (बड़ी मूर्ति) को देख सकता हूँ तो उन्होंने जवाब दिया कि कुछ मिलने पर वे अपने प्रधान अधिकारी से अनुमति प्राप्त कर सकते हैं । मैंने उन्हें कुछ रुपये दिये और वे अनुमति ले आये । लगभग आध घंटे के बाद ब्राह्मणों ने जालीदार घेरे के बीच का एक भीतरी दरवाजा खोला। यह घेरा अन्य सब तरफ से बंद था ।

"दरवाजे से मैंने भीतर की ओर देखा कि कोई १५-१६ फुट की दूरी पर एक चौकोर चौकी थी, जिस पर सोने-चाँदी के काम वाला पुराना वस्त्र बिछा था और उसके ऊपर बड़ी मूर्ति थी, जिसे 'रामराम' कहते थे। इस मूर्ति का केवल सिर दिखलाई पड़ता था, जो बड़े काले संगमरमर का बना था और जिसमें आँखों की जगह दो लाल मणि जड़ी हुई थीं । गरदन से लेकर पैरों तक मूर्ति का सारा शरीर कढ़े हुए लाल मखमली कपड़े से ढका था। मूर्ति के हाथ नहीं दिखाई पड़ते थे। बड़ी मूर्ति के दोनों ओर एक-एक और मूर्ति थी, जो ऊँचाई में लगभग दो फुट की थी। उनकी बनावट बड़ी मूर्ति-जैसी ही थी, केवल भेद इतना था कि उन दोनों के चेहरे सफेद थे । इन दोनों मूर्तियों को 'बेच्छोर'[१०] कहते थे।

"मैंने मंदिर में १५-१६ फुट की एक चौकोर वस्तु और देखी, जो ऊँचाई में १२ से १५ फुट तक होगी। यह एक रंगीन वस्त्र से ढँकी थी, जिस पर सभी प्रकार के दानवों के चित्र बने थे । इसे चार छोटे पहियों के ऊपर खड़ा किया गया था। लोगों ने मुझे बताया कि यह चल सकने वाली वस्तु है,[११] जिस पर बड़े पर्वों के अवसरों पर बड़े देवता को सवार कराते हैं और उसे अन्य देवताओं से मिलने के लिए ले जाते हैं। मुख्य उत्सवों पर इसे मूर्ति-सहित लोगों के समुदाय के साथ-साथ नदी तक ले जाते हैं ।"

---

१०. शायद 'बलदेव' की मूर्ति से अभिप्राय है ।

११. यह वास्तव में रथ था, जिस पर विशेष अवसरों पर प्रधान मूर्ति को बैठाकर बाहर ले जाते थे । वृन्दावन के रंगजी के मंदिर में यह 'रथोत्सव' अब भी धूमधाम से मनाया जाता है।

अध्याय १२

जाट-मरहठा-काल

[१७१८—१८०३ ई०]

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि मुगल-काल में किस प्रकार जाटों का उत्थान हुआ और धीरे-धीरे किस प्रकार उन्होंने अधिकांश ब्रज प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। फर्रुखसियर के बाद मुहम्मदशाह मुगल सम्राट् हुआ (१७२० ई०)। उसके शासन-काल के आरंभ में सय्यद भाइयों का बोलबाला रहा, परंतु बाद में मुहम्मदशाह ने उनकी शक्ति को कुचल दिया। चूड़ामन जाट इस समय ब्रज प्रदेश का बेताज का राजा था। उसने मुहम्मदशाह के प्रति सहयोग की भावना प्रदर्शित की और जाटों को मुगल साम्राज्य का सहायक घोषित किया। सय्यद भाइयों से भी उसने दोस्ती जोड़ी। परन्तु मौका पड़ने पर वह शाही मालमत्ता को लूटने से न चूकता था। जब जोधपुर के राजा अजीतसिंह के खिलाफ शाही फौज भेजी गई तब चूड़ामन ने फौज के बढ़ने में अनेक रुकावटें डालीं। उसने इलाहाबाद के मुस्लिम सूबेदार मुहम्मदखाँ बंगश के खिलाफ बुंदेलों को भी मदद दी। बुंदेलों का सरदार छत्रसाल कुछ समय में ही वहाँ का शक्तिशाली शासक बन गया।

जाट-मुगल संघर्ष—इस समय सआदतखाँ आगरा का सूबेदार था। उसने नीलकंठ नागर को जाटों पर हमला करने और उन्हें दंड देने के लिए भेजा। नीलकंठ ने फतहपुर सीकरी के पास दस हजार घुड़सवारों तथा एक बड़ी पैदल सेना को जुटाया। फिर जाटों के एक गाँव पर उसने हमला बोल दिया (२६ सितंबर १७२१ ई०)। परन्तु इसके बाद ही चूड़ामन के बड़े लड़के मोहकमसिंह ने ५—६ हजार लोगों के साथ मिलकर शाही सेना का मुकाबला किया। लड़ाई में नीलकंठ मारा गया और उसके बहुत-से सिपाही भाग गये। बाकी लोग बंदी बना लिये गये।

चूड़ामन की मृत्यु—१७२१ ई० में चूड़ामन का देहान्त हो गया। कहते हैं कि उसके बेटों में आपस में झगड़ा शुरू हो गया था और जब चूड़ामन झगड़े को दूर करने में सफल न हुआ तो उसने आत्म-हत्या कर ली। चूड़ामन

के भतीजे बदनसिंह ने मुगल शासक सम्रादतखाँ से मेल कर लिया। परंतु शीघ्र ही सम्रादतखाँ को आगरा की सूबेदारी से हटा दिया गया और उसके स्थान पर राजा जयसिंह को सूबेदार बनाया गया। उसने जाटों पर हमला करने के लिए एक बड़ी फौज तैयार की। ओरछा के राजा ने भी उसे सहायता दी। जयसिंह ने लगभग पंद्रह हजार घुड़सवारों सहित १७२२ ई० में जाटों के गढ़ थूण की ओर प्रस्थान किया। उसने जंगलों को कटवा कर साफ कराया। लगभग डेढ़ महीने तक जयसिंह थूण का घेरा डाले पड़ा रहा। जाटों तथा शाही सेना के बीच छिटपुट हमले होते रहे।

थूण किले की विजय—इस बीच बदनसिंह राजा जयसिंह से मिल गया था। उसके द्वारा भेद मिल जाने से जाटों के दो किले हाथ से निकल गये। उन्हें अब निराशा होने लगी। चूड़ामन का लड़का मोहकम, जो अब तक विरोधियों का मुकाबला कर रहा था, रात में किले से निकल भागा। १८ नवंबर, १७२२ ई० को जयसिंह ने थूण का किला जीत लिया। उसने किले के भीतर चूड़ामन के खजाने की बड़ी तलाश करवाई। अनेक घरों को खुदवा डाला गया, पर खजाना न निकला! मोहकमसिंह जोधपुर भाग गया और वहाँ के राजा अजीतसिंह के यहाँ शरण ली। यद्यपि उसने बाद में ब्रज प्रदेश पर अधिकार पाने का बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहा। थूण-विजय से जयसिंह का सम्मान बढ़ा और उसे 'राजराजेश्वर श्री राजाधिराज महाराज जयसिंह सवाई' का विरुद प्राप्त हुआ। बदनसिंह को जाटों का नया सरदार स्वीकार कर लिया गया।

मरहठा शक्ति का अभ्युदय—दक्षिण में इस समय मरहठे अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। वे अपना एक महान् साम्राज्य बनाने का स्वप्न देख रहे थे। १७२० ई० में बाजीराव मरहठों का पेशवा हुआ। उसने हिलते हुए मुगल साम्राज्य को नष्ट कर उसकी नींव पर नवीन मरहठा-साम्राज्य स्थापित करने की योजना बनाई। बाजीराव ने एक नई सेना का संगठन किया और उसका नेतृत्व उत्साही वीरों को सौंपा। पहले दक्षिण के अनेक किले जीते गये और हैदराबाद के निजाम से मुठभेड़ें हुईं। मालवा के किसान और जमींदार मुगल-शासन के जुल्मों से बहुत पीड़ित थे। उन्होंने बाजीराव से सहायता माँगी। १७२४ ई० में बाजीराव ने नर्मदा पार कर मालवा में प्रवेश किया। सवाई राजा जयसिंह भी चाहता था कि मरहठे मालवा की जनता के कष्ट दूर करें। उसने तथा अन्य राजपूत राजाओं ने इस कार्य में बाजीराव की सहायता

की। मुहम्मदखाँ बंगश को मरहठों का मुकाबला करने के लिए मालवा भेजा गया और उसने कुछ समय तक उनसे लोहा लिया। परंतु सीमित साधनों के कारण मरहठों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना बंगश के लिए असंभव हो गया। १७३५ ई० तक मरहठे मालवा के बहुत आगे ग्वालियर तक बढ़ आये। अगले वर्ष मुगल शासन की ओर से राजा जयसिंह ने बाजीराव के साथ धौलपुर में एक संधि की। इसके अनुसार बाजीराव को मालवा का नायब सूबेदार स्वीकार कर लिया गया। इसके बदले में बाजीराव ने वचन दिया कि वह भविष्य में मुगल साम्राज्य पर हमले न करेगा। परन्तु यह संधि अधिक दिन तक कायम न रही और शीघ्र ही बाजीराव ने दिल्ली तक धावा बोल दिया तथा मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

बाजीराव द्वारा छत्रसाल की सहायता—बुंदेलखंड में अठारहवीं शती के आरम्भ में राजा छत्रसाल का प्रभुत्व था। मुगलों से वर्षों तक उसकी कशमकश चलती रही। बाद में कुछ समय तक उसने मुगल-शासन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। परन्तु फरुखसियर के बाद फिर अनबन शुरू हो गई। इलाहाबाद का सूबेदार मुहम्मदखां बंगश बुंदेलखंड में कई साल तक बुंदेलों को दबाने के लिए पड़ा रहा। परंतु छत्रसाल ने मरहठों की सहायता से उसे जैतपुर में घेर कर परेशान कर डाला। १७२६ ई० में बंगश को छुटकारा मिला और वह इलाहाबाद लौट गया। इसके बाद उसनें बुंदेलखंड की ओर जाने का नाम नहीं लिया। १७३१ ई० के अंत में छत्रसाल का पन्ना में ८२ वर्ष की अवस्था में देहांत हुआ। उसकी मृत्यु के समय बुंदेलखंड का आधा पूर्वी भाग चंदेलों के अधिकार में था। इसे छत्रसाल ने अपने दो लड़कों तथा बाजीराव[1] के बीच बाँट दिया।

मरहठों का दोआब तथा दिल्ली पर हमला—१७३७ ई० में मरहठे उत्तरी भारत तक बढ़ आये। बाजीराव आगरा के दक्षिण भदावर प्रदेश में आया। यहाँ से उसके एक दल ने दोआब पर आक्रमण किया तथा शिकोहाबाद, जलेसर आदि को लूटा। मुहम्मदशाह ने दिल्ली से खानदौरान, बंगश तथा सआदतखां—इन तीन सेनापतियों की अध्यक्षता में फौज भेजी, ताकि मरहठों को आगे बढ़ने से रोका जाय। ये तीनों ससैन्य मथुरा में जमा हुए। कुछ फौज रेवाड़ी की ओर भी भेजी गई। बाजीराव चंबल पार कर आगे बढ़ा

---

१. छत्रसाल बाजीराव को अपने पुत्र के समान ही मानता था।

और मुगल सेनाओं को पीछे छोड़कर वह शीघ्रता से दिल्ली जा पहुँचा (६ अप्रैल, १७३७ ई०)। मुहम्मदशाह ने भयभीत हो उससे संधि की चर्चा शुरू कर दी। इसी बीच मुगलों की एक फौज ने बाजीराव की सेना पर हमला किया, परन्तु वह बुरी तरह पराजित हुई। अन्य मुगल सेनाएं भी आ पहुँचीं। इस पर बाजीराव अजमेर की ओर चला गया और वहाँ से फिर ग्वालियर पहुँचा। कुछ कारणों से उसे शीघ्र ही दक्षिण लौट जाना पड़ा।

दिल्ली में अब यह तय किया गया कि निजाम आसफजाह को वजीर बनाया जाय और उसे मरहठों को रोकने का काम सौंपा जाया। आगरा की सूबेदारी जयसिंह से छीनकर निजाम के लड़के गाजिउद्दीन को सौंप दी गई। निजाम ने बड़ा प्रयत्न किया कि बाजीराव अब नर्मदा के उत्तर में न आने पावे, पर वह इसमें सफल न हुआ। बाजीराव शीघ्र ही नर्मदा पार पहुँच गया और उसकी मुठभेड़ निजाम की फौज से हो गई। निजाम बुरी तरह घिर गया और उसने संधि की प्रार्थना की। अंत में उसे यह तय होने पर छुटकारा मिला कि चम्बल से लेकर नर्मदा तक के भूभाग पर मरहठा-आधिपत्य स्वीकार किया जायगा तथा बाजीराव को ५० लाख की चौथ दी जायगी।

नादिरशाह का आक्रमण—मुहम्मदशाह अयोग्य और विलासी शासक था। उसके मंत्री तथा अन्य बड़े कर्मचारी भी प्रायः निकम्मे थे। दरबारियों तथा दूसरे पदाधिकारियों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष तथा विलासिता बढ़ रही थी, जिससे शासन में अनेक दोषों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसका लाभ उठाकर विभिन्न प्रदेशों के शासक स्वतंत्र हो रहे थे। अवध, इलाहाबाद, उड़ीसा, बंगाल आदि ऐसे ही सूबे थे। मरहठों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और वे चारों ओर दूर-दूर तक आक्रमण करने लगे थे। अन्य अनेक हिंदू शासक भी स्वतंत्र या अर्धस्वतंत्र थे। जनता का एक बड़ा भाग शासन की अव्यवस्था से ऊब गया था।

ऐसी दशा में नादिरशाह का भीषण आक्रमण भारत पर हुआ। नादिर अपनी बहादुरी और चालाकी से ईरान का बादशाह बन गया था। अफगानिस्तान जीतने के बाद वह आगे बढ़ा और पेशावर तथा लाहोर को फतह कर १७३९ ई० में वह करनाल आ पहुंचा। मुहम्मदशाह ने सआदतखां के साथ एक फौज नादिर को रोकने के लिए भेजी। बादशाह को राजपूत राजाओं तथा मरहठों से आवश्यक सहायता प्राप्त न हो सकी। करनाल में भयंकर

युद्ध हुआ (१३ जुलाई, १७३९), जिसमें दिल्ली की फौज हार गई और अनेक बड़े योद्धा तथा कई हजार हिंदुस्तानी सिपाही काम आये । ईरानी भी बहुत मारे गये । इस विजय से नादिर के हाथ लूट का बहुत माल लगा। मुहम्मदशाह ने उसके साथ संधि की बात शुरू की, परन्तु इसी बीच वह कैद कर लिया गया । विजेता ने बीस करोड़ रुपया तथा २०,००० घुड़सवार प्राप्ति की माँग की !

नादिरशाह मुहम्मदशाह के साथ दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने कत्ले आम का हुक्म दिया। केवल एक दिन में बीस हजार से अधिक आदमी मारे गये। नादिरशाह दिल्ली में लगभग दो मास तक रहा और अमीरों से जबर्दस्ती रुपया वसूलता रहा। प्रजा को इस बीच महान् कष्ट हुए । दिल्ली से यह लुटेरा १५ करोड़ रुपये नकद तथा लगभग ५० करोड़ के जवाहरात लेकर ईरान लौटा ! इतना ही नहीं, मुहम्मदशाह ने उसे सिंध नदी के परली पार का सारा इलाका भी सौंप दिया। नादिरशाह के लौटने के काफी समय बाद तक दिल्ली की दशा बड़ी शोचनीय रही। जनता में भय की भावना समा गई। मार्गों में लूट-मार की घटनाएँ आये दिन होने लगीं तथा मुगल साम्राज्य की रही-सही प्रतिष्ठा समाप्तप्राय हो गई ।

ब्रज में नादिरशाही अत्याचार— नादिरशाह के आक्रमण का प्रभाव ब्रज पर भी पड़ा। उसके सिपाही मथुरा-वृन्दावन तक पहुँचे थे, जहाँ उन्होंने जबर्दस्ती धन वसूल किया। उस समय ब्रज-भाषा के प्रसिद्ध कवि घन आनंद वृन्दावन में रहते थे। वे पहले दिल्ली में मुहम्मदशाह के मीर-मुंशी रह चुके थे; बाद में कुछ अनबन हो जाने के कारण वे वृन्दावन चले आये थे और यहां एक विरक्त का जीवन बिता रहे थे। नादिरशाह के लुटेरे सिपाहियों ने यह समझकर कि उनके पास काफी धन होगा उन्हें सताया और उनसे जर (रुपया) मांगा। भक्त कवि के पास अब रुपया कहाँ था ? कहते हैं कि जर के स्थान पर उन्होंने सिपाहियों को ब्रज की रज देनी चाही, जिस पर सिपाही बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने घन आनंद का हाथ काट डाला, जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई। चाचा वृन्दावनदास आदि की रचनाओं में वृन्दावन में किये गये नादिरशाही अत्याचारों का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि मुहम्मदशाह अगले नौ वर्ष (१७४८ ई०) तक बादशाह रहा, परन्तु वह शासन की दशा को न बिगड़ती हुई

सुधार सका। प्रांतों के सूबेदार तथा बड़े सरदार निरंकुश और स्वतंत्र होने लगे। प्रजा पर अत्याचार बढ़ने लगे। भारत का उत्तर-पश्चिमी इलाका विदेशियों के हाथ चला जाना इस देश के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। अब उस ओर से बाहरी आक्रांताओं के लिए मार्ग खुल गया। किसी भी समय खैबर दर्रे की ओर से अब दिल्ली पर हमला हो सकता था, पंजाब की रक्षा-पंक्ति नष्ट हो चुकी थी, अतः वहां प्रतिरोध की कोई संभावना न थी। अगले कुछ वर्ष बाद ही अहमदशाह अब्दाली का भारत पर दुर्दांत आक्रमण हुआ, जिससे मरहठों की बढ़ती हुई शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा और देश पर एक शक्तिशाली भारतीय साम्राज्य स्थापित करने की आशा दूर हो गई।

पंचाल प्रदेश में पठानों का अधिकार—१७ वीं शती के अंत तक प्राचीन पंचाल जनपद में अफगानिस्तान से आये हुई कई पठान वंश २ आबाद हो गये थे। ये लोग 'रुहेले' नाम से प्रसिद्ध हुए। आंवला (जि० बरेली) इनका केंद्र हुआ और संभल का इलाका रुहेलखंड कहलाया। १८ वीं शती के पूर्वार्ध में अलीमुहम्मद यहां का शासक हुआ (१७२१ ई०)। यह जाट था, जो मुसलमान बना लिया गया था। इसके समय में रुहेला-राज्य का विस्तार बहुत बढ़ा। नादिर के आक्रमण के बाद अली ने अपने को पूर्ण स्वतंत्र कर लिया। धीरे-धीरे वर्तमान बरेली, मुरादाबाद, बदायूं तथा पीलीभीत जिले रुहेलों के अधिकार में आ गये। इतना ही नहीं, कुमायूं का एक बड़ा भाग भी उनके कब्जे में चला गया।

पठानों का दूसरा केंद्र शाहजहाँपुर जिला था, जिसमें उनके ५२ कुटुम्ब रहते थे। तीसरा केंद्र फर्रुखाबाद था, जहाँ मुहम्मदखां बंगश का आधिपत्य था। इसके समय में पूरा फर्रुखाबाद जिला, कानपुर का पश्चिमी आधा भाग, मैनपुरी, एटा, बदायूं के दो परगने तथा शाहजहाँपुर, इटावा और अलीगढ़ जिलों के भाग इसके अधीन थे। इस के राज्य का विस्तार लग भग ७,५०० वर्गमील था। वह इलाहाबाद सूबे का सूबेदार नियुक्त किया गया था। जाटों और बुंदेलों के साथ उसकी मुठभेड़ें होती रहीं। मुहम्मदखां बड़ा कामी था; उसके अंतःपुर में २,६०० स्त्रियां रहती थीं।

उत्तरभारत में राजनैतिक अशांति—१७४० से लेकर १७५१ तक उत्तर भारत की राजनीति में अनेक उथल-पुथल हुए। दस साल की इस

२. पठानों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में 'पक्थन' नाम से हुआ है।

अवधि में प्रभावशाली शासकों की मृत्यु हुई। १७४० में बाजीराव का देहांत हुआ और उसका पुत्र बालाजी राव पेशवा हुआ। १७४३ में सवाई जयसिंह तथा मुहम्मदखां बंगश की मृत्यु हुई। १७४७ में नादिरशाह, ४८ में सम्राट् मुहम्मदशाह तथा निजाम और १७४९ में शाहू और जोधपुर के राजा अभयसिंह चल बसे। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह मुगल सम्राट् हुआ। वह बहुत कमजोर शासक था और उसके समय में मुगल वंश की रही-सही इज्जत भी धूल में मिल गई। इस का वजीर सफदरजंग था। १७५३ में बादशाह और वजीर के बीच झगड़ा हो गया। इंतिजामुद्दौला को नया वजीर बनाया गया। परन्तु अगले साल ही इमाद वजीर बना, जिसने अहमदशाह को कैद कर लिया और बहादुरशाह के पोते आलमगीर द्वितीय को सम्राट् बनाया।

जयपुर और जोधपुर के शासकों की मृत्यु के कारण वहाँ उत्तराधिकार के लिए झगड़े शुरू हो गये। जाटों और मरहठों ने भी इन झगड़ों में भाग लिया, जिनके कारण पारस्परिक मनमुटाव तथा अनेक लड़ाइयों का होना अनिवार्य हो गया। दक्षिण और पूर्व में अंग्रेज और फ्रांसीसी अपनी शक्ति दिन पर दिन बढ़ाते जा रहे थे। वे भारतीय शासकों के साथ संधि-विग्रह की नीति अपना कर अपना राजनैतिक स्वार्थ-साधन कर रहे थे। मरहठों ने इन विदेशियों से विवेच्य काल में अनेक बार लोहा लिया परन्तु अंत में उनकी पराजय हुई। मरहठों की इस हार से उत्तर भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया और ब्रज प्रदेश की भी स्वतंत्रता समाप्त हो गई!

बदनसिंह (१७२२-५५ ई०)—ब्रज में बदनसिंह का आधिपत्य ३३ वर्ष तक रहा। उसने मुगल सम्राट् तथा जयपुर के सवाई जयसिंह के साथ मेल बनाये रख कर जाट शक्ति को बढ़ा लिया। थूण और सिनसिनी के किलों के स्थान पर बदनसिंह ने भरतपुर, डीग तथा कुंभेर की उन्नति की। इन तीनों जगहों में प्रसिद्ध महलों और किलों आदि का निर्माण हुआ, जिनका स्थापत्य दर्शनीय है। बदनसिंह ने एक अच्छी जाट फौज का भी निर्माण कर लिया। १७५५ में उसकी मृत्यु हुई और उसका पुत्र सूरजमल जाट राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। बदनसिंह की मृत्यु के पहले से ही सूरजमल शासन में भाग लेने लगा था।

सूरजमल के समय में जाट-शक्ति का उत्थान—सूरजमल (१७५५-६३ ई०) प्रतापी शासक हुआ। उसके समय में जाटों की शक्ति

का बड़ा विस्तार हुआ। गोहद (मध्य भारत) से लेकर छाता (मथुरा जिला) तक का विस्तृत इलाका 'जाटवाड़ा' कहलाने लगा। मरहठा—कागजातों में यह नाम मिलता है। सूरजमल के समय में फर्रुखाबाद के पठानों में आपसी झगड़ा बहुत बढ़ गया। उनके एक दल ने जाटों तथा मरहठों से सहायता मांगी। इनकी सम्मिलित फौज ने पठानों को हराकर उनसे फतहगढ़ का किला छीन लिया। मरहठों ने आगे बढ़कर रुहेलों को कुमायूं की तराई में खदेड़ दिया। अंत में संधि हुई, जिसके अनुसार मरहठों को इटावा का इलाका मिला। जाटों की प्रभुता पूर्व में मैनपुरी तक स्थापित हो गई।

जयपुर और जोधपुर राज्यों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जाटों और मरहठों में अनबन हो गई थी। मरहठों ने १७४८ और १७५० में जयपुर पर चढ़ाई कर राजपूतों को अपना शत्रु बना लिया। वे इसके बाद मरहठों को बराबर संदेह की दृष्टि से देखने लगे। आवश्यकता पड़ने पर मरहठों को राजपूतों ने कोई मदद नहीं दी। सूरजमल भी मरहठों से चौकन्ना रहने लगा।

मुगलों से युद्ध—जोधपुर में उत्तराधिकार का झगड़ा होने पर मुगल सम्राट् की ओर से मीरबख्शी सलाबतखां ने अभयसिंह के भाई बख्तसिंह का पक्ष लिया। सलाबत आगरा और अजमेर के सूबों पर अपना पूरा अधिकार स्थापित करना चाहता था। इसी कारण जाटों से उसकी अनबन हो गई। मीरबख्शी जाटों से दो करोड़ रुपया मांगता था। यह रुपया न मिलने पर उसने ब्रज पर हमला बोल दिया। सूरजमल ने पाँच हजार जाटों की सहायता से उसे घेर लिया और मुगल फौज को तहस-नहस कर डाला। सलाबतखां जाटों की इस शक्ति को देख कर घबड़ा गया और उसने सन्धि करली। संधि की शर्तें इस प्रकार थीं—(१) शाही सेना पीपल के पेड़ों को न काटेगी (२) पीपल की पूजा न रोकेगी तथा (३) नारनोल के आगे मुगल सेना न बढ़ेगी। इसके बदले में सूरजमल ने वचन दिया कि वह अजमेर सूबे से १५ लाख रुपया वसूल कर शाही खजाने में जमा करेगा।

१७५३ ई० में बादशाह अहमदशाह और उसके वजीर सफदरजंग में झगड़ा शुरू हो गया। इंतिजामुद्दौला नया वजीर बनाया गया। सूरजमल ने सफदर द्वारा विद्रोह करने पर उसकी सहायता की। मरहठों ने सफदर के विरोधी इमाद का पक्ष लिया। इससे जाटों और मरहठों के बीच वैमनस्य बढ़ा।

मरहठों का प्राबल्य—इस समय राजधानी दिल्ली की दशा बड़ी डाँवाडोल हो गई थी। मरहठों के बार-बार के हमलों से डर कर अहमदशाह ने उनसे संधि कर ली थी और उन्हें मुगल साम्राज्य की रक्षा का पूरा अधिकार सौंप दिया था। इसके बदले में मरहठों को अजमेर तथा आगरे की सूबेदारी, पंजाब और सिंध की चौथ तथा अनेक बड़ी जागीरें प्राप्त हो गईं। दक्षिण, मालवा और बिहार-बंगाल पर मरहठों का पहले से ही प्रभुत्व था। इस प्रकार १८ वीं शती के मध्य में अवध और इलाहाबाद को छोड़ कर प्रायः सारे मुगल साम्राज्य का आधिपत्य मरहठों को प्राप्त था।

अहमदशाह अब्दाली—नादिरशाह की मृत्यु (१७४७ ई०) के बाद अहमदशाह अब्दाली अफगानिस्तान का शासक बन गया था। भारत पर उसके हमले लगातार होने लगे। मुगल सम्राट् ने इन हमलों को रोकने का असफल प्रयत्न किया। १७५१ ई० में अब्दाली ने लाहौर तक बढ़ कर पूरे पंजाब पर अपना कब्जा कर लिया। बादशाह ने मरहठों से सहायता के लिए प्रार्थना की, पर वे टालते रहे। वास्तव में बालाजी पेशवा की अदूरदर्शिता के कारण मरहठे दक्षिण में विदेशियों तथा स्थानीय राजाओं के साथ लड़ने-झगड़ने में अत्यधिक व्यस्त रहे। उन्होंने उत्तर-पश्चिम भारत की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया।

दिल्ली की लूट— दिल्ली की दशा बराबर बिगड़ती गई। १७५३ ई० में जाटों ने सफदरजंग की सहायता से पुरानी दिल्ली के कई मुहल्ले लूट लिये। बहुत से लोग डर के मारे इधर-उधर भाग गये। दिल्ली की जनता बहुत समय तक इस लूटपाट को 'जाटगर्दी' के नाम से याद करती रही।[3]

इसी समय बलराम (बालू) जाट दिल्ली और आगरा के बीच लूट करने लगा था। उसने बल्लभगढ़ में एक किला बनवाया, जहाँ से वह दूर तक धावे करता था। २९ नवम्बर, १७५३ ई० को बालू मार डाला गया और बल्लभगढ़ के किले पर मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया।

मरहठों की ब्रज पर चढ़ाई—जनवरी, १७५४ ई० में मरहठों ने ब्रज पर चढ़ाई कर दी और डीग, भरतपुर तथा कुम्हेर के गढ़ों को घेर लिया। सूरजमल इस समय कुम्हेर के किले में था। मल्हार होल्कर के पुत्र खंडेराव

३. जदुनाथ सरकार—फाल आफ दि मुगल एम्पायर, जिल्द १, पृष्ठ २७१।

की अध्यक्षता में मरहठों की फौज ने कुम्हेर पर आक्रमण किया। किले में आग लग जाने से खंडेराव की मृत्यु हो गई (१५-३-१७५४)। उसकी नौ रानियाँ चिता में जल कर सती होगईं। दसवीं अहिल्याबाई थी, जिसका नाम धर्मपरायणा रानी के रूप में भारतीय इतिहास में अमर है।

जब मल्हार होल्कर ने अपने प्रिय पुत्र खंडेराव की मृत्यु का हाल सुना तो वह दुःख से पागल हो उठा। उसने जाटों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। खंडेराव का संस्कार करने के लिए पहले वह मथुरा आया। बादशाह तथा सूरजमल ने भी खंडेराव की मृत्यु पर दुःख प्रकट किया। मई में दोनों पक्षों में संधि होगई। सूरजमल ने मरहठों को तीस लाख रुपया देने का वादा किया। इसके अलावा उसने मुगल बादशाह तथा मरहठों को दो करोड़ रुपया देने का भी वचन दिया। मुगल बख्शी इमाद तथा मरहठे कुम्हेर छोड़ कर मथुरा चले आये।

अहमदशाह की कैद—मुगल बादशाह की नीति और उसकी कायरता के कारण दिल्ली की हालत बराबर बिगड़ती गई। खजाने में पैसे की बेहद कमी हो गई। सिपाहियों को महीनों तक तनखाह न मिलती थी, जिससे सेना में असंतोष बढ़ता गया। शाही परिवार भी पैसे से तबाह हो गया। शाही रानियों और राजकुमारियों की जैसी दुर्दशा इस समय हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। अब फौज ने दिल्ली के अमीरों को लूटना शुरू कर दिया। नये वजीर से कुछ करते-धरते न बना। अन्त में १७५४ ई० में मरहठों की सहायता से इमाद नया वजीर बनाया गया। उसने विश्वासघात कर अहमदशाह और उसकी माँ को कैद कर लिया और बहादुरशाह के पोते को आलमगीर द्वितीय के नाम से सम्राट् बना दिया! इमाद को इस कार्य में मदद देने के कारण मरहठों से जाट, राजपूत, रुहेले तथा अवध के नवाब—सभी नाराज हो गये।

अब्दाली का आक्रमण—इमाद ने १७५६ ई० में पंजाब पर कब्जा कर लिया, जिससे अब्दाली बहुत नाराज हो गया। उसने एक बड़ी फौज लेकर भारत पर चढ़ाई कर दी। अगले साल वह दिल्ली की ओर बढ़ा। रुहेले भी उससे मिल गये। इमाद डर गया और उसने अब्दाली को आत्म-समर्पण कर दिया। अब मैदान साफ था। अब्दाली की फौज ने दिल्ली पहुँच कर लूटमार शुरू कर दी और धनी मानी लोगों को अपार कष्ट पहुँचाये।

ब्रज में अब्दाली का प्रवेश—मरहठों की बड़ी फौज दक्षिण में ही उलझी हुई थी। पेशवा की असफल नीति के कारण अँग्रेजों द्वारा मरहठों का मजबूत जहाजी बेड़ा १७५६ ई० में नष्ट कर दिया गया। ग्वालियर से अंताजी की अध्यक्षता में मरहठों की केवल तीन हजार फौज अब्दाली के मुकाबले में पहुँची। अंताजी फरीदाबाद में घिर गया और वहाँ से किसी तरह भाग कर उसने मथुरा में शरण ली। सूरजमल से सहायता की याचना की गई। पर सूरजमल मरहठों से बहुत चिढ़ा हुआ था, अतः उसने उनका साथ न दिया। वह कुम्हेर के क़िले में चला गया। २२ फर्वरी, १७५७ को अब्दाली दिल्ली से दक्षिण चलकर ब्रज में घुसा। मरहठो और जाटों की आपसी अनबन का उसने पूरा लाभ उठाया। रुहेलों का सरदार नजीब था, जिसकी पूरी मदद अब्दाली को प्राप्त हो गई। मुगल वजीर इमाद उससे पहले ही मिल गया था। इस प्रकार सारी स्थिति को अनुकूल देखकर अब्दाली ने जाटों तथा मरहठों की शक्ति को नष्ट करने तथा अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का संकल्प दृढ़ कर लिया।

बल्लभगढ़ में जाटों को परास्त करने तथा उस नगर में लूट-मार करने के बाद अब्दाली ने अपने दो सरदारों—जहानखाँ और नजीब को २०,००० सिपाही देकर उनसे कहा—"जाटों के इलाक़ों में घुस पड़ो और उनमें लूटो-मारो। मथुरा नगर हिंदुओं का पवित्र स्थान है, उसे पूरी तरह नेस्तनाबूद कर दो। आगरा तक एक भी इमारत खड़ी न दिखाई पड़े। जहाँ कहीं पहुंचो कत्ले-आम करो और लूटो। लूट में जिसको जो मिलेगा वह उसी का होगा। सिपाही लोग काफिरों के सिर काट कर लावें और प्रधान सरदार के खेमे के सामने डालते जाँय। सरकारी खजाने से प्रत्येक सिर के लिए पाँच रुपया इनाम दिया जायगा।"

चौमुहाँ का युद्ध—इस आज्ञा का अक्षरशः पालन हुआ। पहले अफगान सेना मथुरा की ओर ही चल पड़ी। रास्ते में चौमुहां (मथुरा से ८ मील उत्तर) स्थान पर सूरजमल के लड़के जवाहरसिंह के नेतृत्व में जाटों ने इस सेना का कड़ा मुक़ाबला किया। वीर जाटों ने लगातार ६ घन्टे तक युद्ध करके दुश्मन के छक्के छुटा दिये। दोनों ओर के मरे हुए सिपाहियों की संख्या दस से बारह हजार तक पहुंच गई। अन्त में निराश हो जाटों को मैदान छोड़ना पड़ा।

मथुरा की बर्बादी—जाटों के हटने पर अफगानों को मथुरा नगर के बर्बाद करने का पूरा मौका मिल गया । १ मार्च, १७५७ ई० को उनकी सेना अरक्षित मथुरा नगर में घुस पड़ी । उस दिन होली का त्यौहार था । चार घंटों तक लगातार हिंदुओं की मार-काट तथा अन्य अत्याचार होते रहे । हिंदू जनता में पुजारियों की संख्या बड़ी थी । नगर में जो थोड़े से मुसलमान थे उन्हें भी नहीं छोड़ा गया । मंदिरों की मूर्तियों को तोड़ने के बाद उन प्रतिमाओं को गेंदों की तरह उछाला जाता था । धन लूटने के बाद मकान नष्ट कर दिये जाते थे और फिर उनमें आग लगा दी जाती थी । ३,००० मानव प्राणियों की हत्या करने के बाद जहानखाँ नजीब के सेनापतित्व में फौज को मथुरा छोड़कर चला गया । चलते समय वह सिपाहियों से कह गया—"अब जो हिंदू मथुरा में बचे हैं उन्हें मौत के घाट उतार दो । इसके लिए तुम्हें एक लाख रुपया इनाम दिया जावेगा ।"

नजीब और उसकी सेना तीन दिन तक मथुरा में और ठहर कर लूट-मार करती रही । गड़ा हुआ धन तक खोद कर निकलवा लिया गया । कितनी स्त्रियों ने अपनी इज्जत बचाने के लिए यमुना की गोद में शरण ली; कितनी ही कुओं में डूब मरीं । जो बचीं उन्हें अफगान लोग अपने साथ उड़ा ले गये और उन्हें मृत्यु से भी अधिक यातनायें भोगने को बाध्य किया[४] ।

एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है कि "सड़कों और बाजारों में सर्वत्र हलाल किये हुए लोगों के धड़ पड़े हुए थे और सारा शहर जल रहा था । कितनी ही इमारतें धराशायी कर दी गई थीं । यमुना नदी का पानी नर-संहार के बाद सात दिनों तक लगातार लाल रंग का बहने लगा । नदी के किनारे पर बैरागियों और संन्यासियों की बहुत-सी झोंपड़ियाँ थीं । इनमें से हर झोंपड़ी में साधू के कटे हुए सिर के मुँह से लगा कर रखा हुआ गाय का कटा सिर दिखाई पड़ता था ।"

जहानखाँ मथुरा से चल कर वृन्दावन गया और वहाँ वैष्णवों की बड़ी संख्या में हत्यायें कीं । उपर्युक्त प्रत्यक्षदर्शी ने अपनी डायरी में लिखा है कि "जिधर नजर जाती मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई पड़ते थे । सड़कों से निकलना

---

४. जदुनाथ सरकार—फाल आफ दि मुगल एंपायर, जिल्द २, अ० १६, पृष्ठ ११८-११६ ।

तक मुश्किल हो गया था । लाशों से ऐसी विकट दुर्गंध आती थी कि साँस लेना दूभर हो गया था।"

महावन और वृन्दावन की लूट—१५ मार्च, १७५७ ई० को अहमदशाह अब्दाली स्वयं मथुरा पहुँचा। यहाँ से यमुना पार कर उसने महावन में डेरा डाल दिया और वहाँ भी लूट-मार की। वह गोकुल को बर्बाद करना चाहता था, पर वहाँ के साहसी नागा संन्यासियों के सामने उसकी दाल न गली । ४,००० नागा लोग भभूत रमा कर अफगान सेना से लड़ने को निकल पड़े। यद्यपि युद्ध में लगभग २,००० नागा मारे गये पर साथ ही उन्होंने इतने दुश्मनों को भी युद्ध-भूमि पर सुला दिया। अन्त में अब्दाली ने अपनी फौज वापस बुलाली और गोकुल नष्ट होने से बच गया । महावन के खेमे में हैजा फैलने के कारण अब्दाली के सिपाही मरने लगे। अतः वह शीघ्र ही यहाँ से दिल्ली के लिए चल पड़ा। रास्ते में वृन्दावन को चार दिन तक पुनः लूटा-फूँका गया । मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानों से अब्दाली को लूट में लगभग १२ करोड़ रुपये की धनराशि प्राप्त हुई, जिसे वह तीस हजार घोड़ों, खच्चरों और ऊँटों में लाद कर ले गया । इसके अतिरिक्त वह कितनी ही स्त्रियों को यहाँ से अफगानिस्तान ले गया ।

मुसलमान लेखकों ने लिखा है कि अब्दाली के द्वारा विध्वंस इतने बड़े पैमाने पर किया गया कि आगरा से दिल्ली जाने वाली सड़क पर एक झोंपड़ी तक ऐसी नहीं दिखाई पड़ती थी जिसमें कोई आदमी जीवित बच गया हो। जिस रास्ते से अब्दाली ब्रज में आया और फिर जिस मार्ग से लौटा उन रास्तों पर दो सेर अनाज या चारा तक मिलना दुर्लभ हो गया[५] !

२१ मार्च को अफगान सेना आगरा भी पहुँची और उसने वहाँ के किले पर आक्रमण किया। सड़ती हुई लाशों से अफगानों में हैजा फैलने के कारण अब्दाली ने सेना को आगरे से बुला लिया। अब वह अफगानिस्तान को लौट पड़ा। रुहेला सरदार नजीबखाँ को अब्दाली ने दिल्ली का प्रशासक बनाया । पंजाब में अब्दाली ने अपने लड़के तैमूर तथा सेनापति जहानखाँ को नियुक्त किया। यह जहानखाँ एक बार फिर जाटों के राज्य में रुपया उगाहने के लिए पहुंचा। जब उसे वहाँ मनचाही रकम न मिली तो वह मथुरा नगर पर फिर टूट पड़ा और लूट-खसोट करके दिल्ली वापस गया । इस प्रकार १७५७ का वर्ष ब्रज की भीषण बर्बादी का साल हुआ!

---

५. जदुनाथ सरकार—वही, पृ० १२०-२४ ।

अब्दाली का पुनः आक्रमण—मई, १७५७ ई० में मरहठों ने आगरा पहुँच कर सूरजमल से समझौता कर लिया। अब जाटों की सहायता से उन्होंने रुहेलों से फिर दोआब छीन लिया। इसके बाद उन्होंने दिल्ली को जा घेरा। रुहेला सरदार नजीब ने युद्ध करना उचित न समझ कर संधि कर ली। नजीब चाहता था कि वह अब्दाली से मिल कर मरहठों के साथ एक स्थायी संधि करा दे, परंतु मरहठे इस पर राजी न हुए। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद मरहठे पंजाब की ओर बढ़े। अब्दाली का लड़का तैमूर तथा जहानखाँ भाग कर सिंध नदी के पार चले गये। अब प्रायः सारे पंजाब पर मरहठों ने अधिकार कर लिया और वहाँ अदीनाबेग को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। इस प्रकार मरहठों ने अब्दाली को अपना कट्टर शत्रु बना लिया।

अक्टूबर, १७५६ ई० में अब्दाली ने भारत पर फिर चढ़ाई की। मरहठे रुहेलों तथा अवध के नवाब के खिलाफ लड़ाइयों में उलझे रहे और अपनी शक्ति एवं समय को नष्ट करते रहे। इसी समय इमाद ने आलमगीर की हत्या कर उसके स्थान पर कामबख्श के पोते को दिल्ली का बादशाह बना दिया। परंतु मरहठों ने आलमगीर के लड़के को 'शाहआलम' के नाम से बादशाह स्वीकार किया। ६ जनवरी, १७६० ई० को अब्दाली की फौज से मरहठों की मुठभेड़ दिल्ली के सामने हुई। मरहठों का नेता दत्ताजी इस लड़ाई में मारा गया। अब्दाली ने दिल्ली पर पूरा कब्जा कर लिया। इमाद डर कर भरतपुर भाग गया। अब्दाली ने फिर डीग पर आक्रमण किया। उस समय सूरजमल वहीं था। मरहठों की सेना का नेतृत्व अब मल्हार ने ग्रहण किया और वह दिल्ली की ओर चल पड़ा। अब्दाली दोआब की ओर लौट गया और अनूपशहर में उसने अपनी छावनी डाल दी। अब दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं।

दक्षिण से सदाशिवराव भाऊ मरहठों की एक बड़ी सेना लेकर आ पहुँचा। उसने अफगानों के खिलाफ राजपूत राजाओं से सहायता माँगी, पर वह उसे प्राप्त न हुई। भाऊ ने बिना अधिक प्रयास के दिल्ली पर कब्जा कर लिया। अब मरहठों और अफगानों के बीच लड़ाई रोकने के लिए संधि की चर्चा चलने लगी। इस पर सूरजमल नाराज हो गया और वह मरहठों से अलग होकर वापस चला गया। संधि की जो बात चल रही थी वह भी निष्फल हुई और युद्ध अनिवार्य हो गया।

पानीपत का युद्ध—१ नवम्बर, १७६० ई० को पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में मरहठों तथा अफगानों की फौजें आ डटीं। मरहठों की सेना ४५ हजार थी, जबकि अब्दाली के पास ६२,००० फौज थी। उसे रुहेलों का पूरा सहयोग प्राप्त था। दो महीने तक दोनों ओर की सेनाएँ बिना युद्ध किये पड़ी रहीं। १७६१ ई० के प्रारंभ में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें दोनों दलों का भारी संहार हुआ। अन्त में मरहठों की हार हुई और उनके कई बड़े सैनिक मारे गये। बहुतेरे सैनिकों ने भाग कर ब्रज में शरण ली। इस समय सूरजमल मथुरा में ही विद्यमान था। २० मार्च को अब्दाली दिल्ली से वापस चल दिया। दिल्ली का अधिकारी उसने नजीब को बनाया तथा लाहौर में भी उसने अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया।

मथुरा का शांति-सम्मेलन—पानीपत के युद्ध के बाद भविष्य में शांति बनाये रखने के उद्देश्य से मथुरा में एक सभा हुई। इसमें अफगानों तथा रुहेलों के अतिरिक्त जाट, मरहठा तथा मुगल प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। परन्तु इस सम्मेलन का कोई स्थायी फल न निकला। सूरजमल शांति के पक्ष में बिलकुल न था। वह तत्कालीन परिस्थिति का लाभ उठा कर अपना अधिकार बढ़ाना चाहता था। जुलाई, ६१ में ही उसने आगरे का किला ले लिया और अगले दो वर्षों में जाट सैनिक शक्ति को बहुत मजबूत कर लिया।

सूरजमल की मृत्यु—आगरा जीतने के बाद सूरजमल ने मेवात पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ से वह गुड़गांव की ओर बढ़ने लगा। वह चाहता था कि हरियाना प्रदेश को भी जीत कर उसे ब्रज में मिला लिया जाय, परंतु सूरजमल की यह इच्छा पूरी न हो सकी। रुहेले उसके कट्टर शत्रु थे। इस समय रुहेलों की शक्ति भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका सरदार नजीब दोआब तथा दिल्ली प्रदेश का स्वामी बन गया था। शहदरा के पास रुहेलों ने सूरजमल पर अचानक आक्रमण कर दिया। सूरजमल के साथ इस समय इनेगिने ही सिपाही थे। उसकी सेना जवाहरसिंह के नेतृत्व में पीछे थी। इस मौके को पाकर शत्रुओं ने सूरजमल को समाप्त कर डाला। फिर उसके सिर को भाले में छेद कर जाट सेना को दिखाया गया। जाट लोग अपने प्रिय राजा का इस प्रकार अन्त देखकर हतप्रभ हो गये! उस समय रुहेलों से बिना युद्ध किये ही वे वापस चले गये।

जवाहरसिंह (१७६३–६८ ई०)—सूरजमल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जवाहरसिंह ब्रज का राजा हुआ। वह बड़ा बहादुर था, पर उसके बर्ताव

से कुछ प्रमुख जाट सरदार नाराज हो गये। बदनसिंह और सूरजमल ने अपने समय में योग्य और साहसी जाट सरदारों को शासन में ऊँचे पद प्रदान किये थे। उनकी सहायता से जाटों का एक प्रबल संगठन तैयार हो सका था। जाट सेना में कई अच्छे युरोपियन सेनापति भी रखे गये थे। नये शासक जवाहरसिंह ने सैन्य-संगठन में परिवर्तन किये। अब विदेशियों में केवल दो कप्तान समरू तथा मैडेक रह गये।

नवम्बर, १७६४ ई० में जवाहरसिंह ने दिल्ली पर हमला बोल दिया। वहाँ इस समय रुहेलों का अधिकार था। जवाहरसिंह ने मरहठों और सिक्खों से भी सहायता ली। तीन महीने तक दिल्ली का घेरा पड़ा रहा। इसी बीच मरहठों के नेता मल्हार ने चुपके से रुहेलों के सरदार नजीब से सुलह कर ली। जयपुर के राजा तथा जवाहर का छोटा भाई एवं कुछ जाट सरदारों ने भी नजीब को भीतरी मदद पहुँचाई। इसके परिणामस्वरूप जवाहरसिंह को दिल्ली का घेरा हटाना पड़ा। वह अब अपने विरोधियों से बहुत रुष्ट हो गया और जीवन-पर्यन्त उनसे बदला लेने के ही प्रयत्न करता रहा। १७६५ ई० में जयपुर के शासक से जवाहर ने युद्ध छेड़ दिया। इस लड़ाई में दोनों ओर के बहुत से वीर सैनिक मारे गये। जून, १७६८ ई० में जवाहरसिंह के एक सैनिक ने आगरा में उसका वध कर डाला। उसकी मृत्यु से जाट-शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। जवाहर के उत्तराधिकारियों में ऐसा कोई न हुआ जो विस्तृत ब्रज-प्रदेश पर जाट सत्ता को जमाये रखता। जाटों की शक्ति घटती गई और धीरे-धीरे उनका अधिकार-क्षेत्र भी सीमित हो गया। जाटों के घरेलू झगड़े उनकी शक्ति को विशृङ्खलित करने में सहायक हुए। रुहेलों के प्राबल्य तथा मरहठा शक्ति के पुनरुत्थान से भी जाट शक्ति का ह्रास हो गया।

ब्रज की शासन-व्यवस्था—बदनसिंह के समय से लेकर जवाहरसिंह की मृत्युपर्यन्त विस्तृत ब्रज प्रदेश पर जाटों का आधिपत्य रहा। ये तीनों शासक वीर और प्रतिभाशाली थे। यद्यपि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इन्हें अनेक लड़ाइयों में भाग लेना पड़ा तो भी ब्रज प्रदेश की रक्षा तथा यहाँ की शासन-व्यवस्था की ओर इन्होंने पूरा ध्यान दिया। ब्रज के शासन-प्रबंध में जाट शासकों के द्वारा अनेक उपयोगी कार्य किये गये। अकबर के राज्य-काल में जो भूमि-व्यवस्था हुई थी उसमें अब कई परिवर्तन किये गये। अकबर के समय में एक बड़ा परगना सहार था। उसके अब चार भाग किये गये—सहार, शेरगढ़, कोसी तथा शाहपुर। मंगोतला परगना भी दो भागों में

बाँट दिया गया, जिनके नाम सोंख तथा सोंसा हुए। फरह का एक नया परगना बना। मुरसान, सहपऊ और माँट के परगने भी सम्भवतः इसी समय बने। ब्रज प्रदेश के अन्य जिलों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन किये गये[६]।

जाटों की शासन-व्यवस्था अन्य भारतीय राजाओं-जैसी ही थी। प्रभावशाली जाट सरदारों को जागीरें दी गई थीं। ये सरदार केंद्रीय कोष में मालगुजारी पहुँचाते थे और राज्य की रक्षा में सहायता देते थे। इस काल में युद्ध प्रायः होते रहते थे, जिससे एक अच्छी फौज का रखना अनिवार्य था। जाट सैनिक वीर और साहसी योद्धा होते थे। अनेक युद्धों में जाटों ने अपने शौर्य का परिचय दिया। इनके युद्ध का ढंग पुराना था। परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि नई युरोपीय युद्ध-प्रणाली का सीखना बहुत आवश्यक है। इसके लिए कुछ अच्छे युरोपीय कप्तानों को नियुक्त किया गया, जो नये ढंग की सैनिक शिक्षा देते थे। उक्त तीन शासकों के राज्य-काल में भरतपुर, कुम्हेर, डीग आदि स्थानों में मजबूत किलों तथा अन्य इमारतों का निर्माण हुआ। जाट राजाओं ने ब्रज के सांस्कृतिक स्थलों की रक्षा में जो महत्वपूर्ण योग दिया वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, कामवन आदि अनेक स्थानों में इन शासकों के द्वारा अनेक धार्मिक कार्य निष्पन्न किये गये। गिरिराज गोवर्धन की महत्ता इनके समय में बहुत बढ़ी। वहाँ अन्य इमारतों के साथ कई कलापूर्ण छतरियाँ भी बनाई गईं।

परवर्ती जाट शासक—जवाहरसिंह की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई रतनसिंह शासक हुआ। वह अपने पूर्वजों के विपरीत आरामपसंद राजा था। १७६६ ई० में उसने वृन्दावन की यात्रा की और यमुना के किनारे एक बड़े उत्सव का आयोजन किया। इसमें चार हजार नर्तकियाँ बुलाई गईं। उसने गोसाँई रूपानंद नामक एक ब्राह्मण को अपने कोष का बहुत सा धन सौंप दिया। यह ब्राह्मण अपने को बड़ा करामाती बताता था। उसने रतनसिंह को लालच दिया था कि उसे पारस पत्थर की प्राप्ति करा देगा। एक दिन वह राजा को मामूली धातुओं से सोना बना देने का हुनर दिखा रहा था। इसी बीच मौका पाकर उस गुसाँई ने रतनसिंह को मार डाला (८ अप्रैल, १७६६ ई०)। राजा के नौकरों को जब इस दुर्घटना का पता चला तो उन्होंने गुसाँई को भी समाप्त कर दिया।

---

६. ड्रेक ब्लाकमैन—मथुरा गजेटियर (इलाहाबाद, १६११), पृ० २०१।

रतनसिंह का पुत्र केसरीसिंह अभी बहुत छोटा था । अतः रतनसिंह का भाई नवलसिंह सेना की सहायता से राज्य का अधिकारी हो गया । इस पर उसके दूसरे भाई रणजीतसिंह ने कुछ लोगों को भड़का कर उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। इस तरह घरेलू झगड़े का प्रारम्भ हो गया।

रणजीतसिंह ने मरहठों से भी सहायता प्राप्त की । १७६९ ई० में नये पेशवा माधवराव ने एक बड़ी फौज उत्तर भारत को भेजी। इसमें रामचंद्र तथा रानोजी शिंदे का लड़का महादजी आदि अनेक योग्य सेनापति थे। रुहेलों ने भी मरहठों से संधि कर ली। ९ मार्च, १७७० ई० के दिन रणजीतसिंह ने मरहठा सरदारों से भेंट की। उसकी सहायता से मरहठों की तीस हजार सेना ने कुम्हेर को घेर लिया। नवलसिंह इस समय डीग में था । मरहठा सेना ने कुम्हेर के आस-पास काफी बर्बादी की।

सोंख-अड़ींग का विनाशकारी युद्ध—मरहठों ने अपनी फौज का कुछ भाग तथा बड़ी तोपों के साथ तुकोजी होल्कर को मथुरा भेजा। उनका इरादा दोआब पर अधिकार करने का था। इसी बीच नवलसिंह डीग से गोवर्धन की ओर चला। सोंख के पास पहुँच कर उसने मरहठों पर आक्रमण करने का विचार किया। कप्तान समरू तथा मैडेक ने उसे समझाया कि इस समय युद्ध करना ठीक न होगा, परंतु उनकी यह राय स्वीकार न हुई । दानशाह तथा नागा लोगों के नेता गुसाँई बालानंद ने युद्ध का समर्थन किया । आखिरकार दो हजार घुड़सवारों के साथ दानशाह ने मरहठों पर हमला बोल दिया (६ अप्रैल, १७७० ई०)। मरहठों ने जाट सेना को निर्दयता के साथ नष्ट कर दिया; बचे-खुचे लोग भाग गये। नवलसिंह खुद भी मैदान छोड़ कर भाग गया। कप्तान मैडेक भी बड़ी कठिनाई से प्राण बचा सका । जाट सेना का उचित संचालन न होने के कारण ही जाटों की यह हार हुई। इस युद्ध में लगभग दो हजार जाट सैनिक मारे गये और एक बड़ी संख्या में घायल हुए। उनके दो हजार घोड़े और तेरह हाथी मरहठों के हाथ लगे। इस युद्ध में अनेक शूरवीर जाट सैनिक भी काम आये। इतने योद्धा किसी दूसरे युद्ध में नहीं मारे गये थे ! नवलसिंह की अदूरदर्शिता का ही यह परिणाम था कि जाटों की प्रबल शक्ति इस प्रकार नष्ट हुई । नवलसिंह अड़ींग होता हुआ डीग भाग गया। मरहठों ने उसका डीग तक पीछा किया। वहाँ से लौट कर मरहठा सेना मथुरा में जमा हुई और दोआब पर आक्रमण करने का कार्यक्रम बनाया जाने लगा ।

अब मरहठों का सिक्का उत्तर भारत पर पूरी तरह जम गया। पेशवा माधवराव बड़ा नीतिकुशल था। उसके सहायकों में भी नानाफड़नीस आदि योग्य व्यक्ति थे। इस बीच उत्तर में सिंधिया और होल्कर के बीच कुछ मन-मुटाव पैदा हो गया, जिससे मरहठों की शक्ति को काफी धक्का पहुँचा। परंतु यह स्थिति अधिक समय तक न रही। १७७० ई० तक दोआब का एक बड़ा भाग मरहठों ने जीत लिया। नजीब की मृत्यु के बाद रुहेले भी उनसे मिल गये और मरहठों का अधिकार इटावा तक स्थापित हो गया। उनकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर अवध का नवाब भी घबड़ा गया। १७७१ ई० में मरहठों ने दिल्ली पर भी कब्जा कर लिया। मुगल बादशाह शाहआलम ने अब अपने को मरहठों के हाथ सौंप दिया। पंजाब से पठान लोग हट गये थे और वहाँ सिक्ख लोग अपनी गद्दियाँ बनाने लगे थे। सिक्खों ने धीरे-धीरे पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया और अपनी सेना का अच्छा संगठन कर लिया।

इस प्रकार अब मरहठों की शक्ति उत्तर भारत में सबसे बढ़ी-चढ़ी थी। परन्तु दुर्भाग्य से १८ नवंबर, १७७२ ई० को माधवराव पेशवा की मृत्यु हो गई, जिससे मरहठा ताकत को गहरा धक्का पहुँचा। माधवराव के बाद उसका छोटा भाई नारायणराव पेशवा हुआ, पर अँग्रेजों के षड्यंत्र से वह मारा गया (३०–८–७३)। अब उत्तराधिकार के लिए मरहठों में गृह-कलह ने जोर पकड़ा। नानाफड़नीस आदि सरदारों ने नारायणराव के शिशुपुत्र सवाई माधवराव का पक्ष लिया, परन्तु अन्य कुछ मरहठा सरदारों ने अँग्रेजों के साथ मिलकर राघोबा का पक्ष लिया। इस आपसी झगड़े में अँग्रेजों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा मौका मिल गया। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में तथा दक्षिण के कुछ भाग में उनके पैर मजबूती से जम चुके थे। अब उन्हें उत्तर भारत में भी अपनी ताकत बढ़ाने का मौका मिल गया।

जाट-शक्ति का पतन— जाटों की शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जा रही थी। उनके योग्य सेनापति मारे जा चुके थे। युद्ध का नया ढंग इस समय भारत में प्रचलित हो चुका था और अनेक देशी राज्यों में उसे अपनाया जा चुका था, परंतु जाटों में युद्ध की पुरानी ही परिपाटी जारी थी। उनके दो युरोपीय कप्तानों में से मैडेक १७७२ में जाटों को छोड़कर मुगलों से जा मिला। इसके दो साल बाद समरू भी चला गया।

रुहेलों से युद्ध—दानशाह की अध्यक्षता में सितम्बर, १७७३ में जाटों ने मुगल बादशाह के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। शहदरा के पास

मुसलमानी सेना ने जाटों को परास्त कर दिया और उनके सामान को लूट लिया। दनकौर के पास फिर युद्ध हुआ, जिसमें अलीगढ़ के चंदू गूजर और जाटों ने मुगल सेना का मुकाबला किया परन्तु यहाँ भी जाटों की पराजय हुई और लगभग ३००० जाट सिपाही मारे गये। अब मुगल सेनापति नजफ ने मौका पाकर जाटों के राज्य पर धावा बोल दिया। बल्लभगढ़ में पहुँचने पर अजित तथा हीरासिंह नामक जाट सरदार उससे मिल गये। इनके मिलने से नजफखाँ की हिम्मत बहुत बढ़ गई। अब जाट लोग बल्लभगढ़ तथा उसके दक्षिण के भाग से हटने लगे[७]। नवलसिंह के पास अब ऐसी सैनिक शक्ति न थी जो विरोधियों का मुकाबला कर सकती। नजफखाँ की फौज ने ब्रज प्रदेश की बड़ी बर्बादी की। जो भी गाँव उसे रास्ते में पड़े वे लूटे और जलाये गये। रुहेलों ने गाँव वालों के कितने ही मवेशियों को मार कर खा डाला। जाट सेना इतनी डर गई थी कि वह कई जगह मैदान छोड़ कर भाग गई। राजा नवलसिंह ने होडल के समीप कोटबन में शरण ली। परन्तु कुछ दिन बाद वह बरसाना के समीप आगया। नजफखाँ ने अपना खेमा बरसाना से सात मील पूर्व सहार में डाल दिया।

बरसाना का युद्ध—३० अक्तूबर, १७७३ के दिन बरसाना के समीप जाटों और मुगलों में घमासान युद्ध हुआ। समरू जाट सेना का नेतृत्व कर रहा था। इसके अतिरिक्त बालानंद गोसाँई के साथ पाँच हजार नागा जाटों की तरफ थे। बीच में नवलसिंह अपने चुने हुए सिपाहियों के साथ था। मुगलों की फौज में पाँच हजार लड़ाकू रुहेले तथा बड़ी संख्या में घुड़सवार थे। दोपहर के बाद युद्ध प्रारम्भ हुआ और शाम तक भयानक मारकाट होती रही। नवलसिंह के निकल भागने पर जाट फौज का उत्साह भंग होगया। तो भी समरू बराबर लड़ता रहा और उसने मुगल सेना को तितर-बितर कर दिया। उसके सहायक जोधराज के परास्त होने पर समरू भी घबड़ा गया। अंत में मैदान नजफ के हाथ रहा। लगभग दो हजार जाट सिपाही इस लड़ाई में मारे गये, जब कि विरोधी पक्ष के दो हजार तीन सौ आदमी मरे और घायल हुए[८]।

---

७. जवाहरसिंह के समय तक बल्लभगढ़ जाट राज्य की उत्तरी सीमा का महत्वपूर्ण केंद्र रहा था।

८. सरकार—वही ३, पृ० ६६।

मुगल सेना ने नवलसिंह के खेमे में पहुँचकर उसे लूटना शुरू किया। इस लूट में उसे अपार संपत्ति मिली। साथ ही जाटों का तोपखाना, हाथी, घोड़े और ऊँट भी उनके हाथ लगे। बरसाना का नया शहर भी लूटा गया और उसे पूरी तरह बर्बाद कर दिया गया। लगभग अगले सौ साल तक बरसाना उपेक्षित अवस्था में पड़ा रहा। मुगल सेना कई दिन तक वहाँ पड़ी रही। इसके बाद वह वापस लौटी और रास्ते में कोटबन पर भी उसने कब्जा कर लिया। ११ दिसंबर, १७७३ को आगरा पर भी नजफखाँ ने अधिकार कर लिया। आगरा का क़िला वर्षों से जाटों के अधिकार में था। परन्तु वह अब उनके हाथ से निकल गया। बरसाना की हार तथा वल्लभगढ़, कोटबन, आगरा आदि किलों के हाथ से निकल जाने पर जाटों की शक्ति बहुत कमजोर हो गई। उनके दो योग्य सेनानायक समरू और मैडेक भी शत्रुओं से जा मिले। १७७५ ई० में नजफ ने जाट प्रदेश पर फिर आक्रमण किया और कामां (कामवन) पर अपना अधिकार कर लिया। कामां इस समय जयपुर के शासक के अधीन था। नजफ के सेनापति अफरासियाबखाँ ने इसी समय सादाबाद और जेबर के परगनों पर अधिकार कर लिया और तीन महीने बाद रामगढ़ के मजबूत किले पर भी कब्जा कर लिया। कामां को जीतने के लिए जयपुर के राजा और जाटों ने मिलकर प्रयत्न किया। मरहठों ने भी उन्हें इसमें सहायता दी। काफी समय के युद्ध के बाद मुगलों से कामां छीन लिया गया।

रणजीतसिंह—नवलसिंह की मृत्यु (१० अगस्त, १७७५ ई०) के बाद रुहेला सरदार रहीमदाद ने नवलसिंह के बालक पुत्र केसरीसिंह को डीग के सिंहासन पर बैठा दिया और नवलसिंह के साथियों को भगा दिया। जब रणजीतसिंह को कुम्हेर में यह सब ज्ञात हुआ तब वह डीग की तरफ चल पड़ा। उसने रुहेलों से डीग को छीन लिया। युद्ध में लगभग चार हजार रुहेले मारे गये और बाकी भाग गये। इस समय ब्रज में डीग का किला बहुत मजबूत था। डीग के समीप ही गोपालगढ़ नामक एक दूसरा दुर्ग था। इन दोनों के बीच विस्तृत उद्यान था। किले के अन्दर महल तथा सरोवर आदि अत्यंत आकर्षक थे। डीग का जवाहरगंज नामक बाजार उस समय बहुत प्रसिद्ध था।

डीग का पतन—डीग के इस महत्वपूर्ण गढ़ को जीतने के लिए मुगलों और रुहेलों ने कई बार प्रयत्न किये थे। परन्तु जाटों ने प्राण-पण से किले

की रक्षा कर उसे शत्रु के हाथ में जाने से बचा लिया। दुर्भाग्य से यह स्थिति अधिक समय तक न रही। आपसी मतभेद तथा उत्तराधिकार के झगड़ों ने जाट-शक्ति को कमजोर कर दिया। १७७६ में नजफखाँ के नेतृत्व में डीग का घेरा डाला गया। अवध की फौज से निकाले गये हिम्मतबहादुर तथा उमरावगीर नामक दो गोसाईं अपने छह हजार साथियों तथा लड़ाई के सामान सहित नजफखाँ से मिल गये। डीग से कुम्हेर तथा कामां जाने वाली सड़कों की नाकेबंदी करदी गई, जिससे बाहर से किसी प्रकार की सहायता का पहुँचना बन्द होगया। डीग के किले में सुरक्षित खाद्य सामग्री कुछ दिनों में ही समाप्त हो गई। इसी समय भयंकर अकाल पड़ा, जिससे हालत और भी बिगड़ गई। किले में कुल साठ हजार जाट थे। परन्तु भूख से पीड़ित होने के कारण बहुत से लोग रातों-रात बाहर निकल गये, यहाँ तक कि अंत में किले के अन्दर केवल दस हजार जाट रह गये। नजफखाँ के प्रलोभनों में पड़ कर डीग के बहुत से लोग उससे जा मिले। कुछ दिन बाद रणजीतसिंह भी डीग को छोड़ कर कुम्हेर की ओर भाग गया। अब मुगलों ने किले पर धावा बोल दिया। शहर के कई भाग जला दिये गये और बेहद लूट-मार और हत्या हुई। अनेक जाट रानियां तथा अन्य कितनी ही स्त्रियों ने बलात्कार के भय से आत्म-हत्या कर ली। बचे हुए जाटों ने मुगल सेना पर आक्रमण किया और लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। नजफ और उसके सिपाहियों के हाथ लूट का बहुत-सा सामान लगा। डीग के पतन से जाटों की शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा।

इस प्रकार विस्तृत ब्रज प्रदेश से जाटों की प्रभुता का अन्त हुआ। रणजीतसिंह के अधिकार में अब केवल भरतपुर का किला और उसके आसपास की भूमि, जिसकी आमदनी ६ लाख रुपये थी, रह गई।

उत्तरी दोआब की विजय—डीग पर अधिकार करने के बाद नजफखाँ ने मथुरा और अलीगढ़ जिलों की ओर ध्यान दिया। अक्टूबर, १७७६ ई० में अफरासियाबखाँ ने मथुरा पहुंच कर यमुना को पार किया। इस समय यमुना के उस पार जाट और गूजर लोग शक्तिशाली थे। इनका प्रधान राजा फूपसिंह था। वह मुरसान और सासनी का शासक था। नजफ और अफरासियाब की सम्मिलित फौज ने बढ़कर मुरसान पर कब्जा कर लिया। राजा फूफ सासनी चला गया, जहाँ उसने मुगलों से संधि कर ली। इसके अनुसार सासनी तथा अन्य कुछ इलाके राजा के अधिकार में रहे और मुरसान पर मुगलों का कब्जा हो गया।

बादशाह की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह मुगल सेना का प्रधान सेनापति भी बनाया गया। इससे कुछ पुराने मुसलमान सरदारों में द्वेष की आग भड़क उठी। परंतु सिन्धिया ने बड़ी कुशलता के साथ सारे काँटों को दूर कर दिया। उसने यहाँ तक आज्ञा निकाल दी कि बिना उसकी आज्ञा के कोई बादशाह से मिल नहीं सकेगा।

महादजी की शक्ति का प्रसार—महादजी चतुर और दूरदर्शी व्यक्ति था। उसने भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का पूरा अध्ययन कर लिया था। प्रारंभ में मुगल दरबार में महादजी के विरुद्ध कई षड्यंत्र रचे गये। अफरासियाबखाँ के कुछ साथियों ने गोसांई हिम्मतबहादुर के साथ इस बात का प्रयत्न किया कि महादजी की शक्ति बढ़ने न पावे। परंतु सिंधिया ने इन सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली। उसने अब अपनी शक्ति और अधिकार बढ़ाना शुरू किया। जाट राजा रणजीतसिंह उसका सहायक हो गया। ब्रज प्रदेश पर अधिकार करने के बाद सिंधिया ने राजस्थान का पूर्वी भाग भी कब्जे में कर लिया। जयपुर के शासक ने सिंधिया से संधि कर ली। इसके बाद बादशाह शाहआलम के साथ महादजी डीग पहुँचा और वहाँ उसने अपना खेमा गाड़ दिया (३ जनवरी, १७८५ ई०)। १६ जनवरी को महादजी ने डीग पर कब्जा कर लिया। इसके अगले दो महीने बाद आगरा का किला भी हाथ में आ गया (२७-३-८५)। आगरा की सूबेदारी अब शाहजादा अकबरशाह को सौंपी गई, परंतु उसका वास्तविक कर्त्ताधर्त्ता महादजी ही रहा।

अलीगढ़ किले की विजय—महादजी का ध्यान अब अलीगढ़ की ओर गया। यहाँ भी अफरासियाब के परिवार वाले अपना अधिकार जमाये हुए थे। महादजी ११ अप्रैल को मथुरा पहुँचा। लगभग ८ महीने तक मथुरा तथा चीरघाट (शेरगढ़) में उसका निवास रहा।[९] महादजी का अफरासियाब के कुटुम्ब वालों के साथ शुरू से ही बड़ा अच्छा व्यवहार था। उसने उसके लड़के को बादशाह से कहकर ऊँची खिलकत दिलवाई थी, परंतु अफरासियाब की विधवा स्त्रियों तथा अन्य कुटुम्बियों ने महादजी के प्रति अच्छा विचार नहीं रखा। ये लोग अलीगढ़ का किला महादजी को देना नहीं चाहते थे। उन्हें

---

९. १७ अक्टूबर को बादशाह शाहआलम भी चीरघाट आया और यहाँ लगभग दो मास तक रहा। इस स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य के कारण इसे सिंधिया ने चुना था।

अंग्रेजों से भी भीतरी सहायता प्राप्त हो रही थी । महादजी के द्वारा इस बात पर आपत्ति करने पर अंग्रेजों ने विरोधियों को सहायता देना बंद कर दिया । जब आसानी से अलीगढ़ का किला मिलना कठिन होगया तब महादजी ने रायजी पाटिल को ५,००० घुड़सवारों के साथ अलीगढ़ पर आक्रमण करने की आज्ञा दी । कई महीनों के बाद अलीगढ़ का किला सिंधिया के अधिकार में आ सका (२० नवंबर, १७८५ ई०) । इस किले की जीत से ४० हजार रुपया नकद तथा जवाहरात और लड़ाई का बहुत बड़ा सामान मरहठों के हाथ लगा । अलीगढ़ के बदले में मुरसान का किला अफरासियाब के कुटुम्बियों को दे दिया गया तथा कुछ अन्य जागीर भी उन्हें दी गई । अलीगढ़ के किले में बादशाह के बहुत से कीमती जवाहरात थे, जो अफरासियाब को दिये गये थे । जब उनका पता नहीं चला और महादजी को यह मालूम हो गया कि इसमें अफरासियाब की कई बेगमों और कुछ सरदारों का हाथ है तो उसने उनसे कड़ाई के साथ कीमती जवाहरात वसूल किये ।

गोसाइयों का विरोध -- इस समय गोसाईं बंधु उमरावगीर तथा हिम्मतबहादुर बड़े शक्तिशाली हो गये थे । हिम्मतबहादुर मुगल बादशाह से मिल कर महादजी को नीचा दिखाना चाहता था, परंतु उसके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए । महादजी ने उसकी जागीर का एक बड़ा भाग छीन लिया और उसके कब्जे में केवल झाँसी के समीप मोट तालुका और वृन्दावन की जागीर रहने दी । नागा सरदार अब वृन्दावन में आकर रहने लगा । परंतु वह चुपके-चुपके सिंधिया के विरुद्ध कार्य करता रहा । हाथरस तथा मुरसान के जाट जमींदारों की सहायता से उसने दोआब में अपनी शक्ति बढ़ा ली । मरहठों के सरदार केशवपंत के मारे जाने पर हिम्मतबहादुर की हिम्मत बढ़ गई और अपने बड़े भाई उमरावगीर के साथ उसने दोआब के एक बड़े भाग पर कब्जा कर लिया । उसने अवध के नवाब-वजीर से भी सहायता की माँग की । महादजी को जब गोसाईं की इस चाल का पता चला तब उसने अपनी फौज को दोआब की तरफ भेजा । गोसाइयों ने पहले तो मरहठा फौज को पराजित कर दिया, परंतु बाद में उमरावगीर अपनी सेना के सहित कासगंज की ओर भाग गया । लगभग एक साल तक गोसाईं लोग शांत रहे परंतु फिर इसके बाद उन्होंने महादजी को परेशान करना शुरू किया ।

राजपूतों से मुठभेड़—१७८७ ई० तक महादजी जयपुर के झगड़ों में फँसा रहा । इसके बाद उसने दक्षिण की ओर प्रयाण किया । १५ जून को

वह लालसोत नामक स्थान पर पहुँचा । इसके समीप ही राजपूतों के साथ उसका भयंकर युद्ध हुआ। इसमें दोनों ओर के बहुत-से सैनिक मारे गये। राजपूतों का प्रसिद्ध सहायक मुहम्मदबेग हमदानी भी युद्ध में मारा गया। बिना किसी हार-जीत के यह युद्ध समाप्त हुआ। अगस्त, १७८३ ई० को सिंधिया लड़ाई के मैदान से डीग की ओर लौट पड़ा।

जयपुर के साथ युद्ध में मरहठों की शक्ति को बड़ा धक्का पहुंचा और उत्तर भारत के बहुत से सिपाही सिंधिया की फौज से अलग हो गये । अब उसके शत्रुओं को अपना सिर उठाने का मौका मिला, परन्तु महादजी इससे निराश नहीं हुआ। डीग में वह अपनी सेना को सुसङ्गठित करने में लग गया। जाट राजा रणजीतसिंह ने उसकी पूरी तरह से सहायता की। १७८७ ई० में इस्माइलबेग नामक सरदार ने आगरा पर अधिकार कर लिया और सिंधिया की फौज को चम्बल के उस पार जाने पर विवश किया । रुहेला सरदार गुलामकादिर भी इस्माइलबेग से मिल गया । गुलामकादिर ने १६ अक्टूबर को दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। उसने मुगल बादशाह और उसकी बेगमों को भयंकर यातनाएं पहुँचाईं। बादशाह की आँखें निकाल कर उसने उसे अंधा कर दिया (१०-८-८८)। नौ सप्ताह तक गुलामकादिर के लोमहर्षक कांडों से दिल्ली नगर थर्रा उठा!

महादजी का दक्षिण की ओर जाना—महादजी अपनी परिस्थितियों के कारण मजबूर था। मुगल बादशाह ने रुहेलों के आक्रमण के पहले उससे सहायता की याचना की थी, परंतु महादजी उसे सहायता पहुँचा सकने में असमर्थ था। वह मालवा में सेना जुटाने और विरोधियों का सामना करने में लगा रहा। उसकी अनुपस्थिति में न केवल दिल्ली पर रुहेलों का अधिकार हो गया अपितु आगरा, कुम्हेर आदि इलाके भी इस्माइलबेग के कब्जे में चले गये। इस्माइलबेग ने भरतपुर पर भी आक्रमण किया (अप्रैल, १७८८ ई०)। परन्तु जाटों और मरहठों की सम्मिलित फौज ने उसे परास्त कर दिया। डीग के मैदान में मरहठा सरदार रानाखां ने जाटों के साथ मिलकर इस्माइलबेग को बुरी तरह हराया और उसे आगरा की ओर भगा दिया ।

मथुरा-वृन्दावन से मुगलों का हटना—महादजी के मालवा की ओर जाने पर उत्तर में जो अव्यवस्था फैल गई थी उसका लाभ उठा कर इस्माइलबेग ने मथुरा-वृन्दावन पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया

था । देवजी गवले नामक मरहठा सरदार पाँच हजार घुड़सवारों को लेकर मथुरा की ओर चल पड़ा । उसने इस्माइलबेग के द्वारा नियुक्त किये गये अधिकारियों को मथुरा से मार भगाया और फिर वृन्दावन पर भी अधिकार कर लिया। वृन्दावन में इस समय इस्माइलबेग के सात सौ सिपाही दो तोपों के साथ नियुक्त थे। मरहठा फौज को देखकर इन सिपाहियों ने यमुना पार कर भागने का प्रयत्न किया। उनमें से चार सौ आदमी मार डाले गये और बहुत से नदी में डूब कर मर गये।

इसके बाद देवजी चीरघाट होते हुए दोआब पहुंचा । मरहठों ने महावन से भी रुहेलों को मार भगाया (जून, १७८८ ई०) । दोआब के कई इलाकों पर अधिकार करने के बाद इस्माइलबेग को आगरा में बुरी तरह परास्त किया गया। इस युद्ध में मरहठों को ब्रज के जाटों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। जाट लोग अपने प्रदेश में विधर्मी आक्रान्ताओं का आधिपत्य सहन न कर सकते थे। साधारण जाट किसानों में भी स्वतंत्रता की भावना व्याप्त थी। मरहठों की फौज में भी इस समय देवजी तथा रानाखां जैसे योग्य नायक तथा कई फ्रांसीसी सेनापति थे। आगरा की हार से इस्माइलबेग को भारी क्षति पहुँची । उसकी सेना का एक बड़ा भाग समाप्त कर दिया गया और लड़ाई का बहुत सा सामान मरहठों के हाथ लगा। इस विजय से उत्तर भारत पर मरहठों का सिक्का फिर जम गया।

गुलामक़ादिर—दिल्ली पर गुलामकादिर का आधिपत्य कुछ समय तक हो गया था । मरहठों की सेना उत्तर की ओर बराबर बढ़ती गई। जब गुलामकादिर ने यह सुना कि मरहठे मथुरा तक पहुंच गये तब वह तथा इस्माइलबेग बहुत घबड़ा गये। वे दिल्ली आ गये और बादशाह के कुछ सरदारों की सहायता से उन्होंने बादशाह की फौज को परास्त कर दिया। गुलाम कादिर का आधिपत्य लगभग ढाई महीने तक दिल्ली पर रहा। वह चाहता था कि तैमूर के वंश का सर्वनाश हो जाय और इसीलिए उसने शाहआलम और उसके वंशजों पर अमानुषिक अत्याचार किये। उसने शाहआलम के स्थान पर बिदारबख्त को दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिया (३१-७-१७८८)।

मरहठों का दिल्ली पर पुनः अधिकार—अक्टूबर, १७८८ ई० में रानाखां और जिव्वा दादा के नेतृत्व में मरहठा सेना ने रुहेलों को परास्त कर दिल्ली शहर और किले पर पुनः अपना अधिकार कर लिया । सिंधिया का

झंडा फिर से दिल्ली के किले पर फहरने लगा। रानाखां ने बादशाह से भेंट कर उसे धीरज बँधाया (१६-१०-८८)। हिम्मतबहादुर गोसांई कुछ समय पहले ही बादशाह का सहायक बन गया था।

गुलामक़ादिर का अंत—रानाखां ने अब दोआब की ओर ध्यान दिया। रुहेला सरदार गुलामकादिर से उसकी कई बार मुठभेड़ें हुईं। रानाखाँ को इन युद्धों में बेगम समरू से बड़ी सहायता मिली। २० अक्टूबर को मरहठा फौज ने अलीगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। गुलामकादिर अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर भागता रहा। अन्त में वह पकड़ा गया और महादजी सिंधिया के पास मथुरा भेज दिया गया (३१-१२-८८)। बादशाह शाहआलम ने महादजी को लिखा कि अत्याचारी रुहेले की आँखें निकाल ली जायँ। फलतः गुलामकादिर अंधा किया गया और फिर हलालकर मार डाला गया।

महादजी सिंधिया और ब्रज—गुलामकादिर के पतन के बाद महादजी का प्रभुत्व उत्तर भारत में पुनः स्थापित हो गया। उसने मथुरा को अपना केंद्र बनाया। मथुरा और ब्रज के अन्य स्थानों से महादजी को बड़ा प्रेम था। उसने ब्रज के मंदिरों को उन्मुक्त हस्त से दान दिया और यहाँ के अनेक तीर्थस्थलों का पुनरुद्धार कराया। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के समीप विशाल पोतराकुंड का पुनर्निर्माण सिंधिया के द्वारा ही कराया गया। इस कुंड के किनारे बैठकर महादजी अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की स्तुति के पद गाया करते थे। उनकी इच्छा थी कि जन्मस्थान पर भगवान् केशव के मंदिर का निर्माण फिर से किया जाय, पर अनेक कारणों से यह इच्छा पूरी न हो सकी।

१७८९ ई० में पूना से महादजी को यह आदेश मिला कि शाही फर्मान द्वारा ब्रज के समस्त तीर्थस्थानों को पेशवा के शासन के अंतर्गत कर दिया जाय। महादजी ने इस ओर अपना ध्यान दिया। उस समय ब्रज के अनेक स्थान जागीर रूप में दूसरों के अधिकार में थे। ये जागीरें बहुत पहले से चली आती थीं। धीरे-धीरे महादजी के प्रयत्न से मथुरा और उसके आस-पास का प्रदेश पेशवा के प्रतिनिधियों को सौंप दिया गया (जनवरी, १७९१)।

महादजी की बीमारी—१७८९ ई० की ग्रीष्म ऋतु में महादजी मथुरा में सख्त बीमार पड़ा। उसके वैद्यों और हकीमों ने जवाब दे दिया। उन्होंने बताया कि सिंधिया को वास्तव में कोई रोग नहीं है, बल्कि वह किसी

जादू के प्रभाव से पीड़ित है । वृन्दावन की एक जादूगरनी ने स्वीकार किया कि उसने गोसाईं हिम्मतबहादुर के कहने से सिंधिया पर जादू किया है। जब उसे पुष्कल पुरस्कार का लालच देकर रोग-निवारण का उपाय करने के लिए कहा गया तब उसने वैसा ही किया और सिंधिया का रोग छू-मंतर हो गया !

स्वस्थ होने पर महादजी ने गोसाईं को दंड देने का निश्चय दृढ़ किया। उसने हिम्मतबहादुर को बुलवाया, पर वह चालाकी से निकल कर अलीबहादुर की शरण में चला गया । महादजी ने अलीबहादुर को कहलाया कि वह गोसाईं को वापस कर दे। परंतु पूना दरबार की ओर से इसका विरोध किया गया। इससे सिंधिया और अलीबहादुर के बीच मनमुटाव पैदा हो गया और सिंधिया के सम्मान को भी बड़ा धक्का पहुँचा।

मरहठा सरदारों में मतभेद—इस घटना का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। उक्त दोनों मरहठा सरदारों में आपसी मतभेद बढ़ता गया। तुकोजी होल्कर को पूना से इसलिए भेजा गया कि वह उत्तर भारत में महादजी की सहायता कर मरहठा-शक्ति को बढ़ा दे। परंतु तुकोजी मथुरा के समीप पहुँच कर अली-बहादुर से मिल गया और सिंधिया का विरोध करने लगा। यह विरोध बढ़ता ही गया। होल्कर सिंधिया से उत्तर भारत के इलाकों में अपना हिस्सा माँगने लगा। महादजी द्वारा वस्तुस्थिति के समझाने पर भी उलझन दूर न हुई। इधर जयपुर, जोधपुर आदि के राजपूत सिंधिया से पहले से ही नाराज थे। पूना दरबार भी अब महादजी के प्रतिकूल हो गया । इससे महादजी के सामने गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो गईं और भारत पर दृढ़ मरहठा शासन स्थापित करने का उसका विचार स्वप्नमात्र रह गया ।

सिंधिया-होल्कर युद्ध—सिंधिया और होल्कर के बीच मतभेद यहाँ तक बढ़ता गया कि दोनों में युद्ध अनिवार्य हो गया । १७९३ ई० में लाखेरी की लड़ाई में दोनों पक्षों की बड़ी हानि हुई । इस युद्ध में होल्कर की हार हुई। अब आपसी वैमनस्य और भी बढ़ा । मरहठा-शक्ति को संगठित करने और भारत पर बढ़ते हुए विदेशी प्रभुत्व को रोकने के बजाय मरहठा सरदार गृह-कलह में बुरी तरह फँस गये । पूना-केंद्र से अब तक जो नियंत्रण एवं मार्ग-निर्देशन प्राप्त थे, वे भी समाप्तप्राय हो गये। इधर अंग्रेज अपनी सुसंग-ठित सेना को अधिक शक्तिशाली बना कर भारत पर पूर्ण रूप से बृटिश सत्ता जमाने का प्रयत्न करते जा रहे थे।

महादजी की मृत्यु— महादजी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि मरहठा नेताओं के आपसी विवादों का अन्त होकर एक बार फिर मरहठा-शक्ति को संगठित किया जाय। इसके लिए वह पूना दरबार भी गया। परंतु वहाँ नाना फड़नीस आदि के द्वारा उसका जो निरादर किया गया उससे महादजी की आशाओं पर तुषारपात हो गया। अन्त में १२ फर्वरी, १७९४ ई० के दिन अनेक समरों का विजेता एवं कुशल राजनीतिज्ञ महादजी परलोक सिधारा। उसके बिदा होते ही मरहठा-साम्राज्य स्थापित करने की आशा भी भंग हो गई।

इसी वर्ष पेशवा की भी मृत्यु हो गई (अक्टूबर, १७९५ ई०) और इस पद के लिए पूना में षड्यंत्र शुरू हुए। चिमनाजी को अब नया पेशवा बनाया गया, परंतु कुछ दिन बाद ही बाजीराव द्वितीय इस पद पर बैठाया गया। इसी साल अहल्याबाई का स्वर्गवास (१३-८-९५) होने पर तुकोजी होल्कर उसका उत्तराधिकारी हुआ। दो वर्ष बाद उसकी मृत्यु होने पर कुछ गृह-कलह के अनंतर यशवंतराव होल्कर गद्दी का स्वामी हुआ। इधर महादजी का उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया हुआ। इन दोनों मुख्य घरानों के बीच आपसी वैमनस्य ने इतनी मजबूत जड़ें जमा लीं कि उनका निर्मूलन संभव न हो सका। इस वैमनस्य का जो फल भारत को भुगतना पड़ा वह इस देश के इतिहास की एक अत्यंत शोचनीय घटना है ! इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अठारहवीं शती के अंत में ब्रज की दशा—मरहठा शासन-काल में ब्रज की दशा का कुछ परिचय तत्कालीन मरहठा कागजातों तथा विदेशी लेखकों के विवरणों से प्राप्त होता है। १७९२ ई० के प्रारम्भ में महादजी उत्तर भारत से पूना की ओर गया था। उस समय उत्तर के छह प्रांतों में से प्रत्येक का शासन-प्रबंध एक सूबेदार के अधीन था। ये सूबे इस प्रकार थे—(१) दिल्ली, (२) पानीपत, (३) हरियाना, (४) उत्तरी दोआब, (५) मध्य दोआब, (६) मालवा। ब्रज प्रदेश मध्य दोआब के अंतर्गत था, जिसका केंद्र कोयल (अलीगढ़) था। मध्य दोआब की सालाना आमदनी इस समय पैंतीस लाख रुपया थी। द-ब्वाञ नामक एक वीर फ्रांसीसी अफसर को ब्रज का अधिकांश भाग जागीर में दिया गया था। उसने मरहठा-प्रशासक गोपाल भाऊ के साथ मिलकर दोआब की बड़ी कुशलता के साथ रक्षा की। पूर्व

में अंग्रेज तथा उत्तर-पश्चिम में सिक्ख अपना आधिपत्य बढ़ाने की ताक में थे। इनसे तथा जार्ज टामस-जैसे लुटेरों से मरहठा राज्य की रक्षा करना उस समय बहुत आवश्यक था। १७९४ ई० में महादजी की मृत्यु हुई और इसी वर्ष के अन्त में द-ब्वाञ भी भारत से चला गया। अब सिंधिया की ओर से लखवा दादा उत्तर भारत का प्रशासक नियुक्त हुआ। यद्यपि लखवा योग्य और जनप्रिय शासक था तो भी तत्कालीन परिस्थितियों के कारण और मुख्यतया केंद्र से कोई सहयोग न मिलने से वह शासन को ठीक प्रकार से सँभाल न सका। उसके समय में अन्य प्रदेशों की तरह ब्रज में भी थोड़ी-बहुत अव्यवस्था का होना स्वाभाविक था।

महादजी तथा लखवा दादा को मथुरा एवं ब्रज के अन्य तीर्थस्थानों से बहुत प्रेम था। उन्होंने ब्रज के इन स्थलों की रक्षा के लिए अनेक कार्य किये। अहल्याबाई का नाम भी इस संबंध में उल्लेखनीय है। काशी की तरह मथुरा-वृन्दावन के अनेक मंदिरों-घाटों आदि के लिए इस धर्मपरायणा रानी ने दान दिये। अठारहवीं शती में, जब तक ब्रज पर मरहठों का शासन दृढ़ रहा, यहाँ पहले-जैसी लूट-मार या विध्वंस के कांड नहीं हुए और यहाँ की सांस्कृतिक महत्ता प्रायः अक्षुण्ण बनी रही।

मरहठों का पतन—महादजी के शासन-काल में मरहठों की शक्ति को अँग्रेज भली भाँति जानते थे। अतः उन्होंने मरहठों से खुलकर युद्ध करने का साहस नहीं किया। इस महान् सेनानी की मृत्यु के बाद मरहठा-राज्य पर काले बादल मँडराने लगे। मरहठों की आपसी कलह, योग्य नेताओं का अभाव तथा सैनिक शक्ति का ह्रास—ये तीन प्रमुख कारण थे जिन्होंने मरहठा संगठन को विशृङ्खलित कर दिया। १९वीं शती का प्रारंभ मरहठा-शक्ति के नाश का सूचक हुआ। यशवंतराव होल्कर ने अपना प्रभुत्व बढ़ाने की लालसा में अपनी फौज द्वारा दक्षिणापथ को रौंदवा डाला। उसकी अदूरदर्शिता के कारण महाराष्ट्र का पतन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगा। पूना में जब बाजीराव पेशवा ने होल्कर से अपने बचाव का कोई उपाय न देखा तब उसने अंग्रेजों के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया! ३१ दिसंबर, १८०२ ई० का दिन मरहठा-इतिहास में बड़ा अभागा दिवस हुआ। इसी दिन पेशवा ने बसीन में संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर अपने को पूर्णतया अंग्रेजी संरक्षता में सौंप दिया। अब अंग्रजी सेना पूना की ओर चल पड़ी और उसने पुनः बाजीराव को पेशवा की गौरवशून्य गद्दी पर ला बिठाया (१३-५-१८०३)।

अंग्रेजों की शक्ति का प्रसार—इस समय भारत में अंग्रेज गवर्नर जनरल वेलेजली था, जो अपनी कूटनीति के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। १७६६ ई० में टीपू की मृत्यु के बाद तथा हैदराबाद के निजाम को अपना स्थायी सहायक बना लेने के बाद अंग्रेज दक्षिण की ओर से बहुत-कुछ निश्चिंत हो गये। अब उन्होंने मरहठा राज्य के चारों ओर से घेराबंदी शुरू कर दी।

१० नवंबर, १८०१ ई० को अवध के नवाब सआदतअलीखां के साथ संधि कर अंग्रेजों ने नवाब से रुहेलखंड, मैनपुरी, इटावा, कानपुर, फर्रुखाबाद, इलाहाबाद, आजमगढ़, बस्ती और गोरखपुर के जिले ले लिये। इन जिलों के मिल जाने से अंग्रेजों को बड़ा लाभ हुआ। इन सब जिलों को एक में मिला कर इनमें नई शासन-व्यवस्था प्रारम्भ की गई, जो जनता के लिए बड़ी आकर्षक प्रतीत हुई। अनेक स्थानों पर मेले, बाजार आदि के आयोजन किये गये। इसका फल यह हुआ कि सिंधिया के अधीन दोआब से बहुत से व्यापारी एवं अन्य लोग अंग्रेजी राज्य में चले गये। हाथरस के बहुत से बनिये उधर जा बसे। इटावा शहर में रुई की एक बड़ी मंडी स्थापित की गई, जो प्रमुख आकर्षण का केन्द्र बनी।

मरहठा-अंग्रेज युद्ध—अंग्रेजों ने अब मरहठों के विरुद्ध पूरी सैनिक तैयार कर ली। लार्ड लेक ने सेना को नये ढंग का प्रशिक्षण दिया। वेलेजली ने एक व्यवस्थित योजना तैयार कर ली कि युद्ध का प्रारंभ और संचालन किस प्रकार से किया जाय। उसने एक चालाकी का कार्य यह भी किया कि जो योग्य युरोपीय अफसर सिंधिया की फौज में थे उन्हें लालच देकर अपनी ओर मिला लिया। बहुत से हिंदुस्तानी सिपाही भी इस प्रकार के प्रलोभनों में फंस कर अंग्रेजों के सहायक बन गये। मरहठों की जो सेना द-ब्वाञ के द्वारा तैयार की गई थी वह पिछले सात वर्षों में पेरों-जैसे अयोग्य सेनापतियों के नेतृत्व में बिगड़ चुकी थी। उसमें पहले-सी तेजी, हिम्मत और चालाकी न रह गई थी।

अलीगढ़ और आगरा की विजय—इस परिस्थिति का लाभ उठा कर लेक ने कोयल (अलीगढ़) में पेरों द्वारा संचालित मरहठा फौज को गहरी हार दी (२९ ८-१८०३)। अलीगढ़ का किला अब अंग्रेजों के हाथ लगा। पेरों अलीगढ़ से भाग कर मथुरा आया। यहाँ उसने कुछ फौज इकट्ठी की। परन्तु उसके मिथ्या आचरण के कारण सेना ने उस पर अपना विश्वास खो

दिया । सितंबर, १८०३ ई० में लेक ने दिल्ली को विजित किया। मुगल बादशाह शाहआलम ने अपने को अब अंग्रेजों के हाथ सौंप दिया (१६-६-०३)। २ अक्टूबर को मथुरा और १८ को आगरा पर अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित हो गया । इस प्रकार उत्तर भारत के तीन प्रधान किलों—दिल्ली, अलीगढ़ और आगरा पर उनका कब्जा हो गया। नवंबर मास में लासवाड़ी का भीषण युद्ध हुआ, जिसके अन्त में सिंधिया की फौज परास्त हुई और मरहठा शक्ति को गहरा धक्का पहुँचा। इस युद्ध में भरतपुर और अलवर के जाट सिपाहियों को अंग्रेजों की ओर से लड़ना पड़ा, क्योंकि जाट-राजा ने कुछ दिन पहले अंग्रेजों से संधि कर ली थी।

सन्धि— लासवाड़ी के ऐतिहासिक संग्राम के अतिरिक्त दक्षिण में भी असई की लड़ाई में मरहठों की पराजय हुई । गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा आदि के अनेक मरहठा गढ़ एक के बाद एक अंग्रेजों के हाथ पड़ते गये। १७ दिसंबर, १८०३ को नागपुर के मरहठा शासक रघुजी भोंसले ने देवगाँव की संधि द्वारा अपने राज्य का बड़ा भाग अंग्रेजों के हवाले कर दिया और उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद ही ३० दिसंबर को दौलतराव सिंधिया और अंग्रेजों के बीच सर्जी अंजनगाँव की संधि हुई । इसके अनुसार सिंधिया को गंगा-यमुना दोआब का सारा इलाका पूर्णतया ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप देना पड़ा। अन्य कई किले और इलाके भी उसे अंग्रेजों को देने पड़े तथा अधीनता की शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं।

ब्रज प्रदेश पर बृटिश आधिपत्य—इस प्रकार सर्जी अंजनगावं की संधि से ब्रज प्रदेश पर से मरहठों के शासन का अन्त हुआ (३०–१२–१८०३)। अब मथुरा, आगरा, अलीगढ़ आदि के जिले पूर्णतया बृटिश शासन के अन्तर्गत आ गये। भरतपुर, अलवर, धौलपुर, करौली तथा ग्वालियर पर अब भी देशी शासकों का अधिकार रहा, परन्तु उनकी स्वतंत्रता सीमित कर दी गई। उक्त संधि के समय भरतपुर के शासक रणजीतसिंह थे। सिंधिया का जो अधिकार मुगल सम्राट् पर था वह भी उक्त संधि के पश्चात् समाप्त हो गया। अब मुगल बादशाह की स्थिति नगण्य हो गई और वह पूरी तौर पर बृटिश संरक्षण में आ गया।

विदेशी यात्री का विवरण—विवेच्य काल में कई विदेशी यात्री ब्रज में आये। उनमें से कुछ ने मथुरा तथा अन्य स्थानों का वर्णन किया है। १७४३ ई० में जॉसेफ टीफेन्थैलर नामक एक फ्रांसीसी यात्री भारत आया

और वहाँ बहुत वर्षों तक रहा। वह मथुरा में भी आया और यहाँ के अनेक स्थानों का उसने हाल लिखा। गोकुल की बाबत वह लिखता है—"यहाँ की स्त्रियों की शादी यहीं हो जाती है, बाहर नहीं की जाती।"[१०] शायद उसने भूल से मथुरा के स्थान पर गोकुल लिख दिया है, पर हो सकता है कि अब से लगभग दोसौ वर्ष पहले गोकुल में वह प्रथा रही हो जो अब तक मथुरा के चौबों में चली आती है। मथुरा नगर का वर्णन करते हुए यह यात्री लिखता है—"यहाँ की गलियाँ सँकड़ी और गंदी हैं और शहर की अधिकांश इमारतें टूटी-फूटी हैं। किला बहुत बड़ा और विशाल है, मानों कामदार पत्थरों का पर्वत हो। उस पर एक वेधशाला है, जो जयपुर की वेधशाला की एक छोटी प्रतिकृति है। पर इसमें एक खूबी यह है कि यह बहुत उँचाई पर स्थित है।"[११] इस यात्री ने मथुरा के विश्रांत घाट की प्रशंसा की है।[१२]

वृन्दावन की बाबत टीफेन्थैलर लिखता है कि "इस नगर में केवल एक बड़ी सड़क है, जिसके दोनों ओर सुन्दरता के साथ उकेरे हुए पत्थरों की बढ़िया इमारतें हैं। ये हिंदू राजाओं तथा सरदारों द्वारा या तो केवल शोभा के लिए या यदा-कदा निवास के हेतु अथवा धार्मिक प्रयोजन के लिए बनवाई गई थीं।" इस यात्री को वृन्दावन की धार्मिकता अच्छी नहीं लगी; उसने यहाँ धर्मार्थ आने वाले यात्रियों की तीखी एवं कटु आलोचना की है।[१३]

---

१०. ग्राउज—मेम्वायर, पृष्ठ १० (नोट)।

११. इस यात्री के समय में मानसिंह के द्वारा १६वीं शती के अंत में निर्मित किले की दशा अवश्य ही अच्छी रही होगी। सवाई राजा जयसिंह (१६९९–१७४३ ई०) द्वारा उसके ऊपर बनवाई गई वेधशाला इस यात्री के मथुरा आगमन के समय नवीन अवस्था में रही होगी।

१२. ग्राउज—वही, पृष्ठ १४१ (नोट)।

१३. ग्राउज—वही, पृष्ठ १७४।

अध्याय १३

बृटिश शासन-काल

[१८०३ से १९४७ ई० तक]

१८०३ ई० के अन्त में अंग्रेज़ वर्तमान मथुरा जिला तथा उसके आस-पास के इलाके के स्वामी बन गये। मथुरा के जो परगने ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में आये वे नोहझील, सौंसा, मांट, सादाबाद, सहपऊ, महावन और मथुरा थे। इन सब परगनों की सालाना आमदनी लगभग छह लाख रुपए थी। दोआब तथा यमुना नदी के पश्चिम में भरतपुर के राजा रणजीतसिंह की जमींदारी का इलाका भी अंग्रेजों के हाथ लगा, जिसकी वार्षिक आय १३,२९,३७०) थी। मरहठों ने १७८४-८५ ई० में रणजीतसिंह को डीग आदि ११ परगने दिये थे, जिनकी आय लगभग दस लाख रुपये थी। अब अंग्रेजों के साथ रणजीतसिंह ने जो संधि की (२९-९-१८०३), उसके अनुसार उसे लगभग चार लाख रुपये आमदनी के कई और परगने प्राप्त हुए। भरतपुर नरेश की 'स्वतंत्र सत्ता' भी स्वीकार कर ली गई और बदले में उसने बृटिश सरकार का सहायक होना मंजूर कर लिया।

होल्कर से युद्ध—यशवंतराव होल्कर अब भी अंग्रेजों की आँख का काँटा था। होल्कर ने लार्ड लेक से दोआब तथा बुंदेलखंड के अपने बारह जिले और हरियाना के जिले वापस करने की प्रार्थना की, जो अस्वीकृत हुई। जब होल्कर को यह मालूम हुआ कि उसकी फौज के कई अंग्रेज अफसर कंपनी से मिलकर षड्यंत्र कर रहे हैं, तब उसने तीन ऐसे अफसरों को फाँसी दिला दी। यशवंतराव ने अब अंग्रेजों से युद्ध करने का निश्चय किया। वह उनकी ताकत जानता था, अतः उसने मरहठा, जाट, राजपूत, बुँदेले, सिक्ख, रुहेले और अफगान—इन सब लोगों में एका करने की चेष्टा की। इसमें संदेह नहीं कि यदि ये सभी मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध खड़े हो जाते तो भारत में बृटिश साम्राज्य स्थापित करने के सारे प्रयत्न धूल में मिल जाते। परंतु यह संभव न हो सका; होल्कर अपेक्षित सहायता प्राप्त करने में असफल हुआ।

यशवंतराव इससे निराश नहीं हुआ। उसने युरोपीय ढंग की अपेक्षा मरहठा शैली से ही लड़ने का निश्चय किया और पूर्वी राजस्थान में एक मज-

बूत मोर्चा बनाया। लार्ड वेलेजली ने अपने भाई आर्थर एवं लेक, मौनसन तथा अन्य कई सेनापतियों के नेतृत्व में अपनी फौजें तैयार कराईं और होल्कर को चारों ओर से घेर लेने की आज्ञा दी। परंतु होल्कर बड़ी कुशलता से अपना बचाव करता रहा। बुंदेलखंड और मालवा में कई स्थानों पर कशमकश हुई। कोंच की अंग्रेजी छावनी को पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। सिंधिया की कुछ सेना तथा अंग्रेजों की भारतीय पल्टन के बहुत से सिपाही होल्कर के साथ मिल गये।

मथुरा और भरतपुर का घेरा—भरतपुर का राजा रणजीतसिंह अब होल्कर का पक्षपाती हो गया था। १५ सितम्बर, १८०४ ई० को यशवंतराव ६०,००० घुड़सवार, १५,००० पैदल तथा १९२ तोपों सहित मथुरा आया। कर्नल ब्राउन की अध्यक्षता में जो अंग्रेजी सेना मथुरा में थी वह डर कर आगरा भाग गई। उसका सारा सामान होल्कर के हाथ लगा। मथुरा पर उसका अधिकार कुछ ही दिनों तक रहा। ४ अक्टूबर को लार्ड लेक सिकन्दरा होते हुए मथुरा आ पहुँचा और उसने नगर पर फिर अपना कब्जा कर लिया। होल्कर दिल्ली की ओर चला गया और उसे घेर लिया। परंतु वह दिल्ली को न जीत सका और दोआब में चला गया। लेक के उधर जाने पर होल्कर डीग आ गया और फिर भरतपुर किले में शरण ली। लेक ने अब भरतपुर किले का घेरा डाल दिया। उसने इस मजबूत किले को जीतने का बड़ा प्रयत्न किया, परंतु सफल न हो सका। अब मरहठे मिलकर एक होने की बात सोचने लगे। इस पर लेक ने भरतपुर का घेरा उठा कर जाट राजा रणजीतसिंह के साथ संधि कर ली।

रणजीतसिंह को २० लाख रुपया हर्जाना देना पड़ा और सोंख, सोंसा, सहार आदि कई परगने अंग्रेजों को वापस करने पड़े। गोवर्धन का परगना रणजीतसिंह के पुत्र लक्ष्मणसिंह के अधिकार में रहा। डीग के किले पर अंग्रेजी फौज रखदी गई।

इस संधि के कारण होल्कर को ब्रजभूमि छोड़कर दक्षिण की ओर चला जाना पड़ा। ब्रज और बुंदेलखंड की सीमा पर वह दौलतराव सिंधिया से मिला। पेशवा और भोंसला के दूत भी वहीं होल्कर से मिले। होल्कर अब मरहठा शक्ति को संगठित कर अंग्रेजों से मुकाबला करना चाहता था। लेक को जब यह ज्ञात हुआ तब वह भरतपुर से ग्वालियर की ओर चल पड़ा। उसके धौलपुर पहुंचने पर बहुत-से मरहठा सरदार सिंधिया से अलग होगये।

इससे बाध्य होकर सिंधिया को लेक के साथ सुलह रखनी पड़ी। होल्कर अब अजमेर की ओर चला गया। अंग्रेजी सेना भी अब यमुना के पश्चिम में कई स्थानों में बँट गई। ये स्थान फतहपुर सीकरी, आगरा, मथुरा, सिकन्दरा, डीग आदि थे।

जुलाई, १८०५ ई० में वेलेजली के स्थान पर कार्नवालिस गवर्नर जनरल बना कर भारत भेजा गया। इसके पहले मरहठा संघ को फोड़ने की अनेक चेष्टाएं अंग्रेजों द्वारा की जा चुकी थीं। कार्नवालिस ने सिंधिया को गोहद और ग्वालियर के इलाकों का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया। अब होल्कर अकेला रह गया। उसे राजपूतों से भी मदद न मिल सकी। सिक्खों की सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से वह अमृतसर पहुंच गया। अमृतसर में जब सिक्ख सरदारों की संगत जुटी तब उनमें कुछ लोगों ने मरहठों से मिलने का और कुछ ने अंग्रेजों का साथ देने का समर्थन किया। सरदार रणजीतसिंह का प्रभाव इस समय पंजाब में अधिक था। वह पंजाब में सिक्ख शासन को दृढ़ करना चाहता था और अंग्रेज-मरहठों के झगड़ों से बचना चाहता था। यशवंतराव को जब पंजाब में कोई सहायता प्राप्त न हुई तब वह अफगानों से सहायता प्राप्त करने के लिए पेशावर की ओर जाने लगा। इसी बीच लेक ने उसे संदेश भेजा कि यदि होल्कर लौट आवे तो उसके सारे इलाके वापस दे दिये जायँगे। इस आधार पर दोनों में संधि होगई (दिसंबर, १८०५ ई०)।

परंतु यह संधि अधिक दिन तक कायम न रह सकी। लेक ने होल्कर को परास्त करने की तैयारी पूरी कर ली। भरतपुर के राजा रणजीतसिंह ने भी उसे सहायता दी। डीग का किला अब लेक ने रणजीतसिंह को सौंप दिया। ७ दिसंबर, १८०५ ई० को अंग्रेजी तथा जाट फौजें ब्यास नदी के तट पर पहुँच गई और वहाँ होल्कर की फौज से मुकाबला हुआ। होल्कर अपनी सीमित सेना के साथ कितने दिन लोहा ले सकता था? अन्त में ६ जनवरी, १८०६ ई० के दिन होल्कर को अंग्रेजों से संधि कर लेनी पड़ी। इस संधि के अनुसार उसका बहुत बड़ा इलाका अंग्रेजों को मिला। चंबल नदी के उत्तर का तथा बुंदेलखंड का सारा प्रदेश, जो अब तक होल्कर के अधिकार में था, उसके हाथ से जाता रहा। मरहठा-शक्ति का यह अन्तिम विनाश था। इसके बाद मरहठों की ताकत इतनी पंगु बना दी गई कि वे राजनैतिक शक्ति के रूप में फिर कभी न उठ सके। १८०८ ई० से यशवंतराव विक्षिप्त रहने लगा और १८११ में इस संसार से विदा हो गया। उसके बाद अमीरखां

नामक एक पठान सरदार, जो अंग्रेजों का आदमी था, यशवंत के पुत्र के अभिभावक रूप में होल्कर राज्य का मालिक बन गया।

मथुरा जिला—होल्कर-युद्ध के समय से मथुरा शहर को एक फौजी अड्डा बना दिया गया, तब से यहाँ बराबर सैनिक छावनी रही है। १८२४ ई० के पहले वर्तमान मथुरा जिले का कुछ भाग आगरा जिले के अन्तर्गत था और शेष भाग सादाबाद केंद्र द्वारा शासित होता था। १८२४ ई० में मथुरा का नया जिला बनाया गया और उसका केंद्र सादाबाद ही रखा गया। १८३२ ई० में जिले की सीमाओं में कुछ परिवर्तन किये गये और केन्द्र सादाबाद के स्थान पर मथुरा नगर को बनाया गया। उस समय मथुरा जिले में ८ तहसीलें थीं—अड़ींग, सहार, कोसी, मांट, नोहझील, महावन, सादाबाद और जलेसर। १८६० ई० में नोहझील को मांट तहसील में मिला दिया गया। १८६८ ई० में अड़ींग को समाप्त कर मथुरा तहसील बना दी गई। कालांतर में कोसी, सहार और महावन की तहसीलों को भी तोड़ दिया गया और जिले में केवल चार बड़ी तहसीलें—छाता, मथुरा, मांट और सादाबाद रह गईं। जलेसर तहसील को पहले आगरा और फिर एटा जिले में मिला दिया गया।

मथुरा जिला की तरह आगरा, इटावा, मैनपुरी, एटा, अलीगढ़ और बुलंदशहर जिलों में भी समय-समय पर अनेक परिवर्तन किये गये।

भरतपुर की दशा—१८०५ ई० में भरतपुर के शासक रणजीतसिंह की मृत्यु हुई। उसके चार पुत्र—रणधीर, बलदेव, हरिदेव और लक्ष्मण थे। बड़ा पुत्र रणधीर राज्य का स्वामी हुआ और उसने १८२३ ई० तक शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई बलदेवसिंह उत्तराधिकारी हुआ। केवल डेढ़ वर्ष राज्य करने के बाद उसका देहावसान हुआ। गोवर्धन में मानसी गंगा के पास इन दोनों शासकों की कलापूर्ण छतरियाँ दर्शनीय हैं। बलदेवसिंह की मृत्यु के समय उसका पुत्र बलवंतसिंह केवल छह वर्ष का था। बृटिश सरकार की ओर से उसे ही राजा स्वीकार किया गया। पर लक्ष्मणसिंह के पुत्र दुर्जनसाल ने अपना अधिकार घोषित किया। उसके पक्ष में राज्य के अनेक सरदार भी थे। दिल्ली का अंग्रेज रेजीडेंट आक्टरलोनी बलवंतसिंह का पक्ष लेकर भरतपुर की ओर ससैन्य चल पड़ा। परन्तु गवर्नर जनरल ने उसे यह कह कर रोक दिया कि भरतपुर के घरेलू झगड़ों में पड़ना ठीक नहीं।

दुर्जनसाल को कई राजपूत राज्यों तथा मरहठा रियासतों का भी समर्थन प्राप्त था। अंग्रेजों को डर था कि दुर्जनसाल इन सब की सहायता से कहीं अपनी ताकत न बढ़ा ले। अतः चार्ल्स मेटकाफ की सलाह पर गवर्नर जनरल ने अपना पहला निश्चय बदल दिया और २०,००० फौज तथा १०० तोपों के सहित कंबरमियर को भरतपुर जाने का आदेश दे दिया। कंबरमियर ने ६ दिसम्बर, १८२५ ई० को मथुरा में सेना का नेतृत्व ग्रहण किया और पाँच दिन बाद भरतपुर की ओर चल पड़ा।

भरतपुर किले का पतन—इस समय भरतपुर का दुर्भेद्य दुर्ग भारत में प्रसिद्ध था। लार्ड लेक-जैसा वीर सेनानी चार बार प्रबल आक्रमण करने पर भी इस किले को भेद न सका था। इससे भारत ही नहीं, पड़ोसी देशों में भी भरतपुर के अजेय दुर्ग की ख्याति हो गई थी। १८१४ ई० में अंग्रेज नेपाल को अपनी शक्ति दिखाकर वहाँ के सरदारों पर अपना दबाव डाल रहे थे। उस समय सरदार भीमसेन थापा ने नेपालियों को यह कहकर जोश दिलाया—"मनुष्य का बनाया भरतपुर गढ़ तक अंग्रेज न जीत सके, हमारे पहाड़ों को तो भगवान् ने अपने हाथों बनाया है!"[1] इसी प्रकार अन्यत्र भी भरतपुर दुर्ग की चर्चा थी। अंग्रेजों का दाँत इस दुर्ग पर लगा हुआ था। वे भारत पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए इस किले को जीतना अत्यंत आवश्यक समझते थे। १८२५ ई० में उन्हें इसके लिए बहाना मिल गया। डेढ़ महीने के कड़े घेरे के बाद १८ जनवरी, १८२६ ई० को किला जीता गया। इस घटना का प्रभाव बरमा के युद्ध तक में पड़ा। जब वहाँ के राजा को पता चला कि भरतपुर किले को अंग्रेजों ने जीत लिया तब उसने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई जारी न रखकर संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। भरतपुर का किला अंग्रेजों के लिए निस्संदेह एक प्रमुख आखिरी दाँव था; जिसके जीतने पर उनकी प्रभुता भारत के एक बड़े भाग पर स्वीकार की जाने लगी।

इसके अनंतर दुर्जनसाल को कैद कर इलाहाबाद भेज दिया गया। ५ फर्वरी, १८२६ ई० को बलवंतसिंह का राज्याभिषेक धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उसकी माता अमृतकुँवर उसकी नाबालिगी में अभिभावका नियुक्त हुई। साथ ही राजा को अंग्रेज पोलिटिकल एजेन्ट की संरक्षता स्वीकार

---

१. दे० जयचंद्र विद्यालंकार—'इतिहास प्रवेश', चौथा संस्करण, (इलाहाबाद, १९५२ ई०) पृ० ६०९।

करनी पड़ी। २० फर्वरी को अंग्रेजी सेना ने भरतपुर छोड़ा। गोवर्धन का परगना, जो अब तक भरतपुर राज्य में सम्मिलित था, आगरा जिले में मिला लिया गया। बाद में उसे मथुरा जिले में जोड़ा गया।

१८२६ से लेकर १८५६ ई० तक के समय में ब्रज प्रदेश में भूमि-सुधार एवं सीमा-परिवर्तन संबंधी कतिपय बातों के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। अंग्रेज अब इस प्रदेश के स्वामी बन चुके थे। उनका प्रतिरोध करने वाला कोई न रह गया था। अपने शासन को दृढ़ बनाने में कंपनी सरकार अब पूरी तरह जुट गई। इसके लिए शासन-व्यवस्था संबंधी अनेक परिवर्तन ब्रज तथा अन्य प्रदेशों में किये गये।

प्रथम स्वतंत्रता-युद्ध और ब्रज— बृटिश शासन-प्रणाली ने तथा डलहौजी-जैसे गवर्नर जनरल की दुर्नीति ने विचारशील भारतीय नायकों तथा जनता में विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने की भावना उद्दीप्त कर दी। १८५१ ई० में पेशवा बाजीराव द्वितीय का बिठूर में देहांत हो गया। उसने नानासाहब नामक व्यक्ति को गोद लिया था। डलहौजी ने नाना को बाजीराव वाली पेंशन देना अस्वीकार कर दिया। यही नीति उसने झाँसी, नागपुर, सतारा आदि राज्यों के प्रति भी बरत कर भारतीय शासकों एवं जनता के असंतोष को बढ़ाया।

१८५५ ई० में नानासाहब, उसके मंत्री अजीमुल्ला तथा सतारा के एलची रंगो बापूजी ने भारत के सभी राज्यों को स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। दिल्ली में बहादुरशाह, कलकत्ते में अवध के पदच्युत नवाब वाजिदअलीशाह आदि भी इस योजना में शामिल हुए। सभी भारत-वासियों द्वारा मिलकर अंग्रेजों को भारत से निकालने की जोरदार अपील निकाली गई। ३१ मई, १८५७ का दिन स्वतन्त्रता-संग्राम को सभी मुख्य स्थानों में प्रारम्भ कर देने का दिवस निश्चित किया गया। भारतीय सैनिकों में गुप्त रूप से यह योजना संचारित कर दी गई।

परन्तु ३१ मई के पहले ही बारकपुर और मेरठ छावनियों के भारतीय सिपाही भड़क उठे। मेरठ के सिपाही १० मई को बलवा करके दिल्ली की ओर चल पड़े। दिल्ली के लाल किले और उसके शस्त्रागार पर उन्होंने अधिकार कर लिया। १६ मई तक दिल्ली में अंग्रेजी राज्य के सभी चिह्न नष्ट कर दिये गये। अंग्रेजों ने पंजाब के राजाओं की सहायता से पंजाब तथा दिल्ली में विप्लव दबाने की चेष्टा की। ३१ मई का दिन आते ही रुहेलखंड, दोआब तथा अवध के प्रायः प्रत्येक जिले में भारतीय सिपाहियों तथा प्रजा ने स्वाधीनता की

घोषणा कर दी और बादशाह बहादुरशाह का हरा झंडा फहराया। इसी प्रकार देश के अन्य कई भागों में भी स्वतन्त्रता की लहर फैल गई। नानासाहब, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बाँदा का नवाब तथा तात्या टोपे आदि वीर सेनानी अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े हुए। ग्वालियर में भी कंपनी की भारतीय सेना ने तत्कालीन सिंधिया राजा जयाजीराव को प्रेरित किया कि वह सेना का नेतृत्व कर आगरा, दिल्ली आदि पर चढ़ाई कर दे। परन्तु सिंधिया अपने मंत्री दिनकरराव की सलाह से सेना को बराबर टालता रहा।

५ जुलाई को नसीराबाद और नीमच की भारतीय पलटनें आगरा पहुँच गईं। अंग्रेजों ने किले के अन्दर शरण ली। इन 'विद्रोहियों' को दबाने के लिए भरतपुर की सेना बुलाई गई। परंतु उन सैनिकों ने अपने भारतीय भाइयों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। जयपुर और जोधपुर की सेनाओं ने भी ऐसा ही किया। ठीक नेताओं के अभाव में ये सेनाएँ स्वतंत्रता-संग्राम में अभीष्ट भाग न ले सकीं।

मथुरा में १६ मई को यह समाचार पहुँच गया था कि 'विद्रोही लोग दिल्ली से गुड़गावँ पहुँच कर वहाँ से आगरा की ओर बढ़ रहे हैं और भारतीय जनता उन्हें सहायता पहुंचा रही है।' उस समय मथुरा का कलेक्टर थार्नहिल था। भरतपुर से कप्तान निक्सन की अध्यक्षता में ३,००० सैनिक मथुरा आ गये। निक्सन यहाँ कुछ समय तक ठहरा। मथुरा के खजाने में इस वक्त सवा छह लाख रुपये थे। इस धनराशि को आगरा पहुंचाने का निश्चय किया गया। परंतु भारतीय सिपाही इसे आगरा ले जाने को तैयार न हुए। उन्होंने अंग्रेज नेता बर्ल्टन को मार कर खजाना लूट लिया। फिर जेल के कैदियों को छुड़ा कर वे दिल्ली की ओर चल पड़े। मथुरा-दिल्ली सड़क पर के गाँवों की भारतीय जनता तथा ब्रज के अन्य गाँवों के लोग स्वतंत्रता की भावना से अनुप्राणित थे। उन्होंने सैनिकों को दिल्ली की ओर बढ़ने में और सरकारी इमारतें नष्ट करने में सहयोग दिया। थार्नहिल कोसी की तरफ चला गया था, पर बढ़ते हुए विरोध को देखकर वह छाता लौट पड़ा। मथुरा और उसके आसपास कुछ समय के लिए अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया। मथुरा नगर तथा अन्य तीर्थस्थानों को बर्बादी से बचाया गया और शहर में लूटमार की घटनाएँ बहुत कम हुईं। मथुरा के सेठ-परिवार (विशेष कर सेठ गोविंददास तथा सेठ लक्ष्मीचंद) ने एवं हाथरस के राजा गोविंदसिंह ने अंग्रेजों की सहायता की; उन्होंने शांति स्थापित रखने में भी योग दिया।

विरोधी भारतीय लोग दिल्ली सड़क पर बढ़ते चले गये । निक्सन की भरतपुर-सेना ने जब भारतीयों से लड़ना नामंजूर कर दिया तब निक्सन खिन्न होकर अन्य अंग्रेज सैनिकों आदि के साथ दिल्ली की ओर भगा । इधर थार्नहिल मथुरा की ओर चल पड़ा । यहाँ पहुँचने पर जब उसने मथुरा की स्थिति प्रतिकूल देखी तब वह आगरा भाग गया । कुछ दिन बाद वह कुछ सैनिकों के साथ फिर मथुरा लौटा और सेठ-परिवार के संरक्षण में उन्हीं के यहाँ ठहरा । उसने सैनिक सहायता से धीरे-धीरे अपनी स्थिति दृढ़ कर ली और अनेक 'विद्रोहियों का कठोरता के साथ दमन किया ।' इस समय राया में देवीसिंह नामक सरदार प्रबल था; उसने अपने को 'राजा' घोषित कर दिया था । कुछ दिन बाद उसे पकड़ कर बड़ी क्रूरता के साथ मृत्यु-दंड दिया गया । थार्नहिल को कई बड़े जमीदारों से दमन-कार्य में सहायता मिली । जुलाई में फिर स्थिति गंभीर हो गई । नीमच और नसीराबाद की फौजें आगरा पहुँच गईं थीं और अलीगढ़ की ग्वालियर सेना भी बिगड़ गई थी । अब अंग्रेजों ने फिर मथुरा छोड़ने का निश्चय किया । अधिकांश लोग नावों द्वारा यमुना के रास्ते आगरा चल पड़े । थार्नहिल ने अपना वेष बदल कर अपने क्लर्क ज्वायस तथा दिलावरखाँ नामक एक विश्वस्त जमादार के साथ सड़क के मार्ग से आगरा को प्रस्थान किया और किसी प्रकार बचकर ५ जुलाई को वहाँ पहुँच गया । आगरा का एक भाग इसके पहले ही जल चुका था ।

नीमच और मुरार की भारतीय फौजें अगले दिन मथुरा पहुँच गईं, जहाँ स्थानीय जनता द्वारा उनका स्वागत हुआ । सेठ लोग मथुरा छोड़कर चले गये थे और उनका मुनीम मंगीलाल शहर में व्यवस्था सँभालने के लिए रह गया था । दो दिन तक मथुरा ठहरने के बाद फौजों ने दिल्ली की ओर प्रयाण किया । दिल्ली में कई महीने तक बादशाह बहादुरशाह तथा भारतीय सैनिकों का अधिकार रहा । परंतु योग्य नेतृत्व के अभाव में सारे किये-कराये पर पानी फिर गया । १४ सितम्बर को अंग्रेजी फौज ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और भयंकर संग्राम के बाद उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया । बादशाह के एक संबंधी ने धोखा देकर उसे अंग्रेजों के हवाले करा दिया । इसके बाद दिल्ली में कत्लेआम और बलात्कार का नग्न प्रदर्शन हुआ ! इतिहास-लेखक एलिफन्स्टन लिखता है कि 'अंग्रेजों ने नादिरशाह को मात कर दिया । सब ओर मुर्दों का बिछौना बिछा हुआ था । हमारे घोड़े इन्हें देखकर डर से भिड़कते थे ।' अपनी इज्जत बचाने के लिए कितनी ही स्त्रियाँ कुओं में गिर कर मर गईं । कई दिनों तक दिल्ली की खुली लूट होती रही ।

दिल्ली के बाद कानपुर, लखनऊ, झाँसी, रुहेलखंड आदि स्थानों में भी भारतीय क्रान्ति का अन्त किया गया और क्रान्तिकारियों को कठोर यातनाएं दी गईं। २६ सितम्बर को दिल्ली से लौटते हुए भारतीय सैनिक तथा अन्य लोग मथुरा पहुँचे और यहाँ लगभग एक सप्ताह रहे। ग्राउज तथा गजेटियर-लेखक ड्रेक ब्राकमैन ने इस बात का उल्लेख किया है कि मथुरा में क्रांतिकारियों को मथुरिया चौबों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई।[2]

मथुरा से क्रांतिकारी लोग हाथरस और बरेली की ओर चले गये। ब्रज के लोगों का जोश भी अब कम पड़ गया। सेठ-परिवार, जो सुरक्षा के लिए भरतपुर चला गया था, मथुरा लौट आया। थार्नहिल कर्नल काटन की फौज के साथ १ नवंबर को मथुरा पहुँचा। इस फौज ने कोसी तक पहुंच कर गूजरों को आतंकित किया। मथुरा, गुड़गाँव आदि के गूजरों ने ब्रज के स्वतंत्रता-युद्ध में प्रमुख भाग लिया था। छाता की सराय के एक भाग को तोड़ कर उस पर अब अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया। छाता नगर में आग लगा दी गई और वहाँ के प्रधान क्रान्तिकारियों को समाप्त किया गया। अलीगढ़ तथा दोआब के अन्य नगरो में भी इसी प्रकार कठोरता से दमन किये गये। जो क्रांतिकारी इधर पकड़े गये उन्हें मृत्यु-दंड दिया गया। १८५८ ई० की जुलाई तक सारे ब्रज में शांति स्थापित की गई। जिन लोगों ने इस स्वातंत्र्य-संग्राम में किसी प्रकार भी अंग्रेजों को सहायता पहुँचाई थी उन्हें पुरस्कृत किया गया। इस प्रकार भारत को विदेशी पंजे से मुक्त करने के लिए आयोजित प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध का अन्त हुआ। इसकी विफलता का मुख्य कारण विचारपूर्ण योजना तथा योग्य नेतृत्व का अभाव था। यद्यपि इस संग्राम में बनारस से लेकर दिल्ली तक के प्रदेश की प्रायः समस्त भारतीय जनता ने भाग लिया और बिहार, बुंदेलखंड, राजस्थान तथा महाराष्ट्र की जनता भी स्वातन्त्र्य के लिए बेचैन थी, परन्तु समुचित मार्ग-प्रदर्शन प्राप्त न होने के कारण यह महान् क्रांति असफल हुई।

कंपनी के शासन में ब्रज की दशा—१८५८ ई० तक भारत के अन्य प्रदेशों की तरह ब्रज पर भी ईस्ट इंडिया कम्पनी का आधिपत्य रहा। कम्पनी ने यहाँ के किसानों, कारीगरों और व्यापारियों पर अपने स्वार्थ के लिए जो अत्याचार किये वे किसी से छिपे नहीं हैं। किसानों से उनकी जमीन

---

२. ग्राउज—मेम्वायर, पृ० ४७; मथुरा गजेटियर, पृ० २१८।

की मिल्कियत छीन कर तथा देशी शिल्प और वाणिज्य पर कुठाराघात कर देश को सब प्रकार से पंगु बनाया गया। जमीन पर बढ़े हुए लगान के भार और दुर्भिक्षों से भारतीय किसान कराह उठे। मद्रास प्रांत की सरकारी रिपोर्ट में लगान वसूली के लिए प्रचलित यातनाओं का विवरण इस प्रकार मिलता है—

"धूप में खड़ा रखना, भोजन या हाजत के लिए न जाने देना, किसानों के मवेशियों को चरने न जाने देना, मुर्गा बनाना, अँगुलियों के बीच डंडियाँ डालकर दबाना, चमौटी, चाबुक की मार, दो नादिहंदों के सिर आपस में टकराना या दोनों को पीठ की ओर केशों द्वारा बाँध देना, शिकंजे में कसना, गधे या भैंस की पूँछ से बाल बाँध देना, इत्यादि।"[3]

इस प्रकार के जुल्म अन्य प्रदेशों में भी प्रचलित रहे। विविध देशी व्यवसायों के कारीगरों को इस काल में कठोर यातनाएं भोगनी पड़ती थीं। मुगल काल से ब्रज प्रदेश का आगरा नगर सफेद सूती और रेशमी वस्त्र-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ फीते और सोने-चाँदी का जरी का बढ़िया काम भी होता था। परन्तु भारत के अन्य व्यावसायिक केन्द्रों की तरह कम्पनी द्वारा आगरा के वस्त्र-उद्योग पर घातक प्रहार किया गया। कम्पनी ने यह नियम बना दिया था कि सूती, रेशमी तथा ऊनी कपड़े तैयार करने पर जुलाहे उन पर सरकारी मुहर लगवावें। इसके बाद ही वे कपड़े को बेच सकते थे। ऐसा न करने पर उन पर भारी जुर्माने होते और अन्य कठोर दंड दिये जाते थे। अंग्रेज व्यापारी बुनकरों को कच्चा माल देते और उनसे करार करवा लेते थे कि एक निश्चित अवधि के अन्दर अमुक परिमाण में कपड़ा अवश्य देना होगा। अवधि बीतने पर भी जब बुनकर लोग यथोक्त माल न दे सकते तब उन्हें विविध भाँति की यातनाएं सहनी पड़ती थीं। वे जब तक वादे के अनुसार पूरा तैयार माल न दे देते तब तक वे अंग्रेजों के कर्जदार माने जाते थे। कानून इस प्रकार बना दिया गया था कि इन ऋणी जुलाहों या अन्य ऐसे शिल्पियों को कोई दूसरा व्यक्ति किसी प्रकार का संरक्षण न दे सकता था और न उनसे कोई काम ले सकता था। जब तक इन शिल्पियों का 'कर्ज' न चुक जाता तब तक वे अंग्रेजों के गुलाम रहते थे। इस काम में हिंदुस्तानी गुमाश्तों से अंग्रेजों को मदद मिलती थी। ये गुमाश्ते अधिकांश में वे भारतीय कारीगर या व्यापारी थे जो कम्पनी के अत्याचारों से पीड़ित होकर और अपने धंधों में

---

३. जयचंद्र विद्यालंकार—वही, पृ० ६८०।

कोई लाभ न देखकर अंग्रेजों के नौकर बन गये थे। भारत का देशी व्यापार समाप्त कर दिया गया था और आन्तरिक एवं बाहरी व्यापार पर कम्पनी ने पूरी तरह अपना अधिकार जमा लिया था।

बोल्ट्स नामक एक अंग्रेज लेखक ने भारतीय कारीगरों की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—"जिस कारीगर की बाबत चोरी से किसी दूसरे का माल बेचते हुए सुना तक जाता था उसे कम्पनी के नौकर अनेक भाँति की यातनाएं देते थे। उन पर न केवल जुर्माने किये जाते बल्कि उन्हें पीटा भी जाता और फिर जेल में ठूँस दिया जाता था। उनका सामान नीलाम करा दिया जाता था। बड़े-छोटे सभी देशी कारीगरों और व्यापारियों के साथ इस प्रकार के दुर्व्यवहार किये जाते थे। ऐसी जबर्दस्तियों से ऊब कर कितने ही जुलाहे अपने अँगूठे कटवा डालते थे, जिससे फिर उन्हें काम करने के लिए बाध्य न किया जा सके।"[४]

इस प्रकार कम्पनी के शासन-काल में खेती तथा अन्य देशी उद्योग-धंधों को अपार क्षति पहुँची। देश में गरीबी और बेकारी बढ़ती गई। राज-नैतिक पराधीनता के साथ आर्थिक शोषण ने भारत की रीढ़ तोड़ दी। प्रत्येक हिंदुस्तानी के विषय मे यह समझा जाने लगा था कि वह 'ईस्ट इंडिया कंपनी की कमाई करने को पैदा हुआ प्राणी है।' अंग्रेज बड़े गर्व से कहते थे कि "हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है, जो गंगा-तट से सब अच्छी चीजों को चूस कर टेम्स-तट पर जा निचोड़ती है।"[५] इस पद्धति का जो परिणाम निकला वह था भारत में लगातार दुर्भिक्ष। ब्रज प्रदेश पूर्वी जिलों की अपेक्षा अधिक उपजाऊ भाग माना जाता था। परंतु यहाँ की जनता भी आये दिन दुर्भिक्ष पड़ने से परेशान हो गई। यद्यपि गंगा-यमुना की नहरें सिचाई और यातायात के लिए निकाली गईं तो भी उनसे स्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ। १८३७-३८ का अकाल ब्रज के लिए अत्यंत भीषण सिद्ध हुआ।

लगभग ४५ वर्षों के कम्पनी के शासन-काल में ब्रज के विभिन्न भागों में अनेक नई इमारतों का निर्माण हुआ। भरतपुर का गंगा-

---

४. बोल्ट्स—कंसीडरेशंस आन इंडियन अफेयर्स, पृ० १९३-९५। विस्तार के लिए देखिए वाजपेयी – भारतीय व्यापार का इतिहास (मथुरा, १९५१), पृष्ठ २९९—३०८।

५. जयचंद्र विद्यालंकार—वही, पृष्ठ ६८३।

मंदिर, जामा मस्जिद, कमरा खास आदि ऐसी ही उल्लेखनीय इमारतें हैं। मथुरा-वृन्दावन में इस काल में कई विशाल मंदिर भारतीय राजाओं तथा अन्य धनी-मानी लोगों द्वारा बनवाये गये।

बिदेशी यात्रियों के वर्णन—१९वीं शती में कई युरोपीय यात्रियों ने ब्रज का हाल लिखा है। बिशप हेबर तथा विक्टर जैकेमांट नामक दो यात्रियों का वर्णन नीचे दिया जाता है। हेबर १८२५ ई० में मथुरा आया। यहाँ के प्रसिद्ध द्वारकाधीश मंदिर के संबंध में उसने लिखा है—"शहर के लगभग बीचोबीच एक सुन्दर मंदिर है, जो निवास-स्थान का भी काम देता है। यह मंदिर हाल में ही बना है और अभी तक पूर्ण नहीं हुआ। सिंधिया के कोषाध्यक्ष गोकुल-पति सिंह ने इसे बनवाया है।.........इमारत का दर्वाजा यद्यपि छोटा है पर बहुत अलंकृत है। उसमें पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। सड़क से सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद चौकोर आँगन मिलता है, जो चारों ओर से घिरा हुआ है। आँगन के बीच में एक चौकोर इमारत है, जो खंभों की तिहरी पंक्ति पर आधारित है। खंभे तथा छत बड़ी सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण एवं चित्रित हैं।[६] बाहर की ओर का पत्थर का कटाव अत्यन्त सुन्दर है......।"[७] हेबर ने अपने लेख में दोतना गाँव का तथा सिर पर घड़ा रखकर नाचने और गाने वाली ग्वालिनों का भी उल्लेख किया है।[८]

जैकेमांट १८२९-३० ई० में ब्रज आया था। उसने इस प्रदेश का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यहाँ की जमीन रेतीली है। खेती के योग्य जो जमीन है उसके आस-पास ऊसर भी बहुत हैं। जमुना नदी में कोई आकर्षण नहीं है। यहाँ के गाँव एक दूसरे से काफी दूर हैं। उनकी हालत बिगड़ती जा रही है। बहुत से गाँवों के चारों ओर मजबूत दीवालें हैं।"[९]

द्वारकाधीश मंदिर के संबंध में यह यात्री लिखता है कि वह ऐसा लगता था मानों एक बैरक हो अथवा रुई का कारखाना हो![१०]

वृन्दावन के संबंध में इस यात्री ने लिखा है कि "यह बहुत ही प्राचीन शहर है और मथुरा से भी अधिक महत्वपूर्ण नगर कहा जा सकता है। हिंदुओं

---

६. खेद है कि यह प्राचीन चित्रकारी अब नष्ट हो गई है।

७. ग्राउज—मेम्वायर, पृ० १४५।

८. ग्राउज वही, पृ० ३४०। यह नृत्य अब भी ब्रज में प्रचलित है; इसका 'चरकला' नामक रूप सबसे अधिक मनोहर है।

९. ग्राउज—वही, पृ० ६८। १०. वही, पृ० १४५।

के जितने बड़े पवित्र तीर्थ हैं उनमें से यह एक है । यहाँ के मंदिरों में बड़ी संख्या में यात्री आते हैं और नदी के किनारे अत्यन्त रमणीक घाटों में पूजा करते हैं । सभी इमारतें लाल पत्थर की बनी हैं, जो आगरा के पत्थर से उम्दा है………। पश्चिमी राज्यों के बहुत से स्वतन्त्र शासक और उनके मंत्री वृन्दावन में नई शैली के मंदिर बनवा रहे हैं। इन मंदिरों में पत्थर की अलंकृत जाली का काम दिखाई पड़ता है । मैंने जितने हिंदू शहर देखे हैं उनमें बनारस के बाद दूसरा नम्बर वृन्दावन का है । वृन्दावन में मुझे एक भी मस्जिद दिखाई नहीं दी । नगर के छोरों पर अच्छे पेड़ों के कुञ्ज हैं, जो कुछ दूर से ऐसे लगते हैं मानों बलुए मैदान के बीच एक हरा-भरा द्वीप हो ।"[११]

कंपनी-राज की समाप्ति—१८५८ ई० में कम्पनी के शासन का अन्त हुआ और भारत इंग्लैंड के शासन की अधीनता में आ गया। इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया भारत की सम्राज्ञी हुई । अपने शासन को दृढ़ बनाने के लिए बृटिश सरकार ने भारत में अनेक 'सुधार' किये । रेल-तार-डाक की व्यवस्था, सड़कों का निर्माण एवं जेल, कचहरी और पुलिस का प्रबन्ध किया गया । शिक्षा के लिए नये ढंग के स्कूल-कालेज कायम किये गये । इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी अनेक परिवर्तन हुए ।

परवर्ती इतिहास—बृटिश शासन-काल में ब्रज प्रदेश पर बाहरी आक्रमणों का भय नहीं रहा और न आंतरिक शासन में ढिलाई रही । शासन की दृढ़ता के लिए ऐसा करना नितांत आवश्यक था । १८६०–६१ तथा १८७७–७८ ई० में जो भीषण अकाल पड़े उनसे यहाँ की जनता को बड़े कष्ट सहने पड़े । १८७४ ई० में १४० मील लंबी आगरा नहर का निर्माण हुआ, जिसके द्वारा दिल्ली, मथुरा और आगरा नगरों को जोड़ दिया गया । इस नहर तथा गंगा की नहर से सिंचाई में काफी सुभीता हुआ । विदेशी शिक्षा-पद्धति तथा युरोप के ज्ञान-विज्ञान के साथ संपर्क में आने से भारत को लाभ भी हुआ । अनेक विचारशील भारतीयों में इस संपर्क के द्वारा नई भावनाओं का उन्मेष हुआ । राष्ट्रीय विचार-धारा के साथ-साथ इन लोगों में अपने देश के इतिहास, पुरातत्व, लोक-जीवन, साहित्य, भाषा-विज्ञान आदि के अन्वेषण की प्रवृत्ति जागृत हुई । भारत के प्राचीन ज्ञान के साथ युरोप के नये विज्ञान का समन्वय करने की बात भी सोची जाने लगी और फिर उसे व्यावहारिक रूप भी प्रदान

---

११. ग्राउज—वही, पृ० १७४–७५ ।

किया गया। इस कार्य में भारतीयों को अनेक विद्वान् युरोपियनों से भी दिशा-निर्देश एवं सहायता प्राप्त हुई।

ग्राउज का महत्वपूर्ण कार्य—बृटिश-काल में मथुरा के अधिकारियों में श्री एफ० एस० ग्राउज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे यहाँ १८७२ से १८७७ ई० तक कलेक्टर रहे। इसके पहले श्री हार्डिंग के समय में वे यहाँ ज्वायंट मैजिस्ट्रेट थे। कुछ ही वर्षों की अवधि में ग्राउज ने जो कार्य किये उनके कारण उनका नाम मथुरा के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने वृन्दावन के प्रसिद्ध गोविंददेव के मंदिर की, जिसकी दशा खराब हो गई थी, मरम्मत करवा कर उसे वह रूप दिया जो आज दिखाई पड़ता है। मरम्मत का काम चार वर्ष से ऊपर में समाप्त हुआ और उसमें ३८,३६५) रु० व्यय हुए। इस मंदिर के अतिरिक्त श्री ग्राउज ने वृन्दावन के जुगलकिशोर, गोपीनाथ आदि अन्य कई प्राचीन मंदिरों की भी मरम्मत करवाई। उन्होंने मथुरा में चौक वाली बड़ी मस्जिद की भी हालत ठीक कराई। सदर में कैथोलिक चर्च की विशाल इमारत बनवाने का श्रेय भी श्री ग्राउज को है।

पुरातत्त्व संग्रहालय—ब्रज के प्राचीन अवशेषों को नष्ट होता हुआ देख श्री ग्राउज ने यहाँ एक पुरातत्व संग्रहालय खोलने का विचार किया, जिसमें सभी प्राचीन सामग्री सुरक्षित की जा सके। सन् १८७४ ई० में उनके प्रयत्नों से कचहरी के पास बनी हुई एक कलापूर्ण इमारत में संग्रहालय की स्थापना की गई और उसमें कला एवं पुरातत्व की उपलब्ध सामग्री संगृहीत की गई। यह संग्रहालय कुछ समय बाद बहुत बढ़ गया। सन् १९२९ ई० में संग्रहालय की विशाल सामग्री को डैम्पियर पार्क में बनी हुई एक बड़ी इमारत में लाकर प्रदर्शित किया गया।

श्री ग्राउज का अन्तिम महत्वपूर्ण कार्य मथुरा के संबंध में एक उपयोगी ग्रंथ का प्रकाशन था। इस विद्वान् लेखक ने मथुरा के इतिहास, कला, धर्म, लोकवार्ता आदि के संबंध में कई अनुसंधानपूर्ण लेख लिखे, जो देश और विदेश की खोज-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। फिर उन्होंने मथुरा के संबंध में एक बृहत् अध्ययनपूर्ण ग्रंथ 'मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' लिखा। इसमें मथुरा जिले का भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा प्रशासकीय विवरण विस्तार से दिया गया है।[१२]

---

१२. इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण १८७४ में, दूसरा १८८० और तीसरा १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ।

ब्रज में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक उत्थान—यद्यपि ब्रजभूमि में विदेशी आधिपत्य की जड़ें मजबूत होगई थीं, तो भी यहाँ राष्ट्रीय आंदोलन की समाप्ति नहीं हुई। मथुरा और वृन्दावन इस काल में भारत के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र थे, जहाँ विभिन्न प्रदेशों के लोग आया-जाया करते थे। इस आवागमन से ब्रज में धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ राष्ट्रीय भावनाओं की भी अभिवृद्धि हुई। ब्रज के अनेक संत-महात्माओं ने भी इसमें योग दिया। इन महात्माओं में स्वामी विरजानंदजी (१७६७–१८६८ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। स्वामीजी न केवल एक विद्वान् संत थे, अपितु वे महान् देश-प्रेमी एवं समाज-सुधारक थे। वे भारत को स्वतंत्र देखना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने अनेक प्रखर शिष्य तैयार किये। ऐसे अनेक शिष्यों ने मरहठा-युद्ध में तथा ब्रज और उत्तरी राजस्थान में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई की। उन्होंने जनता में ज्ञान और जागरण का मंत्र फूँका। विरजानंदजी के प्रमुख शिष्यों में स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४–८३ ई०) का नाम अग्रगण्य है। वे १८६० ई० में मथुरा आये और कई वर्ष तक यहीं रहे।[१३] उन्होंने गुरुजी से न केवल उच्च धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया बल्कि उनके साथ तत्कालीन देश की दुर्दशा पर भी विचार किया और हिंदू धर्म के पुनरुद्धार के लिए अनेक योजनाएं बनाईं। १८६३ ई० में स्वामी दयानंदजी प्रज्ञाचक्षु गुरुवर को यह गुरु-दक्षिणा प्रदान कर मथुरा से गये कि वे अपना सारा जीवन लोक-कल्याण के लिए अर्पित कर देंगे। दयानंदजी ने इस वचन का आजन्म पालन किया। उन्होंने भारत-राष्ट्र, हिंदू समाज तथा हिंदी भाषा के लिए जो महान् कार्य किये उनके कारण स्वामी जी का नाम भारतीय इतिहास में अमर रहेगा। आर्यसमाज की स्थापना, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का आरंभ तथा रूढ़िग्रसित समाज का पथ-प्रदर्शन आदि कुछ ऐसे कार्य थे जिन्होंने भारतीय समाज को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। ब्रज में भी कुछ समय बाद आर्यसमाज और गुरुकुल की स्थापना हो गई। आगे आने वाले राष्ट्रीय आंदोलनों में ब्रज के निवासियों ने बराबर योग दिया।

इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म— जिन महापुरुषों ने इस काल में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योग दिया

---

१३. प्रसिद्ध है कि स्वामी दयानंदजी का निवास मथुरा में पहले विश्राम घाट पर और फिर सतघड़ा मुहल्ले में रहा। बहुत दिन तक वे स्वामीघाट पर ज्योतिषी बाबा के यहाँ भोजन करते रहे।

उनमें दादाभाई नवरोजी, बंकिमचंद्र चटर्जी, राजा राममोहन राय, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालगंगाधर तिलक और स्वामी विवेकानंद के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप भारतीय जनता में जागरण पैदा हुआ। विदेशी सरकार को भय हुआ कि कहीं इन भारतीय विद्वानों और समाज-सुधारकों के कारण १८५७ की पुनरावृत्ति न हो जाय। अतः १८८५ ई० में इटावा के भूतपूर्व कलेक्टर ह्यूम के द्वारा 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना कराई गई। बृटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के उद्देश्य से ही वस्तुतः इस संस्था को जन्म दिया गया।

ब्रज में दुर्भिक्ष—१९वीं शती के अंतिम चतुर्थांश तथा २०वीं शती के प्रारंभ में जो अकाल पड़े उनसे ब्रज की जनता को बड़ा कष्ट मिला। १८७७–७८ ई० का अकाल बड़ा भयंकर हुआ। इस वर्ष केवल ४·३ इंच वर्षा हुई। फसल न होने से अनाज के भाव बहुत चढ़ गये और लोग भूखों मरने लगे। सरकार के द्वारा एक दीन-गृह खोला गया। बेकार लोगों को काम पर लगाने की अनेक योजनाएं बनाई गईं। मथुरा-अछनेरा रेलवे-लाइन का काम आरंभ किया गया तथा मांट की गंगा नहर का विस्तार किया गया। इसी प्रकार कई तालाबों की खुदाई तथा अन्य जनोपयोगी काम शुरू किये गये। परंतु अकाल की भीषणता न रोकी जा सकी। १८७९ ई० में मथुरा जिले में अकाल से मृत्यु का औसत ७१·७३ प्रति मील और अगले वर्ष ७२.२३ प्रतिमील होगया। अकाल एवं संक्रामक ज्वर के फलस्वरूप बड़ी संख्या में लोग मर गये। १८९६-९७ ई० में भारत में जो व्यापक दुर्भिक्ष फैला उसका असर ब्रज पर भी पड़ा। इस दुर्भिक्ष के समय में भी अंग्रेजी सरकार सीमांत के युद्ध में करोड़ों रुपये फूँकती रही। इंग्लैंड से १४ करोड़ रुपये का अन्न मँगवाया गया, परंतु उससे भी पूरा न पड़ा। १९०३-४ तथा १९०७-८ के अकालों से भी ब्रज में बड़ी त्राहि मची और कितने ही मनुष्य और पशु मर गये। लगातार दुर्भिक्ष विदेशी सरकार की शोषण नीति के कारण और भी दुःखदायी बन गये थे। ब्रजभूमि की वनश्री नष्ट किये जाने के कारण यहाँ का पुराना सौंदर्य नष्ट हो चला था। गोचर भूमि को भी खेतों के रूप में परिणत किया जाने लगा था। गोहत्या को मुसलमान शासन-काल में अनेक शासकों ने फर्मान जारी कर बंद करा दिया था। उसे अंग्रेजी राज्य में फिर से चालू किया गया और ब्रज के अनेक स्थानों में बूचड़खाने स्थापित किये गये। इन बूचड़खानों में गोवंश की हत्या होने लगी। ब्रज के निवासियों तथा यहाँ

आये हुए तीर्थ-यात्रियों ने बराबर इस बात का विरोध किया, परंतु यह हत्या बंद न हुई। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जनता और लोकप्रिय नेताओं द्वारा ब्रज-भूमि का यह कलंक दूर किया जा सका।

राष्ट्रीय आंदोलन और ब्रज—१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के बाद जनता में राष्ट्रीय भावना बढ़ने लगी। इस संस्था के वार्षिक अधिवेशन समारोहपूर्वक होते थे। मथुरा में इस समय अध्यापक मोतीरामजी तथा मुंशी अब्दुलहादी ने सराहनीय कार्य किया। मोतीरामजी मथुरा से एक अखबार निकालते थे, जिसमें जनता के कष्टों का विवरण तथा उनके निराकरण के उपाय भी छपते थे। इनके अतिरिक्त पं० जगन्नाथ वकील, कुँवर हुकमसिंह तथा बा० नारायणदास, बी० ए०, ने भी जन-जागृति में बड़ा योग दिया।

जब १६०५ ई० में बंग-भंग संबंधी आंदोलन छिड़ा तब उसमें भी ब्रज के निवासी पीछे नहीं रहे। स्वदेशी को अपनाने तथा विदेशी के बहिष्कार में मथुरा ने भाग लिया। यहाँ के नवयुवकों में एक नई लहर पैदा हुई। आगरा-कालेज में पढ़ने वाले विद्यार्थियों ने एक नेशनल क्लब स्थापित किया, जिसके मंत्री बा० द्वारकानाथ भार्गव बनाये गये। मथुरा में ला० लाजपतराय के ओजस्वी भाषण ने यहाँ की जनता, विशेष कर नवयुवकों, में नया राष्ट्रीय जोश पैदा कर दिया। सर्वश्री लक्ष्मणदास, मास्टर रामसिंह, दयाशंकर पाठक, राधाकृष्ण भार्गव, गंगाप्रसाद वकील, बाबा हरनामदास, ब्रजलाल वर्मन, नंदकुमारदेव शर्मा आदि अनेक निस्वार्थी कार्यकर्ता आगे आये, जिन्होंने अपनी विविध सेवाओं से जनता का विश्वास प्राप्त किया। गोस्वामी गोपाललालजी तथा ज्यो० माधवलालजी ने भी विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का बीड़ा उठा कर रईस-समाज में हलचल पैदा कर दी। लाजपतरायजी के अतिरिक्त मथुरा में दादाभाई नवरोजी, तिलकजी, स्वामी रामतीर्थ, मदनमोहनजी मालवीय तथा सैयद हैदररजा के जो भाषण हुए उनसे यहाँ के निवासियों में बड़ा उत्साह और साहस पैदा हुआ और स्वदेशी आंदोलन प्रबल हो उठा।[१४]

प्रेम महाविद्यालय—१६०६ ई० में मुरसान के दानवीर एवं त्यागी राजा महेंद्रप्रताप ने वृन्दावन में प्रेम महाविद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय के लिए राजा साहब ने वृन्दावन का अपना विशाल भवन तथा पाँच

---

१४. दे० राधेश्याम द्विवेदी—मथुरा जिले की राजनैतिक जाग्रति (जनार्दन, ६ जनवरी, १६४७), पृ० ३।

गाँवों की जमींदारी लगा दी। १९११ ई० में गुरुकुल विद्यालय फरुखाबाद से वृंदावन लाया गया, जिसके लिए राजा साहब ने १५,०००) रु० की भूमि दान में दी। उन्होंने अगले वर्ष से विद्यालय की ओर से 'प्रेम' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसमें शिक्षा के अतिरिक्त राजनीति एवं समाजविषयक विविध उपयोगी लेख प्रकाशित होते थे। कृषि-शिक्षा की उन्नति के लिए राजा साहब ने १९१३ ई० में मथुरा जिले में जटवारी, मझोई, उझियानी और हुमनी गाँवों में चार तथा बुलंदशहर जिले के दो गावों में दो विद्यालय स्थापित किये। महायुद्ध के कुछ पहले राजा महेंद्रप्रताप विदेश चले गये। भारत की स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने अफगानिस्तान, जर्मनी, रूस आदि देशों का भ्रमण किया। बृटिश सरकार द्वारा वे ३० वर्ष से ऊपर के समय तक देश-निष्कासित रहे। उनकी अनुपस्थिति में प्रेम महाविद्यालय का कार्य योग्य राष्ट्र-सेवकों द्वारा चलाया जाता रहा। इस विद्यालय का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का विकास तथा औद्योगिक शिक्षा की उन्नति रहा है। इस दिशा में विद्यालय का कार्य निस्संदेह महत्वपूर्ण है। आचार्य जुगलकिशोर, श्री गिडवानी, बा० संपूर्णानंद, श्री नारायणदास, श्री भगवानदास केला आदि कितने ही देश-सेवक इसमे संबंधित रहे हैं। यह विद्यालय वर्षों तक देश के मान्य नेताओं के आकर्षण का केन्द्र रहा है और यहाँ के अनेक छात्रों ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया है।[१५]

१९१३ ई० बेगार प्रथा का एवं प्रथम विश्वयुद्ध में रँगरूट भर्ती करने का काम शुरू हुआ। उस समय मथुरा में बा० नंदनसिंह गुप्त, ब्रजलाल वर्मन, द्वारकानाथ भार्गव, रामनाथ मुख्तार, सोमदेव आदि ने इसके खिलाफ आवाज उठाई। कुली प्रथा के विरोध में भी ब्रज में अनेक सभाएं की गईं। विरोधियों में अन्य नेताओं के अतिरिक्त बा० मूलचंद तथा जयनारायणसिंह थे। १९१७ ई० में पं० हृदयनाथ कुँजरू आदि ने मथुरा में होमरूल लीग (स्वशासक संघ) की स्थापना की। इसके संबंध में ब्रज के विभिन्न स्थानों में प्रचार-कार्य किया गया।

सेवा-समिति की स्थापना—३० दिसंबर, १९१७ ई० को मथुरा में सेवा-समिति की स्थापना हुई। इसके प्रथम सभापति श्री द्वारकानाथ भार्गव

---

१५. विस्तार के लिए देखिए चिंतामणि शुक्ल—वृन्दावन के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास (वृन्दावन, १९५३), पूर्वार्ध, पृ० ८, उत्तरार्ध, पृ० ४–६, ७१–७५; तथा मथुरा जनपद का राजनीतिक इतिहास, द्वितीय खण्ड।

हुए। इस संस्था ने आगे चलकर राष्ट्रीय एवं सामाजिक हित के अनेक कार्य किये। मुख्य कार्यकर्ताओं में सर्वश्री द्वारकानाथ भार्गव, ब्रजलाल वर्मन, गंगाप्रसाद, रामनाथ मुख्तार, मा० रामसिंह, मदनमोहन चतुर्वेदी, आनंदीप्रसाद चौबे, गो० राधाचरण, पुरुषोत्तमलालजी, गो० छबीलेलाल, रणछोरलाल, कुँजबिहारीलाल, ब्रजगोपाल भाटिया, लक्ष्मणप्रसाद वकील तथा केदारनाथ भार्गव के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी प्रेरणा के फलस्वरूप कितने ही अन्य उत्साही कार्यकर्ता प्रकट हुए। गोवर्धन इलाके की भीषण बाढ़ तथा १९१८-१९ ई० की भयंकर इन्फ्लुएंजा महामारी से पीड़ितों की रक्षा करने के जो कार्य सेवासमिति के द्वारा किये गये वे ब्रज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

क्रांतिकारी हलचलें—विदेशी सरकार की दमन नीति के कारण देश के अन्य भागों की तरह ब्रज में भी क्रान्तिकारी हलचलों का प्रारंभ हुआ। १९१९ ई० में क्रान्ति के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगे। इसका मुख्य कारण रौलट बिल था, जिसके द्वारा भारतीय जनता की स्वतन्त्रता छीनने का उपक्रम रचा गया था। ६ अप्रैल को मथुरा में इस बिल के विरुद्ध बहुत बड़ी हड़ताल की गई। इस पर यहाँ के कई नेताओं का चालान कर उन पर मुकदमा चलाया गया, परंतु अंत में सबूत के अभाव में वे छोड़ दिये गये। मथुरा में स्वतन्त्रता की जो आग प्रज्वलित हुई वह विदेशी शासन द्वारा बुझाई न जा सकी। ब्रज मंडल की राजनैतिक क्रान्ति का मथुरा नगर प्रधान केन्द्र बन गया। १९१९ ई० के जलियाँवाला बाग-कांड से मथुरा में बड़ी उत्तेजना फैल गई और इसके विरोध में एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया। इसी वर्ष गांधी पार्क (पुरानी कोतवाली) में होमरूल लीग की जोरदार बैठक की गई।

गांधी-युग—१९२० ई० से महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत में असहयोग आन्दोलन ने जोर पकड़ा। कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में अंग्रेजी विधान-सभाओं, अदालतों, स्कूल-कालेजों तथा विदेशी उपाधियों एवं वस्त्रादि का बहिष्कार करने का निश्चय किया गया। अब कांग्रेस का ध्येय 'शान्तिमय और उचित उपायों द्वारा स्वराज प्राप्त करना' हो गया। गांधी जी की पुकार पर सरकारी स्कूल-कालेजों के बहुत से विद्यार्थी पढ़ाई छोड़ असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गये। विदेशी कपड़ों को इकट्ठा कर उनकी होली जलाई जाने लगी। मथुरा, आगरा, वृंदावन, अड़ींग, कोसी, अलीगढ़ तथा ब्रज के अन्य कितने ही स्थानों में इस असहयोग आन्दोलन ने जोर पकड़ा। मथुरा से 'ब्रजवासी' समाचार-पत्र निकाला गया। अन्य समाचार-

पत्रों—प्रेम, नवजीवन, सैनिक, प्रताप, भारत आदि—ने भी स्वतंत्रता की भावना उद्दीप्त करने में बड़ा कार्य किया। मास्टर रामसिंह मिशन स्कूल की अध्यापकी छोड़ कर राष्ट्रीय कार्यों में पूरी लगन से जुट गये। उनका अनुकरण अन्य कितने ही लोगों ने किया। कितने ही छात्र सरकारी स्कूलों को त्याग कर आन्दोलन-कार्य में लग गये। स्वयंसेवकों के दल राष्ट्रीय झंडा लिये और गांधी जी की जय बोलते हुए सड़कों एवं सार्वजनिक स्थानों में जाते थे। अंग्रेज सरकार ने दमन का कठोर चक्र चलाया और असहयोगियों को सजा द्वारा तथा अन्य सब प्रकार से कुचलने की व्यवस्था की, परंतु इससे आंदोलन घटने के बजाय बढ़ता ही गया। जनता में राष्ट्रीय भावनाएं इतनी प्रबल थीं कि मथुरा के फ्रीमेंटल–जैसे कलेक्टर के कठोरतम अत्याचार भी उन्हें विचलित न कर सके। मथुरा के नवयुवकों ने 'राष्ट्रीय बालमंडल' नामक संस्था का प्रारम्भ किया, जिसकी हलचलों से अधिकारी लोग डरते थे।

१० मार्च, १९२२ ई० को महात्मा गांधी गिरफ्तार किये गये और उन्हें छह वर्ष की सजा दी गई। इससे देश भर में क्षोभ फैल गया। कुछ दिन बाद असहयोग आन्दोलन दब गया। प्रेम महाविद्यालय ने इस समय राजनैतिक क्षेत्र में बड़ा कार्य किया। आचार्य गिडवानी के नेतृत्व में इस विद्यालय की अधिक प्रगति हुई। महात्मा गांधी, पं० मोतीलाल नेहरू, ला० लाजपतराय, डा० अंसारी आदि विभूतियों के विद्यालय में आगमन से उसका गौरव और भी बढ़ा और वह ब्रज की राष्ट्रीय हलचलों का एक प्रमुख केन्द्र बन गया।

१९३० ई० का स्वतंत्रता-संग्राम—ब्रज में १९३० ई० का स्वातंत्र्य-संग्राम बड़ा व्यापक रहा। इसी साल यहाँ नमक सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। इस सत्याग्रह में ब्रज के अनेक देशभक्तों ने भाग लिया; कितने ही प्रमुख कार्यकर्ता गिरफ्तार किये गये। इन लोगों को कठोर कारागार की यातनाएं सहनी पड़ीं। विदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं के बहिष्कार का कार्य जारी रहा और इस कार्य के लिए मथुरा में एक 'बायकाट दफ्तर' बनाया गया, जिसमें ज्यो० राधेश्याम द्विवेदी, श्री गोपालदास सेठ, श्री कैलाशनाथ चतुर्वेदी आदि ने प्रशंसनीय कार्य किया। १९३० के सत्याग्रह के केन्द्र ब्रज के गाँवों में भी फैल गये थे।

मथुरा में १९३० तथा उसके बाद के आन्दोलनों में जिन राष्ट्र-सेवकों ने प्रमुख भाग लिया उनमें हकीम ब्रजलाल जी, श्री कामेश्वरनाथ, आचार्य जुगलकिशोर, डा० श्रीनाथ भार्गव, श्री केदारनाथ भार्गव, श्री रामशरण जौहरी,

श्री रामजीदास, श्री शिवशंकर उपाध्याय, प्रो० कृष्णचंद्र, ठा० तारासिंह, श्री द्वारकाप्रसाद वत्सल, श्री बसंतकुमार चक्रवर्ती, श्री निरंजनप्रसाद, श्री सात्वकी शर्मा तथा श्री लक्ष्मीरमण आचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मथुरा की अनेक महिलाओं ने भी राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेकर अपने को अमर कर लिया। इन महिलाओं में आचार्य जुगलकिशोर की पत्नी श्रीमती शान्ति देवी, श्रीमती नारायणबाला देवी, बहन गोदावरी देवी, श्रीमती चंद्रावली देवी, श्रीमती मनोरमा देवी, ब्रह्मचारिणी शांतिदेवी आदि के नाम अग्रगण्य हैं। आगरा जिले के पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, सेठ अचलसिंह, श्री बाबूलाल मीतल और पं० बैजनाथ; भरतपुर के श्री जुगलकिशोर चतुर्वेदी तथा अलीगढ़ जिले के श्री ज्वालाप्रसाद जिज्ञासु, ठा० मलखानसिंह, श्री शेरवानी तथा मा० अनंतराम ने एवं एटा, मैनपुरी आदि जिलों के भी कई प्रमुख कार्यकर्ताओं ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में सराहनीय कार्य किया।

१६३० ई० में गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप आन्दोलन कुछ समय के लिए शान्त हो गया। परंतु अगले साल लार्ड विलिंगटन के आने पर पुनः स्थिति बदल गई। इसी साल लंदन की गोलमेज कान्फ्रेन्स में गांधी जी गये, परंतु वहाँ कोई अनुकूल समझौता न हो सका। उनके भारत लौटने पर ४ जनवरी, १६३२ ई० को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इससे देश भर में आन्दोलन और दमन-चक्र का पुनः आरम्भ हो गया। मथुरा जिले में अनेक कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने खुले आम विरोध करना शुरू कर दिया। इस पर सर्वश्री केदारनाथ भार्गव, श्रीनाथ भार्गव, मा० रामसिंह, राधामोहन चतुर्वेदी, चिंतामणि शुक्ल आदि अनेक कार्यकर्ता गिरफ्तार किये गये। इस आन्दोलन में काशी विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने भी ब्रज में कार्य किया। १६३२ में प्रेम महाविद्यालय को एक विशेष कानून द्वारा जब्त कर लिया गया। मथुरा के बाहर अलीगढ़, दिल्ली, प्रयाग आदि स्थानों में ब्रज के अनेक कार्यकर्ता गये, जहाँ उन्होंने बड़ी लगन के साथ काम किया। १६३३-३४ ई० के हरिजन-आन्दोलन में भी ब्रजभूमि ने महत्वपूर्ण योग दिया। हरिजन-उद्धार के कार्य को व्यवस्थित रूप से करने के लिए मथुरा में एक 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई। वृंदावन, राया आदि स्थानों में भी हरिजन उद्धार के लिए आन्दोलन आरम्भ किये गये। विदेशी शासन द्वारा भारत के अनेक स्थानों में साम्प्रदायिक विद्वेष उभाड़ने के प्रयत्न हुए, परंतु ब्रजभूमि में यह चाल बहुत दिन तक सफल न हो सकी और यहाँ १६४७ ई० तक कोई उल्लेखनीय साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं हुआ।

१९३४ ई० में केंद्रीय एसेम्बली के चुनाव में कांग्रेस ने भाग लेने का निश्चय किया। चुनाव लड़ा गया और उसमें ब्रज से पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल विजयी हुए। इस चुनाव के सिलसिले में सरदार बल्लभभाई पटेल तथा श्री भूलाभाई देसाई भी ब्रज में पधारे। १९३५ ई० में कांग्रेस की स्वर्ण-जयंती मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन, सादाबाद, बलदेव, सोंख तथा अन्य स्थानों में बड़ी धूमधाम से मनाई गई। १९३७ ई० के प्रान्तीय चुनावों में भी बहुमत से कांग्रेस की विजय हुई। ब्रज में रचनात्मक कार्यक्रम के लिए परखम-आश्रम की स्थापना तथा गोवध-निरोध-आन्दोलन भी इस काल की उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। १९४०-४१ ई० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी ब्रज के बहुसंख्यक लोगों ने भाग लिया। इन देशभक्तों को विभिन्न अवधि के लिए जेल तथा जुर्माने की सजा द्वारा दंडित किया गया।

१९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन—भारतीय इतिहास में १९४२ की देशव्यापी क्रान्ति एक महत्वपूर्ण घटना है। महात्मा गान्धी के नेतृत्व में भारतीय जनता ने इस महान् क्रान्ति में भाग लेकर अपने त्याग और राष्ट्रप्रेम का परिचय दिया। ८ अगस्त को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव की स्वीकृति के पश्चात् एक बड़े आन्दोलन का आरम्भ हुआ। ९ अगस्त को महात्मा गान्धी तथा कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की गिरफ्तारी के बाद देश में व्यापक क्षोभ फैल गया। जनता विदेशी सत्ता को समूल नष्ट करने पर तुल गई। देश में जगह-जगह सरकारी इमारतों तथा रेल-तार आदि यातायात के साधनों को नष्ट करने की योजनाएँ कार्यान्वित की जाने लगीं। ब्रज के मुख्य केंद्र मथुरा नगर तथा अन्य स्थानों में नवयुवकों की टोलियों ने तोड़-फोड़ का कार्य शुरू कर दिया। ९ अगस्त से लेकर २८ अगस्त तक यहाँ क्रान्ति की लपटें फैली रहीं। विदेशी शासन ने क्रान्तिकारियों को कठोरता के साथ गिरफ्तार करना आरम्भ कर दिया। वृंदावन में २८ तारीख को लक्ष्मण नामक वीर क्रांतिकारी शहीद हुआ। अन्य अनेक लोग भी वृंदावन गोलीकांड में घायल हुए। सर्वत्र दमन का ताण्डव नृत्य दिखाई पड़ने लगा। अगस्त का अंत होने पर बड़ी क्रूरता से शान्ति स्थापित की जा सकी। इसके बाद जबर्दस्ती जुर्माने वसूल किये जाने लगे। इसी समय भयंकर मलेरिया का प्रकोप हुआ, जिसके कारण वृन्दावन तथा अन्य स्थानों में जनता को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति—१९४४ ई० में महात्मा गान्धी तथा अन्य नेताओं को जेल से मुक्त किया गया। बृटिश सरकार की ओर से अब सभी

प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों को देखकर भारत को स्वतंत्र करने की बात चलाई जाने लगी। १९४६ ई० में इंग्लैंड से जो कैबिनेट मिशन आया उसने इस संबंध में अपनी योजना प्रस्तुत की। गंभीर विचार-विनिमय के बाद १५ अगस्त, १९४७ ई० का दिन भारत को स्वतन्त्र करने का दिवस निश्चित किया गया। यह स्वतन्त्रता भारत को अनगिनत बलिदानों के बाद प्राप्त हुई। अंग्रेज चलते-चलते इस देश को साम्प्रदायिक ज्वालाओं में जलता हुआ छोड़ गये और इस महान् देश के दो टुकड़े कर विदा हुए!

मेवों का झगड़ा—विदेशी सरकार की साम्प्रदायिक नीति के फलस्वरूप अंत में व्रज भी पारस्परिक झगड़ों से न बच सका। स्वतन्त्रता के लिए घोषित तिथि से कुछ मास पूर्व मथुरा, भरतपुर, अलवर तथा गुड़गाँव में निवास करने वाले मेवों को भड़काया गया। साम्प्रदायिक विद्वेष के इस प्रकार उभड़ने का फल अच्छा नहीं हुआ। मेवों के विरोध में व्रज के जाट, अहीर, गूजर आदि लोग खड़े हो गये। कोसी के समीप कामर नामक स्थान में तथा गाँठौली, नौगाँवा, डीग, नगर आदि स्थानों में भयंकर मारकाट हुई। अंत में अधिकांश मेव अपने स्थानों को छोड़ कर अन्यत्र चले गये और तभी झगड़ा शान्त हो सका। व्रजभूमि के इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि साम्प्रदायिक कटुता का इतने भीषण रूप में प्रदर्शन हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब स्थिति सँभली तब बहुत से मेव-परिवारों को पुनः अपने स्थानों पर लाकर बसा दिया गया। बृटिश शासन की समाप्ति से व्रजभूमि के निवासियों में साम्प्रदायिक कटुता और कलह की भी समाप्ति हो गई और विभिन्न धर्मों और सिद्धान्तों के अनुयायिओं में उसी प्रकार मिलजुल कर रहने की भावना बढ़ी जिस प्रकार वे शताब्दियों पहले से रहते आये थे।

अध्याय १४

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात्

१५ अगस्त, १९४७ ई० का दिन ब्रजभूमि ही नहीं, सारे भारत के इतिहास में एक महान् दिवस हुआ। इसी दिन एक लंबी अवधि की दासता से छूट कर भारतवासियों को स्वतंत्रता के उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने का मौका मिला। अन्य प्रदेशों की तरह ब्रज की जनता में भी इस दिन असीम उल्लास था। ब्रजवासियों में १५ अगस्त को इतना अधिक आह्लाद था जितना संभवतः कंस के उत्पीडन से छुटकारा पाने के समय में भी न रहा होगा। स्थान-स्थान पर तिरंगा झंडा लहराने लगा, दीपमालिकाएं सजाई गईं और छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी के हृदय एक नये आनंद और उत्साह से तरंगित हो उठे। शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद ब्रज की जनता ने अपने को स्वतंत्र नागरिक के रूप में पाया। १५ अगस्त उसके लिए बंधन-मुक्ति का, निर्माण का और नवीन चेतना का संदेश लाया। स्वतन्त्र भारत के इतिहास में इस दिन का महत्व निस्संदेह सर्वोपरि रहेगा।

ब्रज में शरणार्थियों का आगमन—परंतु इस मुक्ति-दिवस के साथ हृदय को दहलाने वाली घटनाएं भी जुड़ गईं। ये घटनाएं देश को दो भागों में विभाजित करने का परिणाम थीं। पश्चिमी पंजाब से हिंदू तथा पूर्वी पंजाब से मुसलमान बड़ी संख्या में स्थानांतरित हुए। साम्प्रदायिक संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण जो भयंकर मारकाट और धन-जन की बर्बादी पंजाब तथा कुछ अन्य प्रदेशों में हुई वह हृदय-विदारक है! पंजाब, सीमाप्रान्त और सिंध के बहुत से विस्थापित लोग उत्तर प्रदेश में आ बसे। मथुरा, वृन्दावन तथा ब्रज के अन्य स्थानों में बड़ी संख्या में ये शरणार्थी लोग आकर आबाद हुए। प्रदेश की जनप्रिय कांग्रेस सरकार द्वारा उनके लिए समुचित व्यवस्था की गई। शरणार्थियों के प्रश्न के अतिरिक्त द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५ ई०) के कारण महँगाई आदि की जो विकट समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं उनका बड़े धैर्य और साहस के साथ शासन द्वारा सामना किया गया। इन समस्याओं के सुलझाने में जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। ३० जनवरी, १९४८ ई० को महात्मा गान्धी की दिल्ली में हत्या कर दी गई, जिससे सारे भारत के साथ

ब्रज प्रदेश भी शोक में निमग्न हो गया। राष्ट्रपिता की भस्मी ब्रज में भी लाई गई और यहाँ यमुना के पवित्र जल में विसर्जित की गई।

मत्स्य राज्य का निर्माण—भारत के स्वाधीन होने के बाद देश के विभिन्न रजवाड़ों में भी स्वतंत्रता की लहर तेजी से उठी। कई रजवाड़े १९४७ ई० में ही भारत में मिल गये। देश के तत्कालीन गृहमंत्री सरदार बल्लभभाई पटेल ने बड़ी कुशलता और दूरदर्शिता से भारत के कई छोटे-छोटे राज्यों को मिला कर उनके संघ बना दिये। १७ मार्च, १९४८ ई० को भरतपुर, अलवर, धौलपुर और करौली को मिला कर मत्स्य राज्य की स्थापना की गई। इस नये राज्य के अधिकारियों ने जनता की भावनाओं के अनुरूप विविध क्षेत्रों में अनेक आवश्यक सुधार किये। बाद में राजस्थान का बड़ा प्रदेश निर्मित होने पर मत्स्य राज्य को भी उसी के अंतर्गत कर दिया गया।

नया संविधान और निर्वाचन— २६ जनवरी, १९५० ई० को भारत का नया संविधान स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार भारत को एक गण-राज्य घोषित किया गया। इस गणराज्य की भाषा हिन्दी मान्य हुई।

नये संविधान के अनुसार १९५१-५२ ई० में केन्द्रीय तथा प्रादेशिक विधान सभाओं के लिए निर्वाचन हुए। उत्तर प्रदेश तथा अन्य कई प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत आया और उन प्रदेशों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हुए। निर्वाचनों के बाद डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति तथा पं० जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधान मंत्री हुए। उत्तर प्रदेश में पं० गोविंदवल्लभ पन्त की अध्यक्षता में कांग्रेसी मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। ब्रज प्रदेश से कई जन-सेवक केंद्रीय लोकसभा तथा प्रादेशिक विधान-सभाओं के लिए निर्वाचित हुए।

वर्तमान ब्रज में छोटी-मोटी राजनैतिक हलचलें जारी हैं। इस समय यहाँ जिस संगठन का प्राधान्य है वह कांग्रेस है। अन्य प्रमुख राजनैतिक दल प्रजा समाजवादी, जनसंघ, रामराज्य-परिषद् तथा साम्यवादी हैं।

'ब्रज प्रांत' के निर्माण का प्रश्न—१९५४ ई० के प्रारंभ में उत्तर प्रदेश के विभाजन का प्रश्न सामने लाया गया। प्रादेशिक विधान-सभाइयों की भी एक बड़ी संख्या द्वारा इसका समर्थन किया गया। कुछ लोगों ने यह सुझाव रखा कि प्रदेश के दो भाग किये जायँ और पश्चिमी भाग का नाम 'ब्रज प्रदेश' रखा जाय। उस नये प्रदेश में उत्तर प्रदेश के ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्र के अलावा राजस्थान के उस भाग को भी मिलाने की बात कही गई जो कुछ

दिन पहले 'मत्स्य राज्य' कहलाता था। परंतु नव प्रान्त-निर्माण का यह आन्दोलन आगे न बढ़ सका। अनेक प्रभावशाली नेताओं तथा ब्रज की प्रमुख साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था ब्रज साहित्य मंडल के द्वारा उत्तर प्रदेश के टुकड़े करने का विरोध किया गया। मंडल ने कुछ लोगों की इस माँग को भी असामयिक बताया कि उत्तर प्रदेश की आगरा, मेरठ और रुहेलखंड कमिश्नरियों के जिले वर्तमान दिल्ली राज्य के साथ मिला दिये जायँ। उत्तर प्रदेश प्राचीन 'मध्यदेश' का विकसित एवं संगठित रूप है और वर्तमान परिस्थितियों में उसके किसी भाग को भाषा के आधार पर अलग करना वाञ्छनीय नहीं प्रतीत होता।

ब्रज का नवनिर्माण—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ब्रज में राजनैतिक चेतना के विकास के साथ उसके आर्थिक एवं सांस्कृतिक नवनिर्माण की ओर भी शासन और जनता का ध्यान गया है। जमींदारी-उन्मूलन नई भूमि-व्यवस्था, सिंचाई और यातायात के साधनों में सुधार, गाँवों में पंचायतराज का पुनर्गठन, हरिजन-उद्धार आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जिनसे जनता की आर्थिक एवं सामाजिक दशा में सुधार हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओं में जीवन-स्तर को ऊँचा करने एवं वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के विविध उपाय हैं, जो कार्यान्वित किये जा रहे हैं। संत विनोबा भावे द्वारा प्रचारित भूदान-यज्ञ में ब्रज प्रदेश का क्रियात्मक योग रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से ब्रजभूमि का स्थान भारत में बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन प्राचीन साहित्य में तथा यहाँ आये हुए विदेशी यात्रियों के लेखों में मिलता है। ब्रजकी वनश्री की रक्षा की ओर स्वतन्त्र भारत की लोकप्रिय सरकार का ध्यान जाना स्वाभाविक था। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने संवत् २०१० (१९५३ ई०) की जन्माष्टमी के पावन पर्व पर गिरिराज गोवर्धन में वन-महोत्सव का श्रीगणेश किया। गोवर्धन पर्वत के चारों ओर यात्रा-पथ के किनारे छायादार वृक्ष लगा दिये गये हैं; साथ ही गोविंद कुन्ड—जैसे सांस्कृतिक स्थानों को पुष्पित वृक्षावलियों से सुशोभित किया गया है। मथुरा-वृन्दावन सड़क पर तथा ब्रज के अन्य अनेक स्थानों पर भी वृक्ष लगाये गये हैं। ब्रज-मंडल के अनेक प्राचीन वनों को बृटिश शासन-काल में काट कर समाप्त कर दिया गया था। कुछ कदम-खंडियाँ ब्रज के प्राचीन वनों की स्मृति आज भी सँजोये हुए हैं। इनके संरक्षण का तथा नये वृक्षों के लगाने का कार्य शासन

श्री अखंडानंद सरस्वती के द्वारा १५ अक्टूबर, १६५३ ई० के दिन जन्म-स्थान पर श्रमदान का श्रीगणेश किया गया और उस दिन से यह कार्य उत्साहपूर्वक आगे बढ़ाया गया। मथुरा नगर के अनेक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और विद्यार्थियों ने जन्मस्थान पर श्रमदान का कार्य किया। उनके उद्योग से इस भूमि का रूप बहुत-कुछ सुधारा जा सका और 'कृष्ण-चबूतरा' तथा उसके आस-पास की भूमि पर विविध उत्सवों और समारोहों के लिए सुगमता हो सकी। ब्रज साहित्य मंडल द्वारा पिछले कई वर्षों से इस स्थान पर श्रीकृष्ण-मेले का आयोजन सफलतापूर्वक किया जा रहा है।

भारत के राजनैतिक इतिहास में ब्रज का जो गौरवपूर्ण स्थान रहा है उसका परिचय पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। सांस्कृतिक क्षेत्र में ब्रजभूमि ने जो महान् योग दिया उसका विवरण प्रस्तुत ग्रंथ के अगले खंड में दिया जायगा।

परिशिष्ट

प्राचीन यादव वंश-तालिका

[अंक पीढ़ियों के सूचक हैं]

पौराणिक विवरणों के आधार पर पार्जीटर ने अपने ग्रंथ 'एंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' में विभिन्न प्राचीन राजवंशों की तालिकाएं तैयार की हैं। उनमें से यादव वंश-वृक्ष यहाँ दिया जाता है—
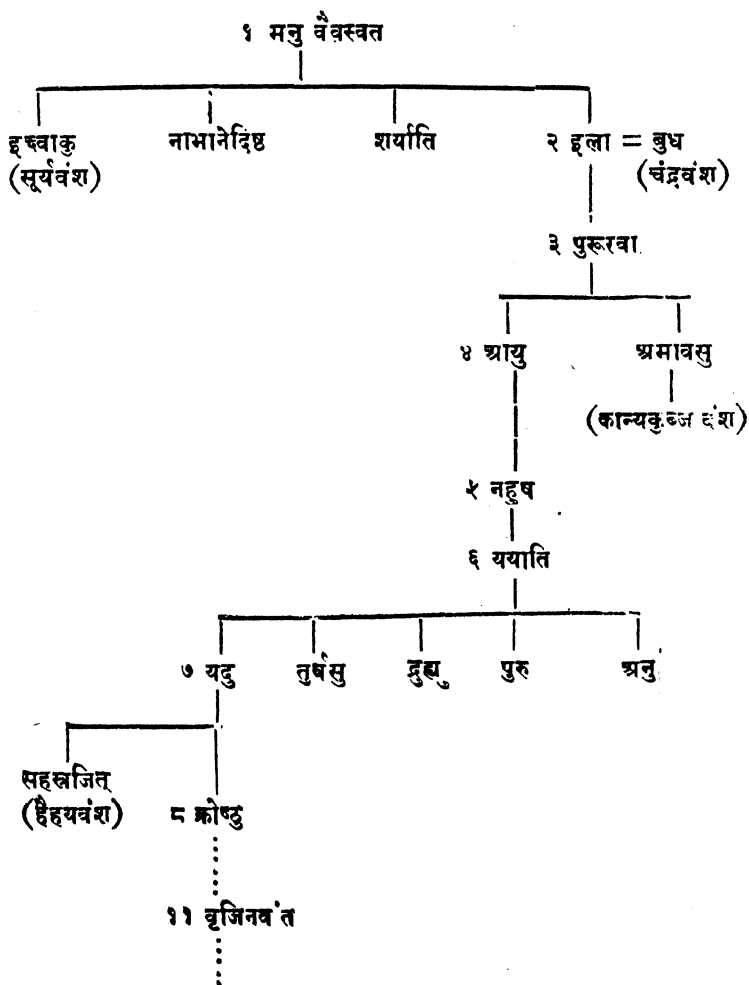
१४ स्वाहि
⋮
१७ रुशद्गु
⋮
१९ चित्ररथ
⋮
२० शशबिंदु
|
२१ पृथुश्रवस्
|
२२ अंतर
⋮
२४ सुयज्वा (या सुयज्ञ)
⋮
२६ उशनस
⋮
२८ शिनेयु
⋮
३० मरुत्त
⋮
३२ कम्बलबर्हिस्
⋮
३४ रुक्मकवच
⋮
३६ परावृत
⋮
३८ ज्यामघ
⋮
४० विदर्भ
|
४१ क्रथभीम
|
४२ कुन्ति
|
४३ धृष्ट
|

४४ निवृंति
|
४५ विदूरथ
|
४६ दशार्ह
|
४७ व्योमन्
|
४८ जीमूत
|
४९ विकृति
|
५० भीमरथ
|
५१ रथवर
⋮
५३ दशरथ
|
५४ एकदशरथ
|
५५ शकुनि
|
५६ करम्भ
⋮
५८ देवरात
|
५९ देवक्षेत्र
|
६० देवन
|
६१ मधु
|
६२ पुरुवश
|
६३ पुरुद्वंत
|
६४ जंतु या अम्शु
|
६५ सत्वंत
|

६६ भीम सात्वत
भजिन भजमान
देवावृध
६७ अंधक
वृष्णि
६६ कुकुर
७३ वृष्णि
७७ कपोतरोमन्
८० विलोमन
८३ नल (या पल)
८६ अभिजित्
८६ पुनर्वसु
६१ आहुक
युधाजित्
प्रश्नि
श्वफल्क
अक्रूर
देवामिदुष
शूर
वसुदेव
देवक
(देवकी आदि ७ कन्याएं)
६२ उग्रसेन
६३ कंस
बलराम
६४ कृष्ण
सुभद्रा
६५ प्रद्युम्न, साम्ब आदि
६६ अनिरुद्ध
६७ वज्र
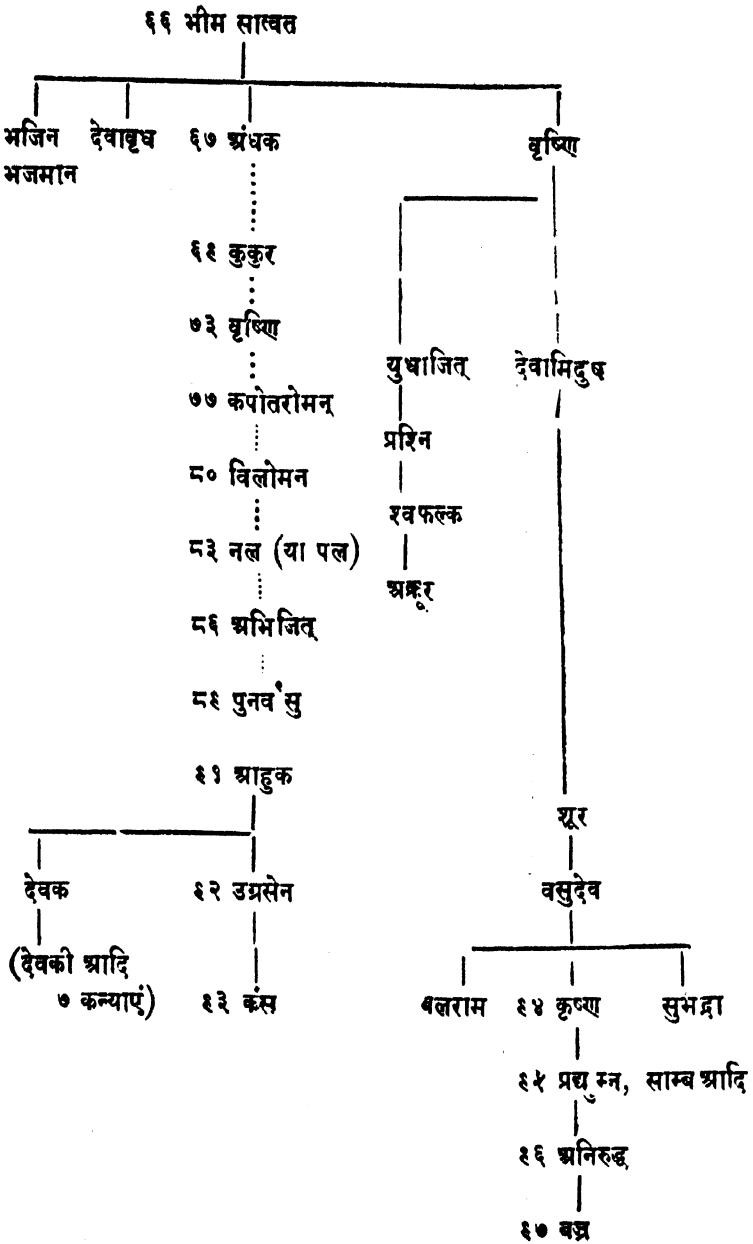
पुस्तक में प्रयुक्त संकेत-सूची

अ० = अध्याय

अथर्व० = अथर्ववेद

आर्के० = आर्केओलॉजिकल

ई० = ईस्वी

उत्तर० = उत्तर कांड

उपनि० = उपनिषद्

काठक सं० = काठक संहिता

छांदोग्य० = छांदोग्य उपनिषद्

जि० = जिल्द

ज़ि० = ज़िला

दे० = देखिए

पद्म० = पद्मपुराण

(इसी प्रकार अन्य पुराण-नाम भी समझे जायँ)

पु० = पुराण

पृ० = पृष्ठ

ब्रह्म० = ब्रह्मपुराण

ब्रह्मवै०, ब्र० वै० = ब्रह्मवैवर्त

ब्रा० = ब्राह्मण

भा० = भारतीय

भाग० = भागवत

मनु० = मनुस्मृति

महाभा० = महाभारत

रघु० = रघुवंश

रामा० = रामायण

सं० = संस्करण

हरि०, हरिवंश० = हरिवंशपुराण

हर्षच० = हर्षचरित

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१३	कन्नौज	कनौज
२	२२	हस्थिनापुर	हस्तिनापुर
३	२३	हारिक	हारिकं
१०	२०	मझिमनिकाय	मज्झिमनिकाय
१३	१३	बदाऊंनी	बदायूंनी
१६	१४	बढ़े	बढ़े
१८	२	द्वारिका	द्वारका
२१	२८	३८	३ – ८
३२	१५	मृतिका	मृत्तिका
३८	१२	ससझा	समझा
४५	२१	महभिनिष्क्रमण	महाभिनिष्क्रमण
६०	२०	त्तर	उत्तर
६०	२३	१ (फुटनोट)	२
१००	अंतिम	स्वततंत्रता	स्वतंत्रता
१३२	फुटनोट १४	इन पावर	पावर इन
१८१	अंतिम	दशा को न बिगड़ती हुई	बिगड़ती हुई दशा को न
१८३	२४	कुंभेर	कुम्हेर

नामानुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

घ

च

छ

ज

झ

ट

ध